सब
एक जगह

पहली जिल्द

लेखक की अन्य रचनाएं

* उपन्यास

काला जल
सांप और सीढ़ी
पत्थरों में बंद आवाज
फूल तोड़ना मना है

* कहानी

बबूल की छांह
डाली नहीं फूलती
छोटे घेरे का विद्रोह
एक से मकानों का नगर
युद्ध
शर्त का क्या हुआ
बिरादरी
सड़क पार करते हुए

* संस्मरण

शाल वनों का द्वीप



नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नयी दिल्ली-११०००२

शानी

सब एक जगह

पहली जिल्द

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं

चौड़ा रास्ता, जयपुर

३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

मूल्य : ५५.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / सर्वाधिकार : लेखकाधीन / प्रथम संस्करण : १९८२ / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-११००५३ में मुद्रित।

[30-9-12-182-1/N]

SAB EK JAGAH–I (Stories) by Shaani Rs. 55.00

राजेन्द्र यादव के लिए

सिलसिला

आत्म-कथ्य

किसी छोटे-से कस्बे में अमरूद का एक पेड़ था, जिसके नीचे चट्टान जैसा भूरा पत्थर पड़ा हुआ था। उस पर एक दिन एक औरत बैठी रो रही थी।

वह एक बहुत बड़े हवेलीनुमा मकान का सामंती अहाता था। जिसकी दीवार के किनारे-किनारे लगे जमीकंद के पौधे धूप में अक्सर चिलचिलाया करते थे।

पता नहीं, वह दिन का कौन-सा वक्त था। पांच या छह बरस का मैं अपनी मां को ढूंढ़ता हुआ उस औरत के पास जा पहुंचा था और बेंत से उधड़ी हुई उसकी पीठ देखते ही उसकी गोद में मुंह छिपाकर मैं अचानक रोने लगा था। न तो मैंने कुछ पूछा था और न उसने कुछ बताया था, लेकिन फिर भी मेरी आंखों के आगे अपने अब्बा का रौबीला और गुस्सैल चेहरा उभर आया था। मैं अब्बा से बहुत डरता था। वह औरत भी डरती थी, लिहाजा हम दोनों एक-दूसरे से चिपटकर खूब रोए और देर तक रोते रहे।

वह औरत मेरी मां थी ! एक हैसियतदार और रियासती पठान अमीर की छोटी बहू और अब्बा के हरम की दूसरी बेगम। एक ऐसी शरीके-हयात,

जिसे बहुत जल्द उस हरम से बाहर होना था। कई साल बाद वह मरी, तो बिल्कुल अकेली थी। हममें से किसी ने उसका मुंह नहीं देखा।

शालवनों से घिरी और शंखिनी नाम की एक शोख नदी के किनारे बसी वह छोटी-सी तहसील एक तरह से गांव थी—सरकारी अफ़सरों और मातहतों का गांव। अंधेरा होते ही वहां रात हो जाती थी और आसपास का सारा वीरान जंगल काली पहाड़ियों और ऊंचे-ऊंचे पेड़ों में घुलकर ऐन हमारे क्वार्टर की छत पर झुक आता था।

हर रात बेहद लंबी होती और जितनी लंबी होती, उतनी ही सूनी भी। वह अजीब वीरानगी थी, जो ताड़ के पत्तों के शोर, चट्टानों पर शंखिनी नदी की अनवरत पछाड़ खाती आवाज और रेतीले कगार के टूटते छपाकों से घटने की बजाय बढ़ती और दहशत पैदा करती थी।

मैं दस साल का था।

आबाई मकान और पुश्तैनी कस्बा हम पीछे छोड़ आए थे और पिछली अमीरी रिवायात भूलने की कोशिश कर रहे थे। जिन अदालतों में हमारे दादा-जान मुख्तार की तरह जाते थे, अब वहां अब्बा एक मामूली पेशकार होकर काम कर रहे थे। न वह हवेलीनुमा घर रहा था, न वह हरम और न वे बेगमें। सरकारी और किराए के घर में शरीफ बीबी के बदले एक हसीन औरत बैठी हुई थी—अब्बा की वह दाश्तां, जिसके लिए खान घराने की छोटी बहू या मेरी मां कभी की हरम से बाहर हो चुकी थी और हम लोगों के लिए जैसे मर-खप गई थी।

वह हसीना हमारे घर कोई तीन बरस रही। तीन बरस तक हमारा घर समाज से यों कटा रहा, जैसे हम बिरादरी-बाहर हों। उन तीन बरसों में न तो हमारे यहां कोई आता था और न हम कहीं जाते थे। यही नहीं, उस एक घर में भी जैसे दो दुनिया थीं—एक अब्बा की और दूसरी हमारी। दरअसल, बड़ी आपा, मैं और छोटी बहन, हम तीनों बच्चों का एक सहमा हुआ और यातना-मय संसार था, जिसमें हमारे अब्बा कभी नहीं आते थे और कभी आते भी तो सिर्फ दहलीज तक। आपा मुझसे कोई चार बरस बड़ी थीं। हर लम्हा खामोश और कुछ सोचती हुई। असल में, वह सोचती कम, नफरत और गुस्से से खौलती ज्यादा थीं। मैं ज्यादातर सहमा हुआ रहता था—हर पल चौकन्ना, कुछ-न-कुछ सूंघता और टटोलता हुआ जैसे किसी नामालूम-सी तलाश में रत होऊं। इस तलाश में कई गुना बेचैनी तब बढ़ जाती थी, जब अब्बा अदालत से घर लौट चुकते थे और खासकर तब, जब वह रात गए उस दाश्तां के साथ अपने कमरे में बंद होते थे और वहां की हर चाही-अनचाही आवाज हमारे कमरे में भटक आती थी।

एक ऐसी ही रात जब मेरी तलाश खत्म हुई तो झूमते हुए ताड़ के पत्तों का शोर, चट्टानों पर पछाड़ खाती शंखिनी नदी की आवाज और रेतीले कगारों के टूटते छपाके कई गुना भयावने होकर मेरे भीतर कहीं बहुत गहरे बैठ गए।

मैं अचानक बड़ा हो गया था !

हाई स्कूल की एक क्लास थी। शिक्षा विभाग के कोई बड़े अफसर स्कूल की जांच के लिए आए थे। बारी-बारी से क्लास के हर लड़के से उसका नाम, पिता का नाम, पेशा और खासकर यह पूछा जा रहा था कि उसके जीवन की महत्त्वाकांक्षा क्या है, या कि वह क्या बनना चाहता है।

आज से बीस बरस पहले जगदलपुर और भी छोटा और मरियल-सा कस्बा था। कालेज की वहां कल्पना भी नहीं थी। बड़े घरों के लड़के ऊंची तालीम के लिए बी० एच० यू०, इलाहाबाद या अलीगढ़ जाया करते थे। मेरे लिए अलीगढ़ तो अलीगढ़, रायपुर या सागर जाना भी दुश्वार था। बाहर जाकर पढ़ने के लिए जितने पैसे हर माह चाहिए थे, उतनी अब्बा की तनखाह थी। वैसे भी मैं स्कूल भिजवाया या पढ़ाया जा रहा था, इसलिए नहीं कि आगे चलकर मुझे कुछ बनना है, बल्कि इसलिए कि मैं अनपढ़ न रह जाऊं।

अपनी बारी आने पर मैं सहम गया, क्योंकि मैंने कभी इस तरह सोचा भी नहीं था। न तो मैं क्लास में अद्वितीय या घोंटू छात्र था और न मेरा कोई वैसा भविष्य ही था। डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, मजिस्ट्रेट या फौजी अफसर से अलग और बिल्कुल अलग मैं कुछ बनना जरूर चाहता था, लेकिन क्या, यह मैं खुद भी नहीं जानता था।

"पता नहीं, सर !" मैंने धीरे से जवाब दिया।

"खूब," उस अफसर ने सारी क्लास को संबोधित करते हुए हंसकर अंग्रेजी में कहा, "भई, अपने दोस्त मियां गुलशेर खान से मिलो। कहते हैं कि उनके जीवन में कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है। क्या सब्जेक्ट्स लिए हैं ? खूब, खूब··· क्यों मियां, क्या मेल-नर्स बनोगे ?"

चालीस लड़कों का एक मिला-जुला ठहाका था और क्लास की छत से टकराकर सब-का-सब, एकदम मेरे भीतर उतर गया था।

वह आवाज, इतने वर्षों बाद आज भी मेरे भीतर बाकी है।

वह पटरे पर बैठी थी। मेहंदी रची हथेलियों में अपना मुंह छिपाए और अपने ही उठे घुटनों पर झुक कर दोहरी होती हुई वह लड़की शर्म के मारे जैसे

धनुपाकार हो गई थी—बिल्कुल दुल्हन जैसी गठरी !

मेरी छाती धौंकनी की तरह उठ-बैठ रही थी, धड़कनें तेज थीं, थके हुए घुटने कांप रहे थे और आवाज गले में खुश्क हो रही थी। मैंने उस संबोधन से उसे पुकारा था जो अब हमारे बीच केवल रस्मन या आदतन रह गया था।

वह उसी तरह मुंह छिपाए बैठी रही, बोली नहीं। फिर पुकारा, फिर वह नहीं बोली तो मैंने उसका सिर उठाया और हथेलियों में छिपे हुए उसके शर्मसार चेहरे को धीरे-धीरे खोला। देखा कि पीठ की ओर ढलकी हुई गरदन पर खिला हुआ उसका चेहरा फूलजासनी हो रहा है और बंद पपोटे धीरे-धीरे थरथरा रहे हैं···

मैं वहां से चला आया।

वह मेरी प्रेमिका थी ! मुझसे उम्र में पांच बरस बड़ी और एक विवाहिता स्त्री, जिसका पति भी था और बच्चा भी और हमारा रिश्ता सामाजिक दृष्टि से ऐसा वर्जनापूर्ण था कि ऐसी परिणति घोर अनैतिक थी। मेरे लिए यह और भी, क्योंकि मैं तब अच्छा और नेक लड़का था—सौ फीसदी मजहबी और जन्नती !

मैं नहीं जानता था कि यह परिणति ही उस प्रेम का अंत है। फिर अंत प्रेम का ही नहीं हुआ, और भी बहुत-से नाजुक, खूबसूरत और इंद्रधनुषी लगने वाले भ्रमपूर्ण डोरों का भी हुआ, जिन्होंने मेरे सारे व्यक्तित्व को रेशमी गिलाफ-सा पहना रखा था। यह पहला और जबरदस्त मोहभंग था। यह स्वीकार करना आसान नहीं था कि जो किताबों में है, जिंदगी उससे बिल्कुल मुख्तलिफ है और जो जिंदगी है, उसका किताबों में दूर-दूर तक कहीं कोई पता नहीं !

दरअसल, मेरी अकेली यात्रा या तलाश का आरंभिक बिंदु यही था, क्योंकि जब आप सबके साथ होते हैं तो अपने साथ नहीं होते और जिस दिन आप अपने साथ हो लेते हैं, बाकी सबसे कट जाते हैं। इसी अपराध-भार, अकेलेपन, अंतर्द्वंद्व, संदेह और तलाश में मैंने चुपचाप कलम उठा ली थी और किसी को कानों-कान पता नहीं था।

मैं लेखक बन गया था। क्योंकि यही मेरी नियति थी। मैं और कुछ हो भी नहीं सकता था। आंतरिक तनावों, दबावों, हीन भावनाओं और अनेक ग्रंथियों का शिकार मैं शायद ऐसे ही एक मंडवे की तलाश में था जिसमें मैं अपने को छिपा सकूं। लेखन मेरे लिए वैसा ही शरणस्थल था। मेरे सामने न तो कोई सामाजिक उद्देश्य था और न किसी प्रकार की प्रतिबद्धता। मैं तत्कालीन किसी सामाजिक या राजनीतिक आंदोलनों से भी परिचित नहीं था। और न किसी

सामाजिक अन्याय ने मुझे लेखन की ओर प्रेरित किया था। लिखना मेरे लिए नितांत व्यक्तिगत, निजी और गोपन यंत्रणाओं से मुक्ति और कुछ तंग करने वाले प्रश्नों से जूझने का माध्यम था और आज भी है।

मेरी रचनाएं इलाहावाद और वनारस की कुछ प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपने लगी थीं। कुछ प्रशंसाएं मिली थीं। पत्र आने लगे थे और मुझे हलके से अपनी विशिष्टता का एहसास होने लगा था। यह अच्छा और बुरा दोनों था, क्योंकि जहां इसने रहे-सहे एकाध दोस्तों से काटकर सारे कस्वे में मुझे अकेला कर दिया था, वहीं मुझे यह अवसर भी दिया कि मैं अपनी छोटी-सी दुनिया गढ़ कर उसमें डूव जाऊं। वह दुनिया थी मेरा छोटा-सा कमरा, जिसमें अक्सर सिर्फ धनंजय वर्मा आया करता था।

जिस जगह की कोई सांस्कृतिक परंपरा न हो, जहां साहित्यकार तो साहित्यकार, ढंग का साहित्य भी न आता हो, जहां टुटरू-टूं एक ही रियासती लाइब्रेरी हो और उसमें भी वावा आदम के जमाने की अनपढ़ी किताबें भरी हों, वहां आदमी लेखक भले वन जाए, साहित्यकार होने का सपना कितना दुखदायी हो सकता है, इसे कम लोग समझ पाएंगे। खासकर मेरे जैसे आदमी के लिए जो हाई स्कूल के वाद एक सहकारी संस्था में किरानीगिरी या क्लर्की कर रहा था और जिसने किसी भी कॉलेज या विश्वविद्यालय का अहाता भी नहीं देखा था। मुझे उन सब दोस्तों से ईर्ष्या थी जो मुझे कस्वे में छोड़कर ऊंची शिक्षा के लिए वाहर के वड़े शहरों को चले गए थे और आगे वढ़ते चले जा रहे थे—धनंजय वर्मा भी उनमें से एक था।

तव मुझे एहसास भी नहीं था कि अनजाने ही मैं एक दौड़ में शामिल हो गया हूं—एक ऐसी साहित्यिक दौड़ में, जिसमें इलाहावाद, वनारस, आगरा और दिल्ली जैसे शहरों के मुझसे दस गुना सक्षम, समर्थ और साधन-संपन्न लोग भाग ले रहे हैं। मेरी स्थिति एक ऐसे प्रतियोगी की तरह थी जो दौड़ने के लिए तैयार खड़े साथियों की अपेक्षा दस फुट नीचे गड्ढे में खड़ा था। लिहाजा मेरी आधी शक्ति ऊपर आने की कोशिश में ही जाया हो रही थी।

इलाहावाद की यात्रा एक ऐसी ही कोशिश थी।

स्कूल के जमाने में ही मैंने प्रेमचंद, यशपाल, अमृतलाल नागर, जैनेन्द्र और अज्ञेय वगैरह को पढ़ रखा था। कुछ वाद में मैंने उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यास पढ़े। आज भी मुझे हैरानी होती है कि अश्क के उपन्यास—**गिरती दीवारें** और **गर्म राख** पढ़कर मैं कैसे अभिभूत हो गया था। अपनी कच्ची जहनियत और अपरिपक्वता के कारण अज्ञेय, जैनेन्द्र या यशपाल या तो मेरी समझ के वाहर थे या फिर शायद अश्क के सतही विवरणात्मकता वाले, कलाहीन और 'स्किन डीप' उपन्यास मेरी तत्कालीन मानसिकता और सूझ-बूझ के निकट

पड़ते थे। जो हो, अश्क जी से पत्राचार, मेरी इलाहाबाद यात्रा, अश्क जी से भेंट, उनकी बहुचर्चित जिंदादिली, और इलाहाबाद में कुछ बड़े लेखकों के साथ गुजारे हुए दिनों का अनुभव, यह सब लंबी चर्चा का विषय है और यहां अप्रासंगिक भी।

लौटा तो मेरे नाखूनों में भरी हुई मिट्टी काफी उतर चुकी थी।

उन दिनों भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में निकलने वाली **कहानी** की बड़ी धूम थी। कई दृष्टियों से यह पत्रिका ऐसी थी कि उसने सारे साहित्य-जगत का ध्यान खींच रखा था। **कहानी** के कई ऐतिहासिक विशेषांक निकले थे और सौभाग्यवश मेरी पहली कहानी **कहानी** के ऐसे ही विशेषांक में छपी थी। तब **कहानी** में एक बार भी छपना हिंदी-जगत में परिचय के लिए काफी था। मैं गुमनामी की जिंदगी से धीरे-धीरे बाहर आ रहा था। तभी नीलाभ प्रकाशन से मेरा पहला कहानी-संग्रह **बबूल की छांव** छपकर आया और मैं सहसा 'साहिबे-किताब' बन गया!

आज सोचता हूं तो लगता है कि जिस अश्क-संसर्ग को मैं अपनी जिंदगी की सुखद और सौभाग्यपूर्ण घटना समझ रहा था, वह मेरी साहित्यिक जिंदगी की सबसे बड़ी भूल थी। इस भूल का खमियाजा मुझे बहुत दिनों तक अदा करना पड़ा।

अश्क की तकलीफ यह है कि दुनिया इनके इर्द-गिर्द क्यों नहीं घूमती और मेरी तकलीफ यह है कि अपने लेखकीय संघर्ष का बहुत मासूम और आरंभिक समय मैंने अश्क से संबद्ध करके साहित्यिक जगत में अपनी वह वैयक्तिक तस्वीर रखी जो मैं बिलकुल नहीं हूं। और जिसे मिटाने में मुझे बरसों लग गए।

कोई स्पष्ट कारण नहीं होता, लेकिन कुछ यादों के साथ भीतर कहीं अचानक रक्तपात होता है—ग्वालियर की याद बदकिस्मती से मेरे लिए ऐसी ही है।

यों मैंने जगदलपुर से ग्वालियर जाने का स्वागत किया था। उस सुदूरवर्ती कोने में पड़े हुए और सब-कुछ से कटे-छंटे कस्बे से मुक्ति, जैसे अपने भौगोलिक, मानसिक और अनुभव-संवेदना के सीमित क्षितिज से बाहर आना था। बावजूद जिम्मेदारियों के नये बोझ के, मुझे यह अच्छा लगा और मैं खुश था।

अभी थोड़े ही दिन हुए थे। अभी मैं ऐतिहासिक नगरों में सहसा पहुंचने के सम्मोहन में बंधा हुआ था। आसमानी पहाड़ियों, पारदर्शी जल और नाहद्दे—

नजर सब्जा-जार देखने की आदी आंखों ने अभी कांटेदार छोटी-छोटी झाड़ियों, ऊंट जैसे बदशक्ल और बदरंग मिट्टी के ढूहों और मुहकमा जंगलात के मैले और फटे हुए तंबू जैसे आकाश से समझौता भी नहीं किया था कि दो छोटी-छोटी बड़ी घटनाएं हो गई थीं।

वह एक सरकारी पत्र के सह-संपादकों का कक्ष था और मेरी तीसरी नौकरी थी। मैं अपने और अपने परिवार के लिए एक रिहायशी मकान की तलाश में था और दफ्तर के कई साथियों ने मेरी सहायता के झूठे-सच्चे वादे कर रखे थे। मित्रों को मैं रोज कोंचा करता था। उन्हें भी याद दिलाया। वह उसी रियासती सरदार परिवार से संबद्ध, ग्वालियर के खानदानी बाशिंदे और एक महाराष्ट्रियन सज्जन थे।

"मिल जाएगा," वह तसल्ली देते हुए बोले, "जल्द ही दिला दूंगा।"

"शुक्रिया," मैंने कहा था, "लेकिन सुनिए, एक बात याद रखोगे ? मकान जहां तक हो सके, मुस्लिम मोहल्ले में न हो तो बेहतर होगा।"

सरकारी दफ्तरों में इनीशियल्स चलते हैं। मेरे भी थे। लेकिन मैं शानी के नाम से ही जाना जाता था। मुझे यह बिल्कुल पता नहीं था कि वह मेरे पूरे नाम से परिचित नहीं हैं। मुस्लिम मोहल्ले में मकान न लेने की बात मैंने इसलिए कही थी कि मैं घोर धार्मिक वातावरण और कट्टरपंथी माहौल से दूर रहना चाहता था।

"क्यों ?" उन्होंने चौंकते हुए पूछा, "मान लें, अगर वैसे ही मोहल्ले में मकान मिल गया तो क्या बुराई है ?"

कहकर एकाध पल वह मुझे घूरते रहे। फिर मेरे कान के पास झुकते हुए और मुझे पूरी तरह कॉन्फिडेंस में लेकर वह धीरे से बोले, "सुनिए, डरने की कोई बात नहीं। आप बिल्कुल मत डरिए। यहां साले मियां लोगों को इतना मारा है, इतना मारा है कि अब तो उनकी आंख उठाने की हिम्मत नहीं रही···"

चाहे इसकी और इस जैसी दो-तीन घटनाओं की प्रतिक्रिया थी या संयोग, मकान आखिर मुझे मिला भी तो एक घोर मुस्लिम मोहल्ले में और मैंने कोई आपत्ति नहीं की। वह एक बाड़ा था, जिसमें चार-छह मकानात थे और ऐन हमारी दहलीज से मस्जिद का जीना शुरू होता था।

नये घर में तीसरी या चौथी सुबह जब बाहर का दरवाजा खुला तो मैंने देखा कि हमारी चौखट के पास गाय का गोश्त और कुछ हड्डियां फैलाई गई हैं···

यह सिर्फ शरारत नहीं थी, मोहल्ले के कुछ उत्साही लड़कों के द्वारा विरोध और गुस्से का प्रदर्शन था ताकि मैं मकान छोड़कर भाग जाऊं।

विरोध इस बात का कि मकान-मालिक ने मोहल्लेदारी की परंपरा और उसूल के खिलाफ 'साहनी साहब' नाम के किसी पंजाबी को मकान क्यों दे रखा है। खासकर इसलिए भी कि बाड़े की मस्जिद का जीना उसी काफिर की दहलीज से होकर जाता था और वह खानए-खुदा की तौहीन थी।

खुदा और सनम, दोनों को मैं पीछे छोड़ आया था। घोर नास्तिक न सही, मैं सौ-फीसदी संदेहवादी बन गया था और जाहिर है कि संदेह या तर्क का इस्लाम में कभी कोई मौका नहीं होता। मेरा घर धर्म या संस्कार नहीं, संस्कृतिगत अर्थों में मुस्लिम था और वह आज भी है।

मैंने ऐसे माहौल में होश संभाला था जहां धर्म, नैतिकता की तरह, व्यक्ति और समाज, दोनों का बिल्कुल जाती मामला था और जहां भाग्यवश सांप्रदायिकता की बू तक नहीं पहुंची थी। शायद इसीलिए कि एक अरसे तक मैंने इस पर सोचा भी नहीं था। फिर जब सोचा तो हैरानी है कि अपने को हमेशा अलग करके क्यों सोचा? ऐसे मानो, मैं इसकी जद में न तो आता हूं और न कभी आऊंगा। मुझे ग्वालियर का शुक्रगुजार होना चाहिए कि उसने मुझे यह भी सबक की तरह समझाया।

वे पाकिस्तान से युद्ध के दिन थे—पहले युद्ध के! मैं जीवन में पहली बार ब्लैक-आउट, खतरे का तनाव, युद्ध की रोंगटे खड़े करने वाली खबरों के बीच से गुजर रहा था, वह पथरा देने वाला एहसास था कि जो कुछ हो रहा है, वह इतिहास के पन्नों या फिल्मों में नहीं, सचमुच हो रहा है! यहीं, मेरे आस-पास, अभी और इसी वक्त! आम लोगों को देख-सुनकर यह विश्वास करना कठिन था कि वे मुर्गे से तीतर की नहीं, आदमी से आदमी की लड़ाई की बात कर रहे हैं, उसके पीछे देशगत अभिमान, चिंता या पीड़ा नहीं, रेस के मैदान में खड़े तमाशबीन का जोश और उत्साह था—ऐसे जैसे उनका कहीं कुछ भी दांव पर न लगा हो। मेरी ट्रेजेडी यह थी कि युद्ध ने मुझे खामोश और उदास कर रखा था, न तो मेरे मन में तमाशबीनों जैसा जोश और उत्साह था और न युद्ध में रस लेने वाली मुखरता। अगर यह सब न होता और मेरी जेब में उफनती हुई राष्ट्रीयता और देश-प्रेम का झुनझुना होता तो भी काफी होता, लेकिन बदकिस्मती से वह भी नहीं था, अगर आप भारतीय मुसलमान हैं और चाहते हैं कि आपकी बुनियादी ईमानदारी पर शक न किया जाए तो यह झुनझुना बहुत जरूरी है। मैंने देखा है कि इसका असर आपके हिंदू दोस्तों के कानों पर नहीं, उनकी जबान पर होता है।

ग्वालियर आने से पहले मैंने कभी नहीं सोचा था कि पढ़े-लिखे हलकों में

भी आदमी की कौमियत, वल्दियत, जात और क्षेत्र को देखा तथा पूछा जाता है, और कई वार आदमी या उसके साहित्य का मूल्यांकन इन्हीं प्रश्नों से किया जाता है। साहित्य संबंधी उदाहरण है मेरी कहानी **एक कमरे का घर** जिस पर कुछ दिनों तक सांप्रदायिक होने का विवाद चला था, मुझे आश्चर्य हुआ था और तकलीफ भी। अव कुछ नहीं होता। याद आता है कि इलाहावाद की दूसरी यात्रा में अश्क जी ने कहा था, "यार, तुम तो बड़े तेज निकले ! इतने दिनों में तुमने यह भी मालूम नहीं होने दिया कि तुम्हारा असली नाम क्या है ? वो तो मुझे..."

मैं चौंका और हैरान होकर उन्हें देखने लगा।

"उससे क्या फर्क पड़ जाता ?" मैंने पूछा।

"पड़ता तो नहीं, लेकिन मालूम होना चाहिए था।"

"आपने पूछा कव था ?"

"नहीं पूछा होगा, लेकिन तुम भी तो वता सकते थे।"

"कोई ऐसा जिक्र नहीं आया," मैं वोला, "फिर जरूरत भी क्या थी ?" मुझे याद नहीं कि उनसे जवाव क्या मिला था, अब याद रखने की जरूरत भी नहीं रही। मैं जानता हूं कि उनका जवाव सच नहीं था और जो सच था, उसे अश्क या उनके हमख्याल लोग, चाहे वे लेखक ही क्यों न हों, प्रगतिशीलता की ओट छिपाते हैं।

संघर्ष एक ऐसा चपटा, चालू और घिसा हुआ शब्द है—रंडी की तरह—कि अपने संदर्भ में इसका उपयोग करते हुए मुझे हमेशा हिचक और शर्म-सी महसूस होती है। संघर्ष कौन नहीं करता ? जीते रहने का दूसरा नाम भी शायद यही है, लेकिन हां, वदकिस्मती से एक लेखक पर इसकी मार दोहरी जरूर होती है। व्यक्ति की तरह जीवित रहने का संघर्ष वह आम आदमियों की तरह तो करता ही है, अगर वह रोजाना अखबार की सुर्खियों से समस्या उठाकर लिखने वाला हंसी-मजाक का लेखक या चुटकुलेवाज नहीं है, तो लेखन अपने-आप में एक निरंतर चलने वाला संघर्ष है। जिस दिन यह संघर्ष खत्म होता है, लेखक मर जाता है।

आज से सात साल पहले ग्वालियर से भोपाल आकर जव मैंने सुकून की सांस ली थी, तब मुझे विल्कुल पता नहीं था कि मैं दस वरस पुरानी नौकरी छोड़ दूंगा, एक विल्कुल नयी जिंदगी की शुरुआत के लिए। और न उसके साल-भर पहले वापस भोपाल लौटते हुए मुझे यह पता था कि संघर्ष की वह विल्कुल नयी शुरुआत है। मैंने स्वतंत्र लेखक की तरह जीना चाहा था, वह

मुझसे नहीं चला। नौकरी से बचने के लिए मैंने प्रकाशन का काम शुरू किया था, छह माह के भीतर मेरी सांस उखड़ गई और मैं पटियों पर आ गया। दरअसल, यह सारा संघर्ष बाहरी नहीं भीतरी होता है—आपके व्यक्ति और लेखक का संघर्ष, जिसमें एक दूसरे को खा जाना चाहता है। मेरी ट्रेजेडी एक औसत भारतीय लेखक की ट्रेजेडी थी। मैं अपने और अपने परिवार के लिए बेहतर जिंदगी चाहता था और यह भी नहीं चाहता था कि लेखक न रहूं—बस, तकलीफ इतनी-सी थी और आज भी है!

सत्रह वर्ष की उम्र की किरानीगिरी से लेकर आज अड़तीस की अवस्था में मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के सचिव के पद तक की यात्रा कड़वे-तीते अनुभवों की यात्रा तो है ही, दिलचस्प भी है। इसी तरह एक स्थानीय पत्र में प्रकाशित पहली कहानी से लेकर आठ-दस पुस्तकों के लेखक बन जाने या अपने उपन्यास **काला जल** के सोवियत रूस में प्रकाशन तक का रास्ता सीधा-सपाट नहीं था। इसमें अनेक भटकाने वाले मोड़ आए और कई अंधी गलियों से मुझे गुजरना पड़ा।

लेकिन हां, वैयक्तिक अनुभव बिल्कुल मेरे अपने हैं। जैसे वे सिर्फ मेरे लिए ही हों। मेरी अब तक की जिंदगी संवेदना और व्यावहारिक सूझ-बूझ के स्तर पर भूलों, तज्जनित तकलीफों और फिर उन्हीं भूलों को बार-बार दुहराने का इतिहास रहा है। मैंने बहुत-से सही काम गलत वक्त पर किये और पछताता रहा। शायद मेरी जिंदगी शीराजा-बिखरे एक उस किताब की तरह रही है, जिसके पन्ने जिल्दसाज की भूल से गलत-सलत बंध गए हों। इस किताब का पहला पन्ना पचासवें पृष्ठ से शुरू होता है और आरंभिक पृष्ठ कहीं बीच में चले आते हैं। और ऐसा न होता तो मैंने बहुत-से शरीफ शहरियों और कई लेखक मित्रों की तरह पहले पढ़ाई की होती, फिर अच्छी नौकरी, फिर लेखकी, फिर प्रेम, फिर शादी और फिर लेखकी। और अच्छे शहरीपन को वसूल करता हुआ धीरे-धीरे बूढ़ा होना। ऐसा कभी नहीं होता कि पढ़ाई के दिनों में नौकरी और नौकरी के दिनों में पढ़ाई। पहले लेखक बना होता और बाद में अपनी जिंदगी की ओर ध्यान देता या पहले शादी की होती और बाद में प्रेम···

यह बे-राहरवी कुछ तो हालात की देन है और कुछ मेरी अपनी, जिसके तहत मैंने कई नौकरियां कीं, छोड़ीं और फिर कर लीं। पहले अभाव, फिर घोर मुफलिसी, फिर नवाबों जैसी ऐयाशी और फिर के मुफलिसी के मैंने ऐसे दिलचस्प उतार-चढ़ाव देखे हैं कि अब आने वाले कल से बहुत ज्यादा डर नहीं लगता। गर्दिश कुछ तो हालात की होती है और कुछ अपनी पैदा की हुई—मेरी ज्यादातर गर्दिश अपनी ही पैदावार थी, क्योंकि मेरा सिर्फ यही दोष है कि मैं लेखक था और लेखक ही बने रहना चाहता हूं।

व्यक्ति और लेखक का यह आंतरिक संघर्ष आज भी वना हुआ है। मैं लेखक को जीतता हुआ देखना चाहता हूं। चाहता हूं कि पिछले सव-कुछ को भूलकर फिर एक शुरुआत करूं, लेकिन वकौल गालिव :

रौ में है रख्शे-उम्र[1] कहां देखिए थमे,
न हाथ वाग पे है, न पा है रकाव में !

लेकिन नहीं, यह वात गलत सावित हुई कि मैं एक शुरुआत फिर करना चाहता हूं।

यह मैंने कोई सात वरस पहले भोपाल से लिखा था। 'सारिका' के 'गर्दिश के दिन' के अंतर्गत छपने के लिए। उसे छपे एक जमाना हो गया। तव मैं समझता था कि भोपाल मैं नही छोड़ूंगा। लगता था कि मेरा वैयक्तिक संघर्ष समाप्त हो गया है या जल्द ही हो जाएगा और तव शायद मैं जमकर या एकाग्र होकर लिख सकूंगा। मैंने सोचा भी नहीं था एक दिन एक झटके से भोपाल छूट जाएगा—विल्कुल दूसरी दुनिया की शुरुआत के लिए। अव मैं दिल्ली में हूं, यह सोचता हुआ कि अगर मुझे यहीं आना था तो दस वरस पहले क्यों नहीं आ गया ?

ये कहानियां

मेरी पहली कहानी सन् १९५७ के आसपास छपी थी। अव वाईस साल हो गए। इस वीच वहुत-सा पानी सिर पर से गुजर गया लेकिन मैं वहीं खड़ा हूं जहां से चला था। कोई साठ-पैंसठ कहानियां लिखी होंगी—ज्यादा से ज्यादा सत्तर। उनमें से चुनी हुई और मेरी महत्त्वपूर्ण कहानियों की यह पहली जिल्द है—**सव एक जगह**। कहानियों की अंतर्निहित दुनिया को इसी नाम से पुकारना शायद ज्यादा सार्थक होगा।

यह सिर्फ संयोग नहीं है कि कुछ कहानियों को छोड़कर मेरी अधिकांश कहानियां विभाजन-वाद के भारतीय मुस्लिम समाज के भय, अंतर्विरोधों, तकलीफों, आंतरिक यातना और विसंगतियों की कहानियां हैं। लगभग वीस वरस पहले इसी वर्ग की मेरी कहानी से 'जली हुई रस्सी' लेकर नवीनतम कहानी 'विरादरी' तक की यात्रा का जायजा लेते हुए मुझे लगता है जैसे मोटे तौर पर मेरी रचना के तीन पड़ाव हों, अपनी तरह के तीन शिफ्ट लिए हुए। हालांकि साथ में यह भी लगता है कि भाववभूमि की दृष्टि से आज मैं जहां खड़ा हूं वह तो मूलतः वही है जिसकी यात्रा मैंने 'जली हुई रस्सी' से अनजाने ही आरंभ

१. उम्र का घोड़ा।

कर दी थी। आज मैं ज्यादा गहरे विश्वास के साथ काम कर रहा हूं और करते रहना चाहता हूं कि सच्ची रचनाकारिता के लिए कथानक ज्यादातर अपने आसपास और अपने ही वर्ग में देखे जाने चाहिए।

वैसे भी इस बात की जरूरत आज पहले से कहीं ज्यादा है कि ऊपर-ऊपर से लिए हुए भोले विश्वास पर संदेह करने वाली यह छानबीन जातीय संवेदनाओं और वर्णगत संस्कारों तक गहराई से की जाए। व्यक्तिगत रूप से जहां तक मैं समझता हूं—अपने सारे आधुनिकीकरण के बावजूद हममें बहुत-कुछ ऐसा बचा रह जाता है जो घर, समाज, धर्म और इतिहास हमें विरासत में सौंपकर चुपचाप आगे बढ़ जाते हैं और जिनकी जड़ों की गहराई का कई बार हमें ही पता नहीं होता। ताज्जुब है कि उनके तात्कालिक संदर्भ जहां हमें चेतन रूप से परेशान कर रहे होते हैं वहीं दूसरी ओर अनजाने में वे ही परिचालित भी करते हैं। यह एक अजीब, मारक लेकिन फितरी जद्दोजहद होती है। आप उसी से लड़ते हैं जो आपकी शक्ति होती है क्योंकि यही और यही विडंबना शायद मानवीय नियति है।

—शानी

साहित्य अकादेमी
रवीन्द्र भवन, नयी दिल्ली-११०००१
२५ अक्तूबर, १९८१

सब
एक
जगह

आईना

बीच वाले कमरे में आते ही आंगन में बिखरी धूप अहमद की आंखों में यों चमककर भर गई जैसे किसी ने आईना चमका दिया हो। यूं भी अहमद मियां की आंखें पूरी तरह खुल नहीं पाई थीं और वह विस्तर छोड़कर उठ गए थे। उन्हें गुमान भी न था कि इतनी तेज धूप चढ़े आज वह सोते रहेंगे। नींद-भरी आंखों को धूप की चमचमाहट से बचाने के लिए वह दरवाजे के पास से हटकर एक ओर हो गए और आंखों और शरीर में स्फूर्ति आने की प्रतीक्षा करने लगे।

कमरे का दरवाजा वरामदे की ओर खुलता था और उससे लगा ही बावर्चीखाना है। वहां से उठा-पटक और बर्तनों की आहट सुनकर अहमद मियां ने अनुमान लगाया कि उनकी बहू—रशीद की दुल्हन—नाश्ता बनाने में लगी होगी। बरामदे में कोई एक-दो लोगों के बात करने की आवाज मिल रही थी। उन्होंने अपनी बीवी की आवाज पहचान ली। एक दुखभरी लंबी सांस के साथ यह सुनाई दिया—"बस, जिधर देखो, बेईमानी, धोखा और मक्कारी, लेकिन जरा सब्र रखो अम्मां! अल्लाह सबका देखने वाला है। बेईमानी का धन किसी

को फला है कि उस माटीमिले को ही फलेगा !"

उस सहानुभूति के जवाब में अब की बार जो रुलाई का स्वर आया उससे अहमद मियां एकदम चौकन्ने हो गए कि कहीं बुढ़िया न हो।

अपने दुख में बराबरी के साथ उनकी पत्नी को दुखी होती देख, उसकी रुलाई और भी फंसी-सी हो गई और बड़ी कठिनाई से आवाज आई—"मैं कहती हूं, बहू, उसकी जवानी गारत हो जाएगी। उसकी लहद में कीड़े पड़ेंगे। तुम्हीं लोग देखोगी कि वह कैसी मौत मरता है। अरे...मुझ मरी को क्या मारता है। मुझ बेवा-बुढ़िया को क्या कलपाता है..."

क्षण-भर का समय लिए बिना ही अहमद मियां समझ गए कि बुढ़िया ही है और सुबह-सवेरे आ धमकी है।

जरा-सी भी आहट किए बिना ही अहमद मियां दरवाजे की ओर बढ़ना छोड़, आहिस्ते से वहां से सरके और फिर दबे पांव अपने कमरे में आकर बिस्तर पर लेट गए।

बरामदे की बातचीत वहां मद्धिम पड़ जाती है और ठीक से सुनाई नहीं देता। बाजू के कमरे में रशीद की दुल्हन के चलने से लच्छे और घुंघरू वाले पाजेब की मिली-जुली आवाज सुनाई दी और फिर ढीली चूड़ियों की खनक के साथ पीतल के गगरे में ढके हुए परात के खींचने और पानी निकालने के बाद उसके सरका देने का स्वर आया।

रशीद का ख्याल आते ही अहमद मियां मुस्कराए। रशीद उनका इकलौता बेटा सही, भले ही लाड़-प्यार में पला हो, लेकिन वह उनकी आशा से भी अधिक योग्य और अच्छा निकला। इकलौते अक्सर लाड़-प्यार में बिगड़ जाते हैं यह बात उनके मन में भी और बातों की तरह बैठी हुई थी। इसी के प्रभाव में आकर उन्होंने पहले कुछ वर्ष रशीद से बड़ी सख्ती से काम लिया। बाद में उनकी जरूरत नहीं पड़ी और फिर तो अहमद मियां को भी कायल होना पड़ा कि सब बेटे एक तरह के नहीं होते।

मैट्रिक पास करने के बाद कालेज की पढ़ाई के लिए (क्योंकि वहां कालेज नहीं था) दूसरे शहर जाने की जिद उसने अवश्य मचाई थी, लेकिन उसे भी अहमद मियां ने चलने नहीं दिया। वह सिविल कोर्ट में सवा सौ रुपयों के पेशकार थे। महंगाई के इस जमाने में उस छोटी तनख्वाह से किसी तरह घर चला रहे थे। रशीद को कालेज की पढ़ाई के लिए शहर भेजना सत्तर-अस्सी रुपए माह का खर्चा था सो वह किसी तरह भी मुमकिन नहीं हुआ और कुछ दिन रो-गाकर रशीद भी चुप हो गया।

अहमद मियां क्या स्वयं नहीं चाहते थे कि उनका बेटा पढ़-लिखकर किसी अच्छे ओहदे की नौकरी पाए ? लेकिन वह क्या करते। सारी जिंदगी उन्होंने

नौकरी में गुजार दी, बूढ़े हो रहे हैं—दो-एक वरस वाद रिटायर भी हो जाएंगे लेकिन एक पैसा कभी आड़े वक्त के लिए नहीं वचा पाए। जो आया, वरावर। सैकड़ों कमाए लेकिन खा-पी डाले।

यह वात पहले नहीं खली थी—उस समय चुभी और अहमद मियां लगभग रो पड़े थे जव वेटे की सगाई हो गई, शादी के लिए दो माह ही रह गए और उनके हाथ में एक पाई न थी। व्याह करना और घर वनाना क्या आसान वात है? अल्लाह ने वक्त पर इज्जत रख ली और सारा काम निवट गया, यह तो ठीक है, लेकिन रशीद के व्याह के छह-साढ़े छह वरसों वाद भी आज आठ-नौ सौ का कर्ज उतार नहीं पाए। पूरा कर्ज ज्यों का त्यों धरा है। यद्यपि अव रशीद भी नौकरी करने लगा है, लेकिन वचाव की कहीं कोई सूरत ही नहीं निकली। शायद जितनी आमदनी के जरिए वनते हैं उससे भी दुगुने रास्ते खर्च के निकल आते हैं।

कर्ज के साथ ही रशीद के व्याह और उसके साथ दहेज की याद आई। रशीद की दुल्हन वड़े घर की वेटी न थी। न अधिक पढ़ी-लिखी और न अधिक खूवसूरत। वह एक औसत दर्जे की लड़की थी और अहमद मियां के ख्याल में पूरी तरह उनके वेटे के योग्य भी नहीं थी। शादी के एक वरस तक तो कोई शिकायत सुनने में न आई, लेकिन वाद में रशीद उखड़ा-उखड़ा रहने लगा और अक्सर उनके कमरे से रशीद के चिल्लाने और गालियां वकने की आवाज आती। वहू में रूप भले न हो लेकिन वहुत ही सहनशील, शांत और संजीदा थी और पहले एक-दो वरस भले अहमद मियां ने ज्यादा परवाह न की हो लेकिन वाद में रशीद से वढ़कर उसे चाहने लगे।

पहले वरस उन्हें क्यों असंतोष था? वह क्या जानते थे कि वेटी का वाप इतना कंगाल भी हो सकता है! माना कि अहमद मियां ने शादी के पहले समधी से साफ-साफ कह दिया था कि उन्हें सिर्फ वहू चाहिए—रशीद के लिए एक दुल्हन और इसके अलावा किसी दहेज की वह परवाह नहीं करते, लेकिन वेटी के वाप का भी तो कुछ फर्ज होता है न!

अहमद मियां की वैठक की तख्त में शुरू से चटाइयां विछती थीं। रशीद की शादी से पहले एक वार जव चटाइयां घट गईं तो अहमद मियां ने उन्हें हटाते हुए अपनी वीवी से कहा था—"अव तो इस तख्त पर नई चटाइयां नहीं डलवाऊंगा। रशीद की दुल्हन दहेज में जो गलीचा लाएगी, वही इसमें सजेगा।"

वैठक का वह तख्त आज भी नंगा है। उसमें न गलीचा विछा और न चटाइयां पड़ीं। गाहे-व-गाहे एक-दो वार अहमद मियां की वीवी ने हंसकर ताने भी दिए।

"तुम्हारी वहू का गलीचा तो मुआ काश्मीर से नहीं चला। इस तख्त के

नसीब में क्या अब चटाइयां भी नहीं रहीं ? यह बात रशीद की दुल्हन के सामने भी एकाध बार हुई, अतः अहमद मियां ने बड़ी जोर से झल्लाकर डांट दिया—"बिल्ली की नीयत छीछड़े पर ! तुम ही अपने साथ दहेज में कितने गलीचे लेकर आई थीं।"

उनकी बीबी ने बात टालना नहीं सीखा, इस चोट से तिलमिलाकर बोली, "लो और सुनो। तख्त पर मैं बैठती हूं न ! उस पर की चटाइयां मैंने ही तो हटाई थीं ! मैंने ही तो कहा था कि रशीद की बहू दहेज में जो गलीचा लाएगी, वही तख्त पर बिछेगा !"

यह अहमद मियां पर करारी चोट थी। दबी हुई दृष्टि से देखा, उनकी बहू धूप में सिर झुकाए चावल बीन रही थी। दांत पीसकर उन्होंने हाथ का कप-सासर दीवार पर दे मारा और गुस्से में बाहर निकल आए।

उसके एक-डेढ़ महीने बाद एक सुबह क्या देखते हैं कि उनके तख्त पर बड़ा ही खूबसूरत गलीचा बिछा है—एकदम नया, झकझक करता ! उनकी बीबी ने मुस्कराकर व्यंग से बताया कि बहू के मायके से आया है। वह अहमद मियां के गाल पर तमाचा नहीं तो और क्या था ? उसे तख्त से उठाकर बहू के देखते तक आंगन में फेंकते हुए, वह चिल्लाए—

"रशीद की मां, बहू से कहो हम पर तरस न खाए। अभी तो इतने मोहताज हम लोग नहीं हुए।"

बात तूल पकड़ गई। दो-तीन दिनों तक बहू के खाना न खाने की शिकायत मिलती रही। रशीद ने कुछ दिन उनसे ठीक से बात ही न की और घर का वातावरण काटने को दौड़ने लगा, अतः एक रात जब रशीद बाहर था, हाथ में गलीचा लिए चोरों की तरह अहमद मियां बहू के कमरे तक गए और भीगी आवाज से बोले—

"बहू, तुम खाना क्यों नहीं खातीं ?"

बहू ने जवाब न दिया, बस हड़बड़ाकर पल्लू सम्हालती हुई खड़ी हो गई और चाहे अहमद मियां ने जितने मरतबा प्रश्न दुहराया हो, बिना कुछ बोले जमीन की तरफ देखती रही। अहमद मियां कई पल तक खड़े सोचते रहे, फिर एकाएक भर्राई आवाज से बोले, "एक काम करो बहू, इस गलीचे का मेरे लिए कफन सी दो।"

सुनकर उनकी बहू ने मुंह में आंचल ठूंस लिया और रोने लगी। अहमद मियां भी रोए, खूब रोए, फिर गलीचा वहीं रखकर नाक साफ करते हुए कमरा छोड़ आए। रोने से बहुत कुछ साफ हो जाता है। आंसू शायद सचमुच मन का मैल धो देते हैं…

अचानक अपने कमरे की ओर बढ़ते किन्हीं पांवों की आहट सुनकर अहमद

मियां ने दम साध लिया, आंखें बंद कर लीं और हाथ मोड़कर बायीं बांह आंखों पर रख ली। जानते थे कि बीबी होगी। आकर उसने जगाने की कोशिश की। अहमद मियां ने हां-हूं कहने के अलावा जागने के और कोई आसार नहीं दिखाए तो झल्लाकर कहती हुई कमरा छोड़ गई—बुढ़िया दो घंटों से बैठी मेरा माथा चाट रही है और तुम उठने का नाम नहीं लेते। देखती हूं, आज दफ्तर भी नहीं जाना है!

बुढ़िया की बात आते ही अहमद मियां की जान आधी हो गई। बीबी पर एकाएक बड़ा क्रोध आया। शादी के सत्ताईस बरसों में कभी पल-भर के लिए भी समझौता करना उनकी बीबी को न आया। जवानी के दिनों में उनके सपनों के नाजुक-नर्म पंख उसने तोड़े थे और अब बात-बात पर उन पर हावी हो जाती है। क्या एक बुढ़िया को नहीं टाल सकती थी, जबकि वह अच्छी तरह जानती है कि उससे मिलना एक-दो घंटे बर्बाद करना होता है? उन्हें क्रोध तो आया ही, मन-ही-मन पछताए भी कि व्यर्थ उन्होंने सोने का बहाना करके अपनी बीबी को निकल जाने दिया। क्यों नहीं उठकर उन्होंने उसे डांट दिया कि किसी दिन यदि चोरी करके अहमद मियां आए तो सबसे पहले घर वाले ही फंसा देंगे।

धूप अब तेज हो गई थी और बरामदे में बिखरा धूप का टुकड़ा और लंबा होकर बीच के कमरे की चौखट को छू रहा था। और दिन होता और इतने दिन चढ़े वह बिस्तर पर पड़े होते तो अचानक हड़बड़ाकर उठ बैठते और घर भर को सिर पर उठा लिया होता कि उन्हें इतनी देर तक क्यों सोने दिया गया, किसी ने जगाया क्यों नहीं? (भले वह जानते हों कि उनकी बीबी कई बार जगाने की कोशिश कर लौट गई है!)

अहमद मियां की सारी तैयारी नौ बजे तक प्रायः हो जाती थी। अदालत भले ग्यारह से लगती हो, लेकिन उन्हें तो दो घंटे पूर्व ही पहुंचना होता है! पच्चीस तरह के काम हैं। तमाम संबंधित केसेज निकालना, हर एक फाइल पर नोट लिखना और ग्यारह से पहले-पहले ही उस दिन की सभी फाइलें जज साहब की मेज पर रख देना। नौकरी करते अहमद मियां को अट्ठाईस बरस होने को आए, दो-एक बरस बाद रिटायर भी हो जाएंगे, लेकिन आज तक किसी भी अफसर को यह मौका न दिया कि काम-काज के सिलसिले में एक लफ्ज भी कह सके। आगे-के-आगे वह सब कर दिया करते, हालांकि इस कोशिश में उनका पूरा दिन और कभी-कभी रात का भी अधिकांश समय आफिस को चला जाता था। सरकारी छुट्टियों के दिन उन्होंने कभी छुट्टी नहीं मनाई और बीमारी के दिनों को छोड़कर (खुदा का शुक्र है कि वह पिछले आठ बरसों से एक बार भी बीमार नहीं पड़े) उन्होंने कभी लंबी छुट्टी नहीं ली।

इस बात को लेकर उनकी पत्नी अक्सर कुढ़ती और आए दिन झड़प तक हो जाती। उसका कहना भी क्या गलत है? नौकरी तो आखिर जीने के लिए ही लोग करते हैं न? ऐसा तो कोई नहीं करता कि दिन-रात का अधिकांश समय बस आफिस में ही गुजार रहे हैं और घरवाले मरें या जियें, इसकी परवाह ही न हो।

अहमद मियां भी बेचारे क्या करें? नौकरी के आखिरी दिन हैं—फूंक-फूंककर कदम रखना ही पड़ता है। कहीं कुछ हो गया तो जिंदगी भर के किए-कराए पर पानी न फिर जाएगा? उसकी बीबी को क्या मालूम कि आखिरी दिनों की सरकारी नौकरी कैसी होती है!

एकाएक बीच के कमरे में पांवों की आहट मिली और अहमद मियां ने अपने को तैयार कर लिया कि बीबी के आते ही वह उस पर बरस पड़ेंगे, लेकिन लगातार पांच मिनट तक प्रतीक्षा करते रहने पर भी उनके कमरे में कोई नहीं आया। कमबख्त बुढ़िया भी उनकी जान को रोग की तरह लग गई है।

बुढ़िया पिछले ग्यारह बरसों से अपनी जायदाद का मुकदमा लड़ रही है। अब उसे जायदाद का मोह क्यों रह गया है? यह सब किसके लिए बटोर रखना चाहती है? उसके बाल-बच्चे कोई नहीं। पंद्रह-सोलह बरस से बेवा है। उसका पति था तो मामूली हेड कांस्टेबल ही, लेकिन उसने जीते-जी बहुत कुछ जमा दिया था।

उसके मरने के बाद (चूंकि कोई बाल-बच्चे या नजदीक के रिश्तेदार न थे) उसने अपनी जाति के एक भलेमानुष के इकलौते बेटे को गोद ले लिया। यही एक दिन बुढ़िया के साथ दगा कर जाएगा, यह कौन जानता था?

मकान के अलावा कोई दस-बारह एकड़ की जमीन थी। वह उसके गोद लिये लड़के और उसके परिवार वालों ने हथिया ली। जमीन शिकमी में दी जा रही है, इस धोखे में उसे रख, बिक्रीनामे में उन लोगों ने अंगूठा लगवा लिया। अब अगर वह ग्यारह बरसों से हर छोटी-बड़ी अदालत का दरवाजा खटखटाकर, जोर-जोर रोए कि उसे धोखा दिया गया, उसने जमीन नहीं बेची, उसने पैसे नहीं लिए, तो कौन विश्वास करेगा?

घूम-फिरकर वह मुकदमा अहमद मियां की अदालत में भी चला और साल-भर बाद खारिज हो गया। हाई कोर्ट में अपील की गई और आठ दिन पहले वहां से भी आर्डर आ गया। इस बीच बुढ़िया हर एक-दो दिनों की आड़ से अहमद मियां के घर आ धमकती और रो-रोकर वही किस्सा यूं बार-बार सुनाती जैसे पेशकार न होकर वह जज हों और उन्हें किसी तरह अपनी सच्चाई का विश्वास दिला सकी तो अहमद मियां उसके ही हक में फैसला कर देंगे।

इसे तो सिरफिरा ही कहा जाएगा न कि बुढ़िया जब भी आती अपने साथ

कुछ-न-कुछ फल-फूल अवश्य ले आती और उनके नवासे गुड्डों को प्यार से पुकार-चुमकारकर उनकी मुट्ठियां या मुंह किसी-न-किसी मौसमी फल से भर जाती।

कुछ दिन तो इस बात को वह टाल गए, लेकिन बाद में उन्होंने अपनी बीवी के जरिए साफ मना करवा दिया। बुढ़िया थोड़ी देर आश्चर्य से ताकती रही फिर एकाएक बिलखकर रो पड़ी। अहमद विधर्मी ही सही, लेकिन वह तो उसे अपना बेटा ही समझती है। उसे क्या इतना भी अधिकार नहीं कि अपनी ओर से बच्चों को कुछ लाकर दे सके? उस बात का क्या जवाब था?

किसी तरह अदालत के साथियों को यह बात मालूम हुई तो मारे तानों के अहमद मियां का हाल बुरा कर दिया। बुढ़िया है तो चालाक! वकीलों, मुंशियों और अहमद मियां के पहले वाले बाबू तक को उसने अंजलि भर-भर रुपए दिए थे, लेकिन एक अहमद ही बेचारे अल्लाह मियां की गाय हैं जिन्हें चार-आठ आने के फलों में बुढ़िया ने बहला लिया है।

उस समय तो वह बात उन्होंने हंसकर टाल दी, लेकिन बाद में उन्हें लगा कि बात सच ही होगी! अरे, हराम की कमाई उन्हें खुद भी नहीं चाहिए। जब मेहनत के पैसे ही पूरे नहीं पड़ते—तो रिश्वत के पैसों का क्या भरोसा? लेकिन वह यह बात भूल ही नहीं पाते, अगर यह सच है कि अहमद के पहले वाले बाबू भी बुढ़िया से बहुत कुछ डकार गए तो निश्चय ही बुढ़िया उन्हें बुद्धू समझकर बेवकूफ बना रही होगी।

उस दिन के बाद से जाने क्यों अपने-आप ही उनका व्यवहार बुढ़िया के प्रति बदलने लगा और कई बार जब बुढ़िया उनसे मिलने घर पर आई तो रहकर भी उन्होंने कहलवा दिया कि बाहर गए हैं।

जिस दिन हाईकोर्ट का आर्डर आया, जज साहब दौरे पर थे। लिफाफा खोलने के पहले ही वह जान गए थे कि क्या फैसला आया होगा, लेकिन उनसे बुढ़िया से स्वयं कहते नहीं बना। व्यवहार बदल देने-भर से आदमी क्या अपना दिल भी बदल सकता है?

रात में आकर बीवी से सारी बातें कहीं तो वह केवल मुंह खोल ताकती रह गई। बड़ी देर की चुप्पी के बाद उसने कहा—

"यह तो बहुत बुरा हुआ। यह खबर सुनकर बुढ़िया का जी पाना तक मुश्किल दीखता है। उसे बड़ी उम्मीद थी कि अपील में वह जीत जाएगी। जानते हो, जेवरों से लेकर खाने-पीने के लोटे-बर्तन तक उसने बेच डाले हैं। उससे यह बात कैसे कहोगे?"

अहमद मियां स्वयं यही सोच रहे थे। 'कैसे कहोगे' वाले प्रश्न से पिंड छुड़ाने के लिए उन्होंने झल्लाकर कहा, "समझ में नहीं आता कि कब्र में पांव

लटके हुए हैं, कोई आंसू बहाने वाला तक नहीं, फिर भी बुढ़िया क्यों जायदाद के लिए मरी जा रही है।"

उनकी बीवी को यह बात शायद कुछ अच्छी न लगी। जरा रुककर 'ऐसा न कहो' बोलने के अंदाज में उसने कहा, "वह तो ठीक है, लेकिन जब तक जिंदा है तब तक तो जीने-खाने के लिए कुछ चाहिए न ?···"

अकस्मात उनकी खाट से सटी हुई मेज पर रखी घड़ी जोर से झनझना उठी। अहमद मियां चौंक से गए। फुर्ती से उठकर उन्होंने अलार्म बंद करने का बटन दबाया। जाने किस कमबख्त ने अलार्म भर दिया था ! कांटों पर निगाह गई तो घबराकर उठ बैठे, साढ़े नौ ! रोज तो नौ बजे वह दफ्तर पहुंच जाते हैं।

अपना कमरा, बीच का कमरा और बरामदा पार करते हुए अहमद मियां इतनी तेजी से आंगन में पहुंचे कि बुढ़िया पलक-भर से अधिक उन्हें नहीं देख सकी।

उनकी बीवी नल के पास खड़ी दूध की पतीली धो रही थी। रशीद शायद नाश्ता करके निकल गया होगा। बावर्चीखाने में उनकी बहू आटा छानती बैठी थी। खन-खन करते उसके हाथ आहट पाकर क्षण-भर के लिए रुके। सिर का ढलका हुआ पल्लू उसने ठीक किया और जरा-सा बरामदे की ओर देखकर फिर अपने काम में लग गई। बुढ़िया अकेली ऊंघती-सी बैठी थी। सबको अपने-अपने काम में लगे देखकर उन्होंने अनुमान लगाया कि बात करने को शायद कुछ बचा नहीं था।

लेकिन अभी बाथरूम तक भी नहीं पहुंचे थे कि दहलीज के पास से बुढ़िया के पुकारने की आवाज मिली, "अहमद बेटा !" अहमद मियां इस आवाज को जानते थे, इसी का डर भी था। पूरी तरह लौट भी नहीं पाए थे कि आंगन के कोने में गुड्डो पर निगाह पड़ी। दो केले उसके हाथ में थे और तीसरा मुंह में भरा हुआ था···अहमद तो बिचारे अल्लाह मियां की गाय हैं जिन्हें बुढ़िया ने चार-आठ आने के फलों में बहला लिया है !···

लपककर अहमद मियां गुड्डो के पास पहुंचे, उसके हाथ से केले छीनकर अहाते की दीवार के उस पार फेंक दिया और गुड्डो के केले से ठुंसे गाल पर खींचकर तमाचा जड़कर चिल्लाए—

"एक तो अभी बुखार से छूटा है। सर्दी और खांसी से दम नहीं ले पा रहा है। इतनी सुबह-सुबह केले खाकर मरेगा क्या ?"

गुड्डो इस आकस्मिक छीना-झपटी और मार से पल-भर के लिए स्तंभित रह गया। एक पलक बुढ़िया और अहमद मियां की ओर डाल जोर से चिल्लाता हुआ वह अपनी दादी की ओर भागा।

नल के नीचे के पत्थर पर वर्तन पटककर उनकी वीवी ने गुड्डो को अपनी बांहों में भर लिया। अहमद मियां का मोटा खुरदुरा हाथ और चार-पांच साल के गुड्डो के मासूम गाल ! जोर-जोर की हिचकियां लेते बच्चे का चेहरा पलट और उंगलियों के निशान देखकर उनकी वीवी ने अहमद मियां को ऐसे घूरा कि वह नजर तक न मिला सके। गुड्डो के गाल पर हाथ फेरती उनकी वीवी ने भर्राई हुई आवाज से कहा—"ऐसा ही है तो मुझे मार लो, इस मासूम पर क्या तान तोड़ते हो ?" फिर जरा रुककर वोली, "देखो तो, कितने जोर का तमाचा मारा है ! मैं कहती हूं जो हाथ इस वेजुवान पर उठा है; खुदा करे वह हाथ ही···"

उनकी वीवी की आवाज ने साथ छोड़ दिया और आंसू की एक मोटी लकीर आहिस्ते से फिसलकर उनके निचले होंठ में ठहर गई।

तभी अहमद मियां की वहू सिर-पल्लू से धीमे कदम उठाती विल्कुल निर्विकार भाव से निकली और गुड्डो को उसकी दादी की गोद से छुड़ा, अपनी गोद में ले, चुपचाप भीतर की ओर वढ़ गई।

अपराधी की-सी दृष्टि से अहमद मियां ने वहू की ओर देखा। गुड्डो के डरकर गर्दन में लिपट जाने से खिसक गए सिर के आंचल को ठीक करने और अपना नंगा सिर छुपाने के प्रयास में उसने अपने डग तेज कर दिए। उनकी वहू ने एक शब्द नहीं कहा। उनकी ओर एक बार भी नहीं देखा···एक बार भी नहीं।

सहसा जाने उन्हें क्या हुआ कि एकाएक बुढ़िया की ओर वढ़कर उसे डांटते हुए वह चिल्लाए—

"तुम्हारी जमीन-जायदाद गई तो क्या हम लोगों की जान खाओगी ? उनके पास क्यों नहीं जातीं जिन्हें सैकड़ों रुपए खिलाए हैं !"

अहमद मियां जव नाराज होकर चिल्लाते हैं तो चेहरा लाल हो जाता है और ठीक से वोल नहीं सकते—लड़खड़ाने लगते हैं। कहकर रोशनी की तरह तेजी से वह वाथरूम में घुस गए।

पर भीतर आकर उन्हें लगा जैसे जिस्म की तमाम नसों में खून जम गया है और वह पत्थर हो गए हैं। बुढ़िया का जर्जर चेहरा सिनेमा के परदे पर क्लोज-अप की तरह उनकी आंखों के आगे उभर आया। किसी का रोना-कलपना उनसे नहीं देखा जाता। कड़े वोल वोलना उन्हें कभी नहीं आया, लेकिन कभी-कभी उनके भीतर क्या समा जाता है ?

बुढ़िया जरा ऊंचा सुनती है। उनकी वातें क्या वास्तव में उसके कानों पहुंच गईं ?

वाथरूम की ईंटें कई जगह से निकल गई हैं। उस निकली हुई ईंट की

पोली जगह में से उनकी आंखों ने देखा कि अपनी जगह से हटकर बुढ़िया आंगन में निकल आई और बिना किसी से कुछ कहे, चुपचाप बाहर के दरवाजे की ओर बढ़ने लगी। उनकी पत्नी शायद वहां नहीं थी।

अहमद मियां बुढ़िया के लौटते चेहरे की थकी और निराश सिलवटों में संभवतः प्रतिक्रिया खोज रहे थे। उनकी अम्मी आज जिंदा होतीं तो उनकी भी शायद इतनी ही उम्र होती। शरीर भी शायद इतना ही थक गया होता—जर्जर और निढाल !

सहसा उन्हें लगा कि उनके बहुत भीतर से कोई उन्हें बरबस ढकेल रहा है, धक्का दिए जा रहा है और अपने को न संभाल पाकर वह पल-भर में ही बाथरूम से आंगन में निकल आएंगे।

अचानक लगभग दौड़ती हुई उनकी बहू दरवाजे के पास आई, गर्दन में लिपटे गुड्डो को उतारा और झपटकर, आधे आंगन तक जा चुकी बुढ़िया के सामने पहुंच, उसे घेरती हुई मीठे स्वर में बोली, "मां, तुमने सुन लिया न—तुम्हें दफ्तर में बुलाया है।"

उनकी बहू जब चूल्हे के सामने बैठी दाल घोटती है तो तेजी से घूमती हुई मथनी पतीली में कुछ ऐसी ही हलचल पैदा कर देती है—छर्रर्र्र्···छर···छर्रर्र्र्···छर— पिसाव, कुछ ऐसा ही पिसाव ! गहरे कुएं के पानी में अचानक बाल्टी डुबो देने का स्वर रात के एकाकीपन में कैसी अजीब-सी अनुभूति भर देता—खाली-खाली और उदास !

एकाएक अपने ऊपरी होंठ के अगले भाग में खारेपन का स्वाद पाकर अहमद मियां चौंके और अनायास ही लरजने लगे अपने निचले होंठ को गहरे दांतों से काट लिया—

"या अल्लाह, उनकी सीधी-सादी बहू भी झूठ बोलती है !" △

धतूरे का फूल

दीमक-चरी और घिसी पट्टियों वाले गेट से लटकते नेम प्लेट पर आंख पड़ते ही देवेन्द्र पूरी तरह आश्वस्त हो गया, फिर भी उसने रंग-उड़े बोर्ड पर एक बार निगाह डाली। पते के अनुसार यही मकान हो सकता था। नेम-प्लेट पर सक्सेना साहब का पूरा नाम और डिग्रियां लिखी हुई थीं।

देवेन्द्र को अचानक याद आया कि इस नेम-प्लेट से तो वह बरसों से परिचित है। वही लकड़ी का पुराना बोर्ड जिसके काले रंग की जमीन पर सफेद अक्षरों में—बी० पी० सक्सेना—लिखा हुआ था। आज उसमें अंतर केवल इतना था कि बीते आठ बरसों की धूप और बारिश खाकर बोर्ड बीच से फलका हुआ था और अक्षर करीब-करीब मिट-से गए थे।

आठ बरसों की दूरी लांघकर पल-भर में देवेन्द्र की आंखों के सामने उसके अपने नगर और स्कूल के अहाते वाला हेडमास्टर का बंगला घूम गया जिसमें सक्सेना साहब छह साल रहे थे। पहले उस बंगले में लॉन नहीं थी। बगीचे के नाम पर लाल-लाल मिट्टी से हमेशा धूल उड़ती और चलने से पांवों में नोकीले कंकर चुभा करते थे। सक्सेना साहब को गार्डनिंग का बेहद शौक था

पोली जगह में से उनकी आंखों ने देखा कि अपनी जगह से हटकर बुढ़िया आंगन में निकल आई और बिना किसी से कुछ कहे, चुपचाप बाहर के दरवाजे की ओर बढ़ने लगी। उनकी पत्नी शायद वहां नहीं थी।

अहमद मियां बुढ़िया के लौटते चेहरे की थकी और निराश सिलवटों में संभवतः प्रतिक्रिया खोज रहे थे। उनकी अम्मी आज जिंदा होती तो उनकी भी शायद इतनी ही उम्र होती। शरीर भी शायद इतना ही थक गया होता—जर्जर और निढाल !

सहसा उन्हें लगा कि उनके बहुत भीतर से कोई उन्हें बरबस ढकेल रहा है, धक्का दिए जा रहा है और अपने को न संभाल पाकर वह पल-भर में ही बाथरूम से आंगन में निकल आएंगे।

अचानक लगभग दौड़ती हुई उनकी बहू दरवाजे के पास आई, गर्दन में लिपटे गुड्डो को उतारा और झपटकर, आधे आंगन तक जा चुकी बुढ़िया के सामने पहुंच, उसे घेरती हुई मीठे स्वर में बोली, "मां, तुमने सुन लिया न—तुम्हें दफ्तर में बुलाया है।"

उनकी बहू जब चूल्हे के सामने बैठी दाल घोटती है तो तेजी से घूमती हुई मथनी पतीली में कुछ ऐसी ही हलचल पैदा कर देती है—छर्रर्र्र्र्···छर···छर्रर्र्र्र्···छर— पिसाव, कुछ ऐसा ही पिसाव ! गहरे कुएं के पानी में अचानक बाल्टी डुबो देने का स्वर रात के एकाकीपन में कैसी अजीब-सी अनुभूति भर देता—खाली-खाली और उदास !

एकाएक अपने ऊपरी होंठ के अगले भाग में खारेपन का स्वाद पाकर अहमद मियां चौंके और अनायास ही लरजने लगे अपने निचले होंठ को गहरे दांतों ने काट लिया—

"या अल्लाह, उनकी सीधी-सादी बहू भी झूठ बोलती है !" △

धतूरे का फूल

दीमक-चरी और घिसी पट्टियों वाले गेट से लटकते नेम प्लेट पर आंख पड़ते ही देवेन्द्र पूरी तरह आश्वस्त हो गया, फिर भी उसने रंग-उड़े बोर्ड पर एक बार निगाह डाली। पते के अनुसार यही मकान हो सकता था। नेम-प्लेट पर सक्सेना साहब का पूरा नाम और डिग्रियां लिखी हुई थीं।

देवेन्द्र को अचानक याद आया कि इस नेम-प्लेट से तो वह बरसों से परिचित है। वही लकड़ी का पुराना बोर्ड जिसके काले रंग की जमीन पर सफेद अक्षरों में—बी० पी० सक्सेना—लिखा हुआ था। आज उसमें अंतर केवल इतना था कि बीते आठ बरसों की धूप और बारिश खाकर बोर्ड बीच से फलका हुआ था और अक्षर करीब-करीब मिट-से गए थे।

आठ बरसों की दूरी लांघकर पल-भर में देवेन्द्र की आंखों के सामने उसके अपने नगर और स्कूल के अहाते वाला हेडमास्टर का बंगला घूम गया जिसमें सक्सेना साहब छह साल रहे थे। पहले उस बंगले में लॉन नहीं थी। बगीचे के नाम पर लाल-लाल मिट्टी से हमेशा धूल उड़ती और चलने से पांवों में नोकीले कंकर चुभा करते थे। सक्सेना साहब को गार्डनिंग का बेहद शौक था

अक्सर, सरकारी तौर पर घर के लिए उन्हें मिले चपरासियों के अलावा भी स्कूल से दो-तीन और चपरासियों को वह बगीचे में लगाए रखते थे जिसकी वजह से स्कूल के मास्टरों और बाबुओं में बड़ा असंतोष था और वह अखबारों तक में बदनाम हो गए थे।

बंगले की पूरी हुलिया बदल देने के बावजूद भी गेट पर लगा नेम-प्लेट उन्होंने नहीं बदला। इस बात को लेकर प्रायः टीचर्स-रूम में या रीसेज में लड़कों के बीच हंसी उड़ा करती, पर सक्सेना साहब ने उन बातों पर कभी ध्यान न देकर सबको अनसुना कर दिया। पहले-पहल वह बात उनकी लापरवाही समझकर टाल दी जाती थी, लेकिन जब एक दिन साइंस टीचर भटनागर (जो अवकाश के वक्त भी सक्सेना साहब को नहीं छोड़ते थे) ने बड़ी गंभीरतापूर्वक नेम-प्लेट बदलने या किसी पेंटर से नये ढंग से लिखवा लेने की बात पर जिद करना शुरू कर दिया तो सक्सेना साहब ने हंसकर अजीब लहजे में कहा था, "भई भटनागर, आज नेम-प्लेट बदल दूं तो कल शायद कहोगे कि मेरा सिर भी अब पुराना होकर घिसने लगा है!"

इस बात के बाद बड़ी खोद-खाद की गई और पंद्रह दिनों के अंदर ही तिवारी ने (जो टीचर्स रूम में गहरे-से-गहरे रहस्य खोल लेने की प्रतिभा के लिए विख्यात था) नेम-प्लेट का राज लोगों को बतलाया।

बात इतनी बेमानी थी कि सब लोगों ने हंसकर उड़ा दी। कहा यह जाता था कि जिस दिन उन्होंने नेम-प्लेट बनवाया था उसी दिन वह दूसरे सीनियर टीचर्स के होते हुए भी हेडमास्टर बन गए थे और जब उन्होंने नेम-प्लेट को मिटवाकर नये पेंटर से रंगवाया था तो उनकी पत्नी पागल हो गई।

जब वहां से तबादले का आर्डर सक्सेना साहब को मिला तो कोई-न-कोई बहाना निकालकर किसी तरह दो-तीन महीने और खींच ले गए। जिस दिन चार्ज लेना-देना हुआ सक्सेना साहब लगातार चुप रहे और बिल्कुल ही निर्विकार भाव से हस्ताक्षर पर हस्ताक्षर करते गये।

फेयरवेल में सभी ने बड़ा उत्साह दिखाया। खूब बड़ी और अच्छी पार्टी दी गई और प्रेस के लोग तक अलग से आमंत्रित किये गए। अधिकांश मास्टर अपनी-अपनी ओर से एक-एक गजरा बनवा लाए थे। सक्सेना साहब की ली गई तस्वीर शायद आज भी देवेन्द्र के पास होगी।

लोगों ने उठकर बारी-बारी से सक्सेना साहब के व्यक्तित्व, उनकी सरलता और सहृदयता पर भाषण दिये। प्रत्येक ने गंभीर तथा भारी आवाज में यही बात दुहरायी कि सक्सेना साहब को खोकर उन लोगों ने बहुत कुछ गंवा दिया और वह खोना ऐसा था जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती।

जब तक लोग उनके विषय में बोलते रहे, सक्सेना साहब मेज के एक कोने

पर कोहनी टिकाए और गर्दन डाले हुए वस एक तरफ और एक जगह ही ताकते रहे। सब लोगों के बाद जब वह धन्यवाद देने तथा अपनी ओर से कुछ कहने के लिए उठे तो लगातार पांच मिनटों की कोशिश के बाद भी एक शब्द उनके होंठों से नहीं फूटा। बस चुपचाप खड़े हुए जमीन में अपने पांव और मेज पर अपने हाथ बदलते रहे। भीतर से कुछ उफनता, गले में आकर अटक जाता और सक्सेना साहब कुछ रोकने की कोशिश में बार-बार और जल्दी-जल्दी अपनी बरौनियां डालने लगते। यह स्थिति कोई पांच मिनट चली और अंत में सक्सेना साहब छलछलाकर रोने लगे। उसके बाद, बस दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने अपनी आंखों पर रूमाल रखा और मेज पर कोहनियां टेकते हुए चुपचाप बैठ गए।

दूसरे दिन सुबह जब रिक्शों में सामान लद गया, टिकिट बन गए, उनकी पत्नी को लिए बेटी पुष्पा अहाते के बाहर निकल आई और उनका तीन वर्षीय बेटा विनय चलने के लिए आकर उनसे लगकर खड़ा हो गया तो उसकी उंगली पकड़ सक्सेना साहब भी गेट के बाहर आए। सब लोगों से अंतिम बार मिलकर वह बंगले की ओर बड़ी ममता-भरी आंखों से देखते रहे, फिर गेट के पास आकर नेम-प्लेट निकाल लिया और रिक्शे में बैठकर सबकी ओर देखते हुए फिर हाथ जोड़ दिए।

वही नेम-प्लेट आज यहां भी लगा था, लेकिन क्वार्टर के सामने वाले प्लाट में न तो हरियाली थी, न कोई पेड़-पौधे और न ही कोई खुरपी लिये हुए व्यस्त चपरासी कि वह किसी भी आने वाले को देख, बाग का काम छोड़ दौड़कर गेट खोल दे और आदरपूर्वक बिठाए।

स्वयं गेट खोल कर देवेन्द्र भीतर आ गया, लेकिन बरामदे तक आने पर भी किसी की आहट नहीं मिली। सम्हालकर आहिस्ता और मीठे स्वर में देवेन्द्र ने कई आवाजें लगाईं। बड़ी देर तक दरवाजे के सामने का परदा हिलता रहा फिर एकाएक कोई लड़की आई, दरवाजा खोला और परदे के बाहर लम्हे-भर के लिए झांककर तेजी से भीतर हो गई।

देवेन्द्र ने अनुमान लगाया कि वही पुष्पा होगी। सहमते हुए उसने कहा, "सक्सेना साहब हैं क्या ?"

कुछ देर रुककर जवाब मिला, "उनकी तबीयत ठीक नहीं।"

"वह मैं जानता हूं," देवेन्द्र ने कहा, "उनसे मिलने ही आया हूं।"

"लेकिन पिताजी किसी से नहीं मिलते···अ···आपको उनसे क्या काम है ?"

देवेन्द्र को जवाब देते नहीं बना, जरा ठहरकर बहुत विनम्र स्वर में उसने कहा, "उनसे सिर्फ मिलना है। आठ साल बाद यहां आया हूं, आज भी उनसे

मिले बिना चला जाऊं तो दुख होगा। आप उन्हें मेरा नाम बताइये, कहिए बाहर से कोई देवेन्द्र आए हैं।"

कुछ देर परदा उंगलियों की पकड़ से थमा रहा, उसके और चौखट की खाली जगह पर, क्षण-भर के लिए धुंधला-धुंधला-सा एक चेहरा आया और उंगलियों की पकड़ छूट जाने के बाद परदे का कंपना···कंपना···

बरामदे में एक बेंच पड़ी थी और उसी के पास तेल के धब्बों वाली एक आराम कुर्सी। परदे के पीछे से जब और आवाज नहीं आई तो देवेन्द्र थोड़ा आश्वस्त होकर बेंच पर बैठ गया।

सामने के मकान के पास एक बरसों पुराना लंबा और गठानों वाला खजूर का पेड़ अपनी कांटेदार उंगलियों समेत सिर उठाए खड़ा था। धीरे-धीरे वह सूखने लगा है और उसकी कई टहनियां सूखकर पींड पर झुक आई हैं। जब हवा तेज होती होगी तो उसके बेतरह डोलने से आसपास के मकान वाले क्या डर नहीं जाते होंगे?

लगभग और पन्द्रह मिनट बाद एक पुरानी धोती की तहमत लपेटे और चादर ओढ़े सक्सेना साहब लड़खड़ाते हुए-से निकले। देवेन्द्र हड़बड़ाकर उठा, आगे बढ़ा और सक्सेना साहब के चरण छू लिए।

नहीं, सक्सेना साहब तो बिल्कुल पहचान में नहीं आते, देवेन्द्र बस देखता रह गया—पहले का आधा स्वास्थ्य भी उनका नहीं रह गया, बाल करीब-करीब सब पक गए और सामने के तीन दांत जा चुके थे।

देवेन्द्र ने उनकी आंखों में देखते हुए ललक कर कहा—"आपने मुझे पहचाना? मैं देवेन्द्र हूं—अपने स्कूल में आपका सबसे प्रिय विद्यार्थी था।"

सक्सेना साहब ने जरा गौर से देवेन्द्र को देखा, फिर सिर हिलाते हुए आरामकुर्सी पर बैठ गए। उनकी भाव-भंगिमा से लगा कि एक तो देवेन्द्र को उन्होंने नहीं पहचाना, दूसरे पहचान भी लेते तो प्रसन्न नहीं होते। थोड़ी देर चुपचाप बैठकर देवेन्द्र उन क्षणों को जोहता रहा जब वह उनके विषय में पूछेंगे कि वह यहां कैसे आया है, क्या करने लगा है और कितने दिन रुक रहा है, पर सक्सेना साहब कुछ बोले नहीं, जैसे बरबस बिठाल दिए गए हों, ऐसे ताकते रहे। देवेन्द्र ने अपनी ओर से कहा—

"मैं यहां एक इंटरव्यू में आया था, सोचा आपके दर्शन करता चलूं।"

एक बोझिल-बोझिल-सी भाव-विहीन दृष्टि। न कोई प्रश्न, न उत्तर और न ही कोई उत्सुकता।

देवेन्द्र बोला, "आप इतने बीमार हैं, यह मैं नहीं जानता था।" अब की बार बड़े अटपटे ढंग से सक्सेना साहब हंसे—"बुढ़ापा खुद सौ बीमारियों की एक बीमारी है। तुम इस उम्र को क्या जानो, आदमी जीता है लेकिन उसमें और

मुरदे में कोई अंतर नहीं होता।"

जरा रुककर सक्सेना साहब ने एक सांस ली और अपना सिर आराम-कुर्सी पर टेक दिया।

"मेरा शरीर अब नहीं चलता। दो महीने की छुट्टी लेकर बिस्तर पर पड़ा हूं। हालांकि मेरी इतनी सकत नहीं थी, फिर भी इलाज के लिए मैं बम्बई और कलकत्ता भी हो आया हूं। लेकिन कोई फायदा नहीं होता। अब होगा भी नहीं। ब्लड प्रेशर के रोगियों का क्या है?—उनकी हर सांस नयी जिंदगी होती है। मैं भी हर दिन को नयी सुबह मानकर जीता हूं, लेकिन यह कब तक चलेगा? लोग कहते हैं कि अब मुझे छुट्टी के बाद रिटायर कर दिया जायेगा। मैं भी कहता हूं करने दो। हर आदमी यदि अपना भाग्य लेकर आता है तो पुष्पा भी लेकर आई होगी।"

देवेन्द्र को लगा कि सक्सेना साहब की आवाज भारी होने लगी है। इसलिए वह बात को बरबस तोड़कर, अपनी बहुत थोड़ी-थोड़ी छमकती पलकें सामने खजूर पर अटकाकर चुप हो गए।

धीरे-धीरे करके आज वह कितने भाग्यवादी हो गए थे। यही सक्सेना साहब पहले भाग्यवादियों को कमजोर, बुजदिल कहकर मजाक उड़ाते और क्लास में सबों से हमेशा तदबीर पर जोर देने की बात किया करते थे। अक्सर वह बात-बात पर शिकायत किया करते कि नये जमाने में सब-के-सब पुरुषत्वहीन लोग पैदा होते जा रहे हैं और सही मानी में आदमी कहे जाने वाले लोगों का धीरे-धीरे करके लोप होता जा रहा है। ऐसे अवसर पर प्रायः वह एक शेर दुहराते—

गुल गए, गुलशन गए
जग में धतूरे रह गए।

नये-पुराने का झगड़ा युगों का है, उसमें पड़ना व्यर्थ है। लेकिन सक्सेना साहब किसे गुल और किसे धतूरा कहते हैं, यह देवेन्द्र तब भी नहीं जानता था, आज भी नहीं जानता।

सहसा दरवाजे का परदा सरकाकर, दोनों हाथों में ट्रे संभाले हुए पुष्पा आई। सक्सेना साहब की पीठ दरवाजे की ओर थी, वह पुष्पा को देख भी न पाए थे, लेकिन आहट सुनकर बोले, "यह पुष्पा है!"

परिचय की बात ऐसी तो नहीं होती। देवेन्द्र ने साहस करके पुष्पा की ओर देखा और हाथ जोड़ दिए, लेकिन पुष्पा देख नहीं पाई—तब वह बेंच पर ट्रे रखे, केटली की चाय प्याले में डालने में लगी थी। देवेन्द्र ने जरा और गहरी आंखों से देखा—कुछ नहीं, एक बाईस बरसों के शरीर वाली लड़की और बस! मामूली कद और मामूली नक्श में जरा गोरी और बारिश-भीगी-

सी, पीड़ा और घुटन की परिधि में घिरी-घिराई, अपने कटे डैनों को तोलती-सी, उड़ने-उड़ने को आकुल और एक बहुत छोटे-से दायरे में मंडराती हुई लड़की ! जिसके सांवले, रूखे-भूरे और अनसजे-संवरे बाल इतनी बेपरवाही से बंधे हैं कि एक के बदले कई छोटी और आड़ी-तिरछी मांगें निकल आई हैं। कान के पास की निहायत ही नर्म-नर्म रेशों वाले बालों की कलियां नीचे आधे गालों तक झुक आई हैं लेकिन उसकी नन्ही लटें भी पीछे जूड़े के बंधाव में भिच गई हैं···चाय की भाप में ताजा नहाए जिस्म की गंध मिलकर देवेन्द्र को अचानक घेर रही है···घेर रही है···।

भाप के धुएं-जैसे झिलमिले परदे से एकाएक उभरकर जो देवेन्द्र के आगे खड़ा हो जाता है, उसे वह अच्छी तरह पहचानता है—यह तो सक्सेना साहब का आंगन है—दरअसल बगीचे के बाजू वाला खाली हिस्सा जहां बेरों से लदा हुआ एक पेड़ खड़ा है। छुट्टी की दोपहर में सक्सेना साहब अपने कमरे में बंद कुछ लिखते-पढ़ते रहते हैं और सामने के बगीचे में भी कोई नहीं होता है। ग्यारह वर्ष पहले देवेन्द्र कैसा रहा होगा ?

स्कूल के दो-तीन शरारती लड़कों के साथ देवेन्द्र भी अहाते की दीवार फांद आया है। एक साथी बेर के पेड़ पर चढ़कर लदी हुई टहनियों को झकझोर रहा है। कच्चे, पक्के, पीलाहट लपेटे हुए और गदराए बेर टप-टप टपक रहे हैं। देवेन्द्र सूखे पत्तों पर आहिस्ता-आहिस्ता कदम धरते हुए सब समेट लेना चाहता है। दरख्त से थोड़ी ही दूर पर एक खिड़की खुली है, लेकिन देवेन्द्र नहीं डरता। उसे विश्वास है कि सक्सेना साहब का कमरा नहीं हो सकता। वहां अगर पुष्पा हुई तो उससे क्या, लड़कियों से भी भला कोई डरता है।

अचानक बंगले के भीतर वाले अहाते में नल खोलने पर उसकी मोटी और तेज धार के पत्थर से टकरा-टकराकर बिछलने की आवाज आई और फिर भीतर के आंगन से कोई दौड़कर संभवत: सक्सेना साहब के कमरे तक गया। एक घबराई हुई आवाज है, जिसे देवेन्द्र नहीं पहचानता—साहब, बाई ने कपड़े-अपड़े फिर फेंक दिए और नल के पास बैठी बर्तन पटक रही है···

"कपड़े फेंक दिए ?—साली, क्या नंगी बैठी है ?"

सक्सेना साहब को ऐसे स्वर में बोलते और ऐसी गालियां बकते देवेन्द्र ने पहले कभी नहीं सुना। उनके इस प्रश्न का उत्तर संभवत: मौन रहा हो क्योंकि दूसरे ही क्षण दरवाजे के पल्लों को तेजी से ढकेलने की भट्ट···झन्न की आवाज के साथ तेज और भारी कदमों की आहट नजदीक, और नजदीक, सरक आती-सी लगती है।

आवाज सक्सेना सा० की है—"पुष्पा !···अरे, पुष्पा कहां है ?"

पहली बार देवेन्द्र देखता है कि पुष्पा तो उस खिड़की के पास बड़ी देर से खड़ी उन लोगों को देख रही है। उस चीख-पुकार या हल्ले का उसके चेहरे पर कोई प्रभाव नहीं।

थोड़ी ही देर के सक्सेना साहब की आवाज पुष्पा के कमरे में आ जाती है। वह कैसी आवाज है, यह देवेन्द्र नहीं समझता। थकी हुई, हताश, विवश और रुआंसी-सी—

"पुष्पा, तेरी मां कपड़े फेंक-फांककर बैठी है, उसे जाकर कफन पहना या मुझे जहर दे दे···"।

उनकी पत्नी जब कपड़े फेंकती है तो नौकर को लाज आती है, सक्सेना साहब को लाज आती है और पुष्पा को लाज आती है ! सबको एक-दूसरे से लाज आती है। अहाते में खुले नल की मोटी धार नंगे पत्थर पर पछाड़ें खा रही है—

घर घर···घर घर···छर्र र् र् र् र्।

चाय का एक-एक प्याला बढ़ाकर पुष्पा गई नहीं, वहीं बेंच के पास खड़ी हो गई। सक्सेना साहब जिस तरह चुप-चुप बैठे हुए थे उससे देवन्द्र को लग रहा था कि उसे अधिक देर नहीं बैठना है, बस चाय पीकर वह चल देगा। बार-बार साहस करके भी वह पूछ नहीं पाया कि उनकी पत्नी अब कैसी है। सक्सेना साहब को ब्लड-प्रेशर है और पिछली बार जब वह बीमार पड़े थे तो डॉक्टरों ने उन्हें मना किया था कि शराब उन्हें बिल्कुल छोड़ देनी चाहिए। संभवतः इसका मोह उन्हें पुष्पा से भी अधिक है। पुष्पा को तो देवेन्द्र देख रहा है, उसके विषय में क्या पूछेगा ? बचाने के नाम पर उन्होंने आज बस अपने बीमार शरीर को ही किसी तरह बचाए रखा है।

देवेन्द्र से पूछा, "विनय कहां है ? दिखाई नहीं देता।"

"उसे मैंने ब्रदर के पास भेज दिया है। वहां रहेगा तो कुछ पढ़-लिख लेगा। यहां तो बस···"

कहते-कहते सक्सेना साहब जरा रुके और पुष्पा की ओर देखकर रूखे और आदेश देने के स्वर में चिड़चिड़ाकर कहा—

"तुम यहां क्यों खड़ी हो, भीतर जाओ।"

दीवार में पीठ सटाए खड़ी पुष्पा अपमानित-सी सक्सेना साहब को घूरने लगी, फिर देवेन्द्र को छिछलती आंखों से देखती हुई बहुत आहिस्ते से लौटी और परदे के भीतर हो गई।

पहले सक्सेना साहब इस मामले में बड़े सख्त थे। चाहकर भी पुष्पा को उन्होंने अधिक शिक्षा नहीं दिलवाई और आठवीं के बाद स्कूल से उसका नाम

हटवा लिया। उसे कभी इतनी छूट नहीं थी कि वह बिला वजह बरामदे या खिड़की पर खड़ी रहे या किसी बाहर के आदमी से आमने-सामने होकर बातें कर सके।

अब इतना तमाम साहस पुष्पा कहां से बटोर लाई है?

टूटी हुई बात जोड़ते हुए सक्सेना साहब ने कहा—"यहां विनय क्या देखेगा?—मुझे शराब पीते, पुष्पा को दिन-रात कुढ़ते और रोते और अपनी मां को कपड़े फेंककर आंगन में चिल्ला-चिल्लाकर गालियां बकते..."

शायद सक्सेना साहब और कहना चाहते थे, और कुछ कहते पर अचानक ऐसे चुप हो गए जैसे बिल्कुल थक गए हों और आगे उनसे बोला नहीं जाएगा।

बड़ी देर तक दोनों चुप रहे। सक्सेना साहब ने टूटे हुए स्वर में एक बात-भर कही, "मैं बीमार और कमजोर हो गया हूं, इसलिए पुष्पा भी अब मेरी बात टाल जाती। मुझे कुछ नहीं समझती।"

उनकी वह बात ऐसी कही गई जैसे देवेन्द्र से न कही जाकर अपने-आपसे कही गई हो। महज शब्दों को किसी तरह होंठों से अलग कर फेंक देने जैसी निर्ममता।

अचानक आरामकुर्सी से अपना सिर जरा-सा उठाकर उन्होंने पूछा, "तुम कायस्थ हो क्या?"

उस आकस्मिक प्रश्न का अर्थ देवेन्द्र को भीतर-बाहर से झिंझोड़ गया। उसका क्या जवाब हो सकता है? उससे तो सच-झूठ कुछ भी नहीं बोला जाएगा। जरा ठहरकर जवाब के लिए देवेन्द्र ने सक्सेना साहब पर सहमी-सहमी दृष्टि डाली। सिर उन्होंने फिर से आरामकुर्सी पर टिका दिया था और पैरों को फैलाकर, जरा और इत्मीनान से, निढाल होकर उन्होंने ऐसे आंखें मूंद ली थीं जैसे केवल एक प्रश्न करके ही किसी कर्त्तव्य से अपने को हल्का कर लिया हो।

अकस्मात भीतर से किवाड़ों को हथेलियों से पीटने और भड़भड़ाने की आवाज आई, फिर भद-भद दौड़ने, चीखने, रोने और गालियां बकने की...

जैसे हड़बड़ाकर सक्सेना साहब उठे और देवेन्द्र की उपस्थिति बिल्कुल भूलकर दरवाजे तक चले गए। पर वहां शायद कुछ याद आया, रुककर पलटे, देवेन्द्र की ओर देखा और ऊबे हुए स्वर में बोले—

"अब तुम जाओ भाई, अपना काम करो।"

सक्सेना साहब के भीतर चले जाने के बाद भी देवेन्द्र से कुछ देर उठा नहीं गया। जितनी देर बैठा रहा, मन में यही बुनता-उधेड़ता रहा कि अपने नगर लौटने पर लोगों से सक्सेना साहब की भेंट की बात वह किस तरह कहेगा।

वहां से उठते-उठते ही मौसम बदल जाने की बात अजीब थी। आध-पौन घंटा पहले जब देवेन्द्र आया था तो धूप के पंख हालांकि पीले-सुनहरे पड़ने लगे

थे, लेकिन आकाश में गीले बादलों का नाम न था। धूप के घुलते ही एक ओर से बादल झुकने लगे और थोड़ी ही देर में हवा नम होकर अहाते की नंगी जमीन तक सरक आई। सामने का गठानों वाला खजूर तेज हवा के झोंकों में पींड समेत डोल रहा था। सूखा हुई टहनियां पींड के झूमने से इधर-उधर टकराती हैं—

कट कट…कट कट…

गेट के पास पहुंचकर देवेन्द्र रुका। सक्सेना साहब ने भीतर के हलचल को जाते ही थाम लिया था। उस मकान को अंतिम बार देखते-देखते देवेन्द्र चौंक गया। सामने वाली खिड़की खुली थी और उसकी लोहे की सलाखों को अपनी दोनों मुट्ठियों में मजबूती से कसे हुए पुष्पा उस पर पेशानी और चेहरा टिकाए उसकी ओर एकटक देख रही थी।

हवा में इतनी नमी थी कि देवेन्द्र को सर्दी-सी लगने लगी और उसके जिस्म का रोंया-रोंया सजग होकर कंप गया। ग्यारह वर्ष पहले भी पुष्पा ने इसी तरह देखा था। देवेन्द्र वहां बड़ी देर तक खड़ा रहा। जब सामने वाले खजूर के 'कट-कट' का स्वर और तेज हो गया तो अचानक उसके मन में एक कोफ्त हुई और वह अपने को कोसने लगा कि उसने धतूरे का पौधा आज तक क्यों नहीं देखा—

जाने उसका फूल कैसा होता होगा! △

जली हुई रस्सी

अपने बर्फ जैसे हाथों से वाहिद ने गर्दन से उलझा मफलर निकाला और सफिया की ओर फेंक दिया। पलक-भर वाहिद की ओर देखकर सफिया ने मफलर उठाया और उसे तह करती हुई धीमे स्वर में बोली, "क्या मीलाद में गए थे ?"

वाहिद ने बड़े ठंडे ढंग से स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया और पास की खूंटी में कोट टांग खिड़की के पास आया। खिड़की के बाहर अंधेरा था, केवल सन्नाटे की ठंडी सांय-सांय थी, जिसे लपेटे बर्फीली हवा बह रही थी। किंचित् सिहरकर वाहिद ने खिड़की के पल्ले लगा दिए और अपने बज उठते दांतों को एक-दूसरे पर जमाकर बोला, "कितनी सर्दी है ! जिस्म बर्फ हुआ जा रहा है, चूल्हे में आग है क्या ?"

प्रश्न पर सफिया ने आश्चर्य से वाहिद की ओर देखा। बोली नहीं। चुपचाप खाट पर लेटे वाहिद के पास आई, बैठी और उसके कंधे पर हाथ रख कर स्नेह-सिक्त स्वर में बोली, "मेरा बिस्तर गर्म है, वहां सो जाओ।"

वाहिद अपनी जगह लेटा रहा, कुछ बोला नहीं। थोड़ी देर के बाद उठकर

पास ही पड़ी पोटली खींची, उसकी गांठें खोलीं और कागज की पुड़िया रूमाल से अलग कर बोला, "शीरनी है, लो, खाओ।"

"रहने दो," सफिया बोली, "सुबह खा लूंगी। क्या मीलाद में बहुत लोग थे? किसके यहां थी?"

"वकील साहब के यहां। एक तो ग्यारहवीं शरीफ की मीलादें और दूसरे इतनी सर्दी।"

वाहिद ने रजाई गर्दन तक खींच ली। अनायास भर उठने वाली झुरझुरी से एक बार सिहरकर अपना जिस्म समेटा और एक कोने में हो रहा। बंद किवाड़ों को धक्का मारकर अंधेरे और शीत में ठिठुरती हवा लौट गई और किवाड़ों की दराज से सिमटकर हवा दोशीजा की नटखट छुअन की तरह गर्म रजाई में भी वाहिद को छूकर कंपा गई।

पास वाले मकान से एक शोर उठ रहा था, एक बड़ी मीठी चहल-पहल, जिसमें पुरुष-स्त्रियों के स्वर और हंसी-मजाक के फव्वारे, देगों की उठा-पटक, बल्लियों और कफगीरों के टकराने और झनझनाने की आवाजों के साथ घुले-मिले थे।

सफिया ने कहा, "मुनीर साहब के यहां कल सुबह दावत है।"

वाहिद ने सुन-भर लिया और आंखें बंद कर लीं।

मुनीर साहब वाहिद के घर के पास ही रहते थे। आज से कोई छह साल पहले मुनीर साहब किसी सेठ के यहां मुनीम थे, पर बाद में उन्होंने नौकरी छोड़ दी और गल्ले का व्यापार शुरू कर दिया। किस्मत अच्छी थी, अतः दो साल के अंदर ही उन्होंने हजारों रुपये कमाए और अपना पुराना माटी का कच्चा मकान तुड़वाकर पक्का और बड़ा मकान बनवाया।

उस दावत की चर्चा वाहिद पिछले कई दिनों से सफिया से सुन रहा था। मुनीर साहब की पत्नी ने, जो अक्सर वाहिद के यहां दोपहर में आ जाया करती थीं, दो सप्ताह पहले ही अपने यहां होने वाली दावत की घोषणा कर दी थी। जब कभी सफिया से भेंट हुई, थोड़ी इधर-उधर की चर्चा के पश्चात् बात ग्यारहवीं शरीफ के महीने, मिलादों और दावतों पर पलट आई और उसने बातों-ही-बातों में कई बार सुनाया कि उनके यहां की दावत में कितने मन का पुलाव, कितना जर्दा और कितने बकरे कटने को हैं और इतने दिन पहले ही उनके रिश्तेदार चावल-दाल चुनने-बीनने और दूसरे कामों के लिए आ गए हैं। इस जरूरत से ज्यादा इंतजाम करने के लिए उन्होंने सफाई दी कि मीलाद, तीजा और किसी धार्मिक काम में चाहे लोग न आएं, पर खाने की दावत हो, तो एक बुलाओ, चार आएंगे। जब मामूली दावतों का यह हाल होता है, तो फिर यह तो आम दावत है।

सफिया को बुरा न लगा हो, ऐसी बात नहीं, पर उसने कभी कुछ नहीं कहा।

वही दावत कल होने जा रही थी।

बड़ी देर से छा गई चुप्पी को सहसा तोड़कर बड़े निराश स्वर में सफिया बोली, "मुनीर साहब की बीवी के पांव तो जमीन पर ही नहीं पड़ते। इतनी उम्र हो गई, फिर भी जेवरों से लदी पीली-उजली दुल्हन बनी फिरती है। भला बहू-बेटियों के सामने बुढ़ियों का सिंगार क्या अच्छा लगता है?"

वाहिद ने करवट बदली और एक लंबी सांस लेकर कहा, "जिसे खुदा ने दिया है, वह क्यों न पहने? अपने-अपने नसीब हैं, सफिया!"

सफिया को संतोष नहीं हुआ। थोड़ी देर चुप रहकर बड़े भरे हुए स्वर से बोली, "एक अपने नसीब हैं! खुदा जाने, तुम्हारे मुकदमे का फैसला माटी मिला कब होगा?" और सफिया के भीतर से एक बड़ी लंबी और गहरी सांस निकली जो सीधे वाहिद के कलेजे में उतर गई।

वाहिद एक ढीला-ढाला, मझोले कद का आदमी था। गरीबी और अभाव से उसका परिचय बचपन से ही था। बड़ी आर्थिक कठिनाइयों के बीच आठवीं तक ही शिक्षा प्राप्त कर सका था। आठवीं के बाद किसी तरह कोशिश कर-कराके उसे फारेस्ट डिपार्टमेंट में फारेस्ट गार्ड की नौकरी मिल गई और आठ साल के भीतर ही वह डिप्टी रेंजर तक पहुंच गया। जंगल महकमे वालों को भला किस चीज की कमी। चार साल के अंदर ही वाहिद के नाम पोस्ट ऑफिस में डेढ़ हजार की रकम जमा हो गई, जिसमें से सात सौ उसके ब्याह में खर्च हुए। पर सफिया का भाग्य शायद अच्छा नहीं था। पूरे दो साल भी सुख से नहीं रह पाई थी कि वाहिद रिश्वत के आरोप में मुअत्तल कर दिया गया। वाहिद ने बहुत हाथ-पांव मारे। पोस्ट ऑफिस से तीन सौ और निकल गए। हेड क्लर्क की कई दावतें हुईं। रेंज आफिसर साहब (जिनके सर्किल में वाहिद आता था और जिसने रिपोर्ट आगे बढ़ाई थी) के यहां उसने कई बार मिठाई, फलों की टोकरियां और शहर के भारी-भरकम आदमियों से ढेर सारी सिफारिशें भिजवाईं और डी० एफ० ओ० साहब की बीवी के पास (हालांकि उससे पहले एक बार भी वहां जाने का अवसर नहीं आया था) सफिया को दो-तीन बार भेजा, पर हुआ कुछ भी नहीं। केस पुलिस को दे दिया गया और वाहिद पर मुकदमा चलने लगा।

पहले कुछ महीने तो वाहिद को काफी सांत्वनाएं मिलीं कि केस में कोई दम नहीं, खारिज हो जाएगा। यहां वाले ज्यादती और अन्याय करें, पर ऊपर

तो सवकी चिंता रखने वाला है और वाहिद के केस के साथ अकेले वाहिद का नहीं, दो और जनों का भाग्य जुड़ा है। अगर वाहिद दोषी भी है, तो वे लोग तो निर्दोष हैं, इत्यादि।

जव एक साल का अर्सा वीत जाने पर मुकदमा तय नहीं हुआ, पोस्ट ऑफिस से पूरे पैसे निकल गए और सफिया के जिस्म पर एक भी जेवर वाकी न रहा, तो वाहिद की हिम्मत टूट गई और पहले जुम्मे के अलावा कभी भी मस्जिद की ओर रुख न करने वाला वाहिद पांचों वक्त नमाज पढ़ने लगा।

लगभग दो साल के वाद फैसला हुआ और आशा के विपरीत, अच्छे-से-अच्छे वकील लगाने के वावजूद, वाहिद को साल-भर की सजा हो गई।

वैसे तो अकस्मात् टूट पड़ने वाली मुसीवत पहाड़ से कम न थी, पर रिश्तेदारों और दोस्तों ने मिलकर हाईकोर्ट में अपील करने का किसी-न-किसी तरह प्रवंध कर दिया और पूरे डेढ़ वरस से वाहिद हाईकोर्ट के फैसले का इंतजार कर रहा है, भले उस प्रतीक्षा में एक जून के खाने के वाद दूसरे जून की चिंता की चिड़चिड़ाहट, सफिया की शिकायतें, दिन-प्रतिदिन टूटता उसका स्वास्थ्य और उस दुर्दिन में मां वनने के पहले की एहतियात, आवश्यक दवाई व देख-भाल की सारी समस्याएं शामिल थीं।

मुनीर साहव के यहां से देगों में भारी कफगीरों के फेरने-टकराने का स्वर गूंजा, वड़े जोर से छनन-छन् की आवाज हुई और फिर घी में पड़े ढेर सारे मसालों की मीठी-सोंधी खुशवू फैल गई।

घी अव वाहिद के लिए ख्वाव है। जव तक लोअर कोर्ट से फैसला नहीं हुआ था, ऑफिस से मुअत्तली का एलाउंस मिल जाया करता था, उसका ही सहारा कम न था। पर अव कहीं का कोई आसरा नहीं। उन कड़वे दिनों को वाहिद और सफिया मिलकर झेल भी लें, लेकिन उस मासूम जान का क्या होगा, जो वाहिद के दुर्दिन में ही सफिया के भाग्य में आने को थी? प्रोविडेंट फंड की जो भी थोड़ी-वहुत रकम जमा थी और वापस मिलने को थी, उसके जाने के वहुत से रास्ते पहले से तैयार थे, अतः उसका क्या भरोसा?

एक दिन झिझकती हुई सफिया वोली, "एक वात कहूं!"

पल-भर के लिए वाहिद डर-सा गया, पता नहीं, सफिया कौन-सी वात कहेगी। तुरंत जवाव देते नहीं वना। क्षण-भर उसकी ओर देखता रहा, फिर पास जाकर अपनी हथेलियों में उसका चेहरा वड़ी उदास आंखों से देखने लगा, "क्या कहती हो?"

सफिया वोली, "प्राविडेंट फंड के पैसे मिलेंगे, तो घी ला दोगे? वहुत

दिनों से अपने यहां पुलाव नहीं वना ।"

वाहिद के भीतर जैसे किसी ने हाथ डालकर खंगाल दिया हो । अपने को किसी तरह संयत कर पहले वह धीरे से मुस्कराया, फिर जरा जोर से वनाई हुई हंसी हंसता हुआ वोला, "वस ?"

सफिया संकोच से लाल होकर मुस्कराती हुई वाहिद के सीने में छिप गई ।

वहां से हटकर वाहिद जव दूसरे कमरे में आया, तो निढाल-सा खाट में पड़ गया । भीतर से उफनती रुलाई का आवेग पलकों और ओंठों पर विछल रहा था । मुंह पोंछने के वहाने रूमाल से उसने आंखें पोंछीं और अपने लरज रहे ओंठ वाजू में भींच लिये ।

उस वात को भी तीन माह हो गए । सफिया ने एक-दो वार अप्रत्यक्ष रूप से पूछने की कोशिश की और चुप रह गई । उस रकम की वाहिद को आज भी प्रतीक्षा है ।

वाहिद ने करवट वदली । मुनीर साहव के यहां का शोर थम गया था और इक्की-दुक्की आवाजें आ रही थीं । सफिया थककर सो गई थी ।

सर्दी की सुवह वाहिद के लिए आठ से पहले नहीं होती । पर उस दिन देर से सोने पर भी सुवह आंख जल्दी ही खुल गई । वैसे काम होने या न होने पर भी वह चाय आदि से निवट कर नौ से पहले ही वाहर निकल जाता है, लेकिन उस दिन उसकी चाय दस वजे हुई ।

वाहर मुनीर साहव के यहां भीड़ इकट्ठी हो रही थी । साइकिल और पांवों की रौंद से उभड़-उभड़कर उठती धूल का वादल फैल-विखर रहा था । और दिनों की तरह चाय देते समय आज सफिया ने न तो राशन के समाप्त होने की वात कही और न ही पूछा कि आज वाहिद कहां से क्या प्रवंध करेगा । पिछली रात भी कुछ नहीं था । सुवह का वच रहा थोड़ा खाना वाहिद और सफिया ने मिलकर खा लिया था । रात की मीलाद की शीरनी नाश्ते का काम दे गई थी ।

वाहिद ने पूछा, "क्यों, क्या मुनीर साहव के यहां से कोई आया था ?"

सफिया ने थोड़ा झिझकते हुए जवाव दिया, "नहीं, हजाम आया था, आम दावत की खवर दे गया है ।"

वाहिद ने और कुछ नहीं पूछा और वाहर निकल आया । मुनीर साहव के घर के सामने से लेकर सड़क के दूसरे मोड़ तक लोगों का आना-जाना लगा था । रंगीन धारीदार तहमद लपेटे, सफेद और काली टोपियां लगाए, सिर में रूमाल वांधे लोग मुनीर साहव के घर की ओर वढ़ रहे थे । एकाएक सामने

से रिजवी साहव दिखाई दिए। वाहिद उनसे कतराना चाहता था, पर जव सामने पड़ ही गए, तो वरवस मुस्कराकर आदाव करना ही पड़ा। रिजवी साहव के साथ नौ से लेकर तीन साल तक के चार वच्चे चल रहे थे, जिनके सिरों पर आड़ी-टेढ़ी, गंदी और तेल में चीकट, मुड़ी-मुड़ाई टोपियां थीं।

रिजवी साहव ने मुस्कराकर पूछा, "क्यों भाई, मुनीर साहव के यहां से हो आए क्या ?"

वाहिद ने झिझककर कहा, "जी, नहीं।"

वाहिद से रिजवी साहव बोले, "तो फिर चलो न ?"

वाहिद क्षण-भर चुप रहा। फिर संभलकर वोला, "आप चलिए, मैं अभी आया।"

रिजवी साहव आगे वढ़ गए।

कोई दो घंटों के वाद जव वाहिद लौटा, तो मुनीर साहव के घर के सामने से भीड़ छंट गई थी, पर महफिल अभी भी चल रही थी। कोई पूछे या न पूछे, स्वागत करे या न करे, लोग आते, सामने के नल पर हाथ धोते और वैठ जाते थे।

एक ओर से कंधे पर कपड़े से ढंका तश्त लिए, चिचोड़ी गई हड्डियों के गिर्द फैले ढेर सारे कुत्तों को हकालती हमीदा की मां निकली। हमीदा की मां पिछले पांच वरसों से मुनीर साहव के यहां नौकर थी। अक्सर तीज-त्यौहार के मौके पर मुनीर साहव के यहां से शीरनी लेकर हमीदा की मां ही वाहिद के यहां आया करती थी। उससे वात करने की न तो कभी वाहिद को आवश्यकता ही पड़ी और न अवसर ही आया। फिर भी वाहिद ने आज रोककर पूछा, "हमीदा की मां, क्या लिए जा रही हो ?"

हमीदा की मां ने पल्लू संभालकर कहा, "खाना है, भैया, सिटी साहव के यहां पहुंचाने जा रही हूं।"

"भला वह क्यों ?"

"अव पता नहीं, सिटी साहव आम दावत में आना पसंद करें, न करें, सो वेगम साहवा भिजवा रही हैं।"

और हमीदा की मां आगे वढ़ने लगी, तभी एकाएक चौंककर, (जैसे कोई विशेष और महत्त्वपूर्ण वात छूटी जा रही हो) जरा आवाज ऊंची करके, रोकने के अंदाज में वाहिद ने पूछा, "और कहां-कहां ले जाना है, हमीदा की मां ?"

हमीदा की मां ने थोड़ा रुककर कहा, "पता नहीं, भैया ! फिर भी इतना जानती हूं, अभी मेरी जान को छुटकारा नहीं।"

वाहिद ओंठों में ही मुस्कराया और मुनीर साहव के घर की ओर वढ़ा। सामने आंगन में दो-तीन वड़ी-वड़ी दरियां (जो संभवत: हर दावत में पहुंच-

पहुंचकर गंदी हो चली थीं) बिछी हुई थीं, जिन पर साफ, नये कपड़े पहने कुछ बच्चे खेल रहे थे। पास के नल से क्षण-प्रतिक्षण वह रहे पानी से आंगन के आधे हिस्से में कीचड़ फैल चुका था। पास ही दो-तीन चारपाइयां डाल दी गई थीं। चारपाइयां शायद उन उम्मीदवारों के बैठने के लिए थीं, जो देर से आने के कारण चल रही पांत समाप्त होने और दूसरी पांत के प्रारंभ होने की प्रतीक्षा करते हैं। उन्हीं लोगों में से क्या वाहिद भी है? वह बड़े फीके ढंग से मन-ही-मन हंसा। रस्सी भले ही जल गई हो, पर उसका बल क्या इतनी जल्दी निकल जाएगा?

वाहिद थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा। वहां बैठने-बिठाने अथवा पूछने के लिए किसी की आवश्यकता नहीं थी। लोग आते थे, जाते थे।

भीतर के कमरे से, जहां खाना चल रहा था, बर्तनों की टकराहट के स्वर के साथ पुलाव की महक आसांसों के साथ वाहिद के फेफड़ों में भर गई। मुंह भर आया, घूंट हलक के नीचे उतारकर वाहिद एक ओर खड़े दांत खोदते और थूकते दो-तीन दाढ़ी वाले बुजुर्गों के पास जा खड़ा हुआ। दांत के अंतरों में फंस गए गोश्त के टुकड़ों को तीली से निकाल फेंकने की जी-तोड़ कोशिश करते हुए उन लोगों ने केवल वही सवाल किया, जिसका जवाब वाहिद पिछले डेढ़ बरस से प्रायः हर मिलने वाले को दिया करता था कि उसके केस का क्या हुआ, किस वकील को लगाया है, कितनी पेशियां हो गईं और अपील के फैसले में और कितनी देर है? आदि।

वाहिद ने सैकड़ों बार कही बात एक बार फिर अनमने ढंग से दोहरा दी। तभी दरवाजे के पास मुनीर साहब दिखाई दिए। इधर से ध्यान हटाकर वाहिद ने मुनीर साहब के चेहरे की तरफ अपनी आंखें जमा दीं। पर लगातार कई मिनटों तक मुनीर साहब की ओर मुस्कराकर देखते रहने पर भी उनका ध्यान वाहिद की ओर नहीं लौटा और वह अपने किसी नौकर को कुछ हिदायतें देकर लौटने लगे, तो अपनी जगह से एकदम आगे आ, पुकारकर वाहिद ने कहा, "मुनीर साहब, आदाब अर्ज है!"

मुनीर साहब जाते-जाते पल-भर को रुके, आदाब लिया, वाहिद की ओर देखकर मुस्कराए और तेजी से भीतर चले गए।

एकदम पीछे अपनी जगह पर लौटने के पूर्व वाहिद ने सुना, पास के दाढ़ी वाले सज्जन उसका नाम लेकर पुकार रहे थे। लौटकर देखा, तो उन्होंने कहा "वाहिद मियां, पान लीजिए।"

एक कम उम्र का लड़का वाहिद के आगे पान की तश्तरी बढ़ाए खड़ा था। क्षण-भर रुककर वाहिद ने अपने गिर्द देखा, सामने खड़े लड़के पर एक निगाह डाली, तश्तरी से एक पान उठाकर मुंह में रखा और लौट रहे लोगों के

पीछे हो लिया।

घर पहुंचकर देखा, सफिया तकिये में मुंह डाले चुपचाप पड़ी थी। बावर्ची-खाने की ओर निगाह गई, चूल्हा लिपा-पुता साफ था और धुले-मंजे बर्तन चमक रहे थे। वाहिद को देखकर सफिया उठ बैठी और अपनी ओर घूरकर देख रहे वाहिद की आंखों में केवल निमिष-भर के लिए देखकर ठंडे से स्वर में पूछा, "कितने लोग थे दावत में ? हमीदा की मां तो नहीं आई ?"

वाहिद के जले पर जैसे किसी ने नमक छिड़क दिया हो। तिलमिला कर तीखे स्वर में उसने क़हा, "हमीदा की मां की ऐसी की तैसी ! मैं ऐसी दावतों में नहीं जाता, यह जान कर भी तुम ऐसे सवाल करती हो ? हमने क्या पुलाव नहीं खाया ? जिसने न देखा हो, वह सालों के यहां जाए !" △

हाशिए

बड़ी देर तक हाथ में पत्र लिए-लिए मैं यही सोचता रहा कि क्या जवाब भेजना चाहिए; लेकिन जब कुछ सूझा नहीं तो फिर से उसे अलट-पलटकर देखने लगा।

बिल्कुल निवास बाबू के अक्षर थे। वही आड़ी-आड़ी और अस्थिर लिखावट। जरा से मजमून के लिए भी एक शीट कागज उठाना और खूब बड़ा हाशिया छोड़कर अलग-अलग लिखना, दफ्तर में एक उन्हीं की आदत थी। सबों से मुस्कराकर विनम्रतापूर्वक बातें करना उनका स्वभाव बन गया था। शायद इसीलिए उस पत्र में भी वह जैसे दयनीय हो गए थे।

"कोई जवाब देंगे साब ?"

सहसा मेरे उत्तर की बाट देखते हुए चपरासी ने धीरे से पूछा।

मैं चौंका नहीं, जैसे मन-ही-मन उसी प्रश्न की अपेक्षा कर रहा था। वैसी ही आंखों से उसे एक पल देखकर मैंने चिट्ठी लौटा दी और बोला, "निवास बाबू से कहना मैं उनसे शाम को मिल लूंगा।"

"उन्हें आपने लिख दिया है ?"

"नहीं, इसमें क्या लिखना है ? मैंने जो कहा है जवानी वता देना।"

उस लौटे हुए खत को पकड़ते हुए वह एक क्षण के लिए ठिठका था। दो उंगलियों से चिट्ठी के अगले सिरे को कची की तरह पकड़कर उसने अपनी दूसरी हथेली फैलायी और थोड़ी देर उसे देखता रहा। लगा, जैसे कुछ कहना चाहता हो; लेकिन शायद साहस नहीं हुआ। धीरे से मोड़कर जेव में रखते हुए उसने हाथ उठाए और खट-खट करता हुआ सीढ़ियां उतर गया।

एक सांस खींचकर मैं वहां से उठा; लेकिन दरवाजा वंद करके भीतर आते-आते निवास वावू की तस्वीर पूरी-की-पूरी इस तरह आंखों के आगे उभर आई जैसे भीतर के दरवाजे पर चौखट को घेरे हुए वह खड़े हैं और मुझे रोक लेना चाहते हैं। अजीव हुलिया है! वत्तीस की उम्र में खिचड़ी हुए वाल विखरकर माथे पर झूल आए हैं, चश्मे की कमानी एक कान से सरक गई है, कुरते के सारे वटन खुले हैं, विना वनियान वाली उनकी उघड़ी छाती के काले-सफेद वाल वाहर झांक रहे हैं और उनकी आंखों की वहशत से लगता है जैसे अभी-अभी किसी से झगड़ा करके आ रहे हों।

इधर जव-जव निवास वावू के वारे में सोचता हूं पता नहीं क्यों उनकी यही तस्वीर मेरी आंखों में उभर आती है; हालांकि उन्हें ऐसी हुलिया में मैंने कभी नहीं देखा और न ही इस अरसे में वह किसी से लड़ते-झगड़ते ही दिखाई दिए।

सचमुच उन्हें यहां आए हुए क्या साल-भर नहीं हो गया ? वर्ष में वारह महीने और उन महीनों में इतने-इतने दिन होते हैं; लेकिन आज भी दफ्तर के अधिकांश साथियों के लिए वह उतने ही अपरिचित हैं जितने पहले दिन थे। ठीक वक्त पर आकर अपनी कुर्सी पर वैठ जाना, जिसने सलाम-दुआ की उससे व्यवहार वरतना और पांच वजे तक, एकाध वार वाहर जाने को छोड़कर, कुर्सी से हिले विना काम करना या चुपचाप वैठे सोचते रहना—यही निवास वावू थे। सेक्शनल ऑफिसर के आने के पहले चाहे सारे वावू लोग अपनी-अपनी कुर्सियां छोड़कर इधर-उधर गप्पें लगाएं, निवास वावू कभी एक वार भी किसी दूसरे की मेज तक जाते नहीं देखे गए।

याद है, पहले दिन ही उनके विषय में वड़ी अजीव धारणा वना ली गई थी। उस दोपहर को लोग चाय के लिए कैंटीन में इकट्ठे हुए तो निवास वावू को छोड़कर वाकी सारा स्टाफ था। इसकी-उसकी क्षमता-अक्षमताओं और वुराइयों के वाद निवास वावू की चर्चा निकली। चाय पीने के लिए उनके न आने पर आश्चर्य प्रकट किया गया और अंत में कोई उन्हें वुला लाया।

विल्कुल सहमते-सहमते, लेकिन वाहर से मुस्कराते हुए आकर वह मेरी ही मेज के पास खड़े हो गए थे। वड़े आग्रह के वाद कहीं वह वैठे। सारा

वक्त वहां चुपचाप बैठकर गुजार दिया; लेकिन एक घूंट चाय नहीं पी। प्रायः सभी ने उनसे आग्रह किया था; पर उन्होंने हाथ जोड़कर क्षमा मांग ली कि चाय वह कभी नहीं पीते। यह सब तब भी हुआ था जब सिगरेट बढ़ाई गई थी और फिर बाद में पान।

हर बार उन्हें हाथ जोड़ते देख कुछ लोग तो एक-दूसरे की ओर मुस्कराकर ही रह गए; पर शर्मा ने कहा था—"निवास बाबू, चाय आप पीते नहीं, पान छूते नहीं और सिगरेट से परहेज है—आखिर जिंदा किसलिए हैं।"

किसी ने पीछे से एक कड़वी बोली फेंकी थी—"अरे, चाय भी कोई पीने की चीज है।"

उस पर सभी लोग ठठाकर हंस पड़े और मैंने देखा कि निवास बाबू की अजीब हालत है—न किसी से आंखें मिलाकर देख पा रहे हैं, न ही सिर झुकाकर बैठे रहने का साहस है। न मुस्कान-हंसी, न चेहरे पर उतार-बिगाड़··· बस किसी तरह मेरे पास चुपचाप खड़े हैं।

उसके कई माह बाद की बात है। अपने एक मित्र के लिए मकान की तलाश में कुछ अजीब-अजीब गलियों और मुहल्लों में भटकना पड़ा था। उसी चक्कर में एक सुबह देखा कि एक मकान के सामने नंगे बदन, सिर्फ एक तहमद लपेटे हुए, बच्चे को गोद में लेकर निवास बाबू टहल रहे हैं। मुझे देखकर एक क्षण के लिए ठिठके जरूर; लेकिन अनदेखा कर दिया और थोड़ी देर बाद ही भीतर घुस गए। पहली बार मैंने जाना कि निवास बाबू वहां रहते हैं।

निहायत मैली और घुटी-सी गली थी। अगल-बगल पड़े गिट्टियों के ढेर के कारण रास्ता और भी छोटा पड़ गया था और सामने के मकानों की खुली गंदगी के कारण अधिक देर तक अपनी दहलीज पर भी खड़े रहना कठिन था। यह समझते हुए भी कि निवास बाबू शायद मुझे अपने घर पर देखना पसंद न करें, जाना पड़ा था। उन्हें आवाज दी और कई बार नाम ले-लेकर पुकारा तो वे बाहर निकले। नंगे बदन और शरीर पर वही पुरानी धोती वाली तहमद। इस बार बच्चा भीतर छोड़ आए थे। खुद ही दहलीज से नीचे उतरकर मुझे निपटाने के ढंग से बोले—"कहिए···"

झूठ नहीं कहूंगा, उस दिन सचमुच बुरा लगा था। सोचकर बड़ी कोफ्त हुई थी कि पढ़े-लिखे होकर मामूली शिष्टाचार तक निभाना भी उन्हें नहीं आता; लेकिन दूसरी बार गया तो वह शिकायत नहीं रही। भीतर बच्चों में घिरा बैठा था, उनसे घर-परिवार की बात की थी और अंत में उनके आत्मीय की तरह सारे बच्चों के प्रणाम पाते हुए निकला था।

इतना ही छोटे-छोटे दो कमरों का घर। एक में रसोई बनती है, दूसरे में बच्चे और निवास बाबू बने होते हैं। कल्पना करता हूं कि रात में सोने के

लिए घर का नक्शा जरूर बदल जाता होगा; क्योंकि चार-चार बच्चे हैं और बड़ी लड़की की उम्र ग्यारह-बारह की हो गई होगी।

उसी बच्ची को चाय के दो प्याले लेकर आते देखा तो विश्वास नहीं हुआ। पूछा था, "निवास बाबू, यह क्या है? आप तो चाय नहीं पीते न?"

सही-साबित प्याला मेरी ओर बढ़ाकर उन्होंने स्वयं टूटे हैंडिल का कप उठाया और हंसकर बोले, "क्यों, ऑफिस की कैंटीन में नहीं पीता क्या इसी-लिए?"

मैंने याद दिलाया कि उन्होंने खुद चाय न पीने की बात कही थी। प्याले की चाय को फूंकते और ठंडी करते हुए वह थोड़ी देर चुप रहे, फिर मेरी ओर न देखते हुए कहा, "सच कहूं, आप बुरा तो नहीं मानेंगे? चाय मैं पीता हूं लेकिन कैंटीन में मुझे टालना पड़ जाता है। दरअसल, एक प्याला खुद पीकर चार दोस्तों को पिलाऊं, ऐसी हैसियत मेरी नहीं है। उतने में तो मेरे परिवार के हफ्ते-भर का खर्च चलता है।"

और अचानक मुझे याद आया कि दूध के खर्च से बचने के लिए पिछले दिनों मैंने भी काली चाय शुरू की थी। पूछे जाने पर हर किसी के सामने दलील रखता था कि चाय तो शुद्ध चाय होनी चाहिए। दूध और चाय की मिलावट के क्या मानी हुए?...

"कौन था?"

अचानक चाबियों की आवाज से चौंककर देखा कि भीतर के दरवाजे की चौखट पर निवास बाबू नहीं, पत्नी खड़ी है और जानना चाहती है कि अभी कौन आया था।

अपने को संयत करते हुए धीरे-धीरे चलकर मैं भीतर आया और न चाहते हुए भी बताना पड़ा कि निवास बाबू का आदमी था, चिट्ठी लेकर आया था।

"कैसी चिट्ठी, क्या कोई सरकारी?..."

"नहीं, सरकारी-अरकारी क्या होगी। उनकी खानगी ही थी। चालीस रुपए मांगते हैं।"

एक बार मुझे जांचती-सी आंखों से ताककर पत्नी बिल्कुल चुप हो गई; जैसे कुछ भी कहना व्यर्थ हो। अपने बैठ जाने के बाद भी मैं कुछ देर प्रतीक्षा करता रहा कि वह उत्सुकता दिखाकर कुछ पूछे तो बताऊं; पर देर तक उसने होंठ भी न खोले तो मैंने कहा, "निवास बाबू की पत्नी ने दो रोज पहले एक लड़की को जन्म दिया। उसी के लिए पैसे मांगते हैं। लिखा है कि—वैसी कमजोर हालत में कुछ टॉनिक-वानिक खिला सकना तो दूर, किसी तरह खिला

वक्त वहां चुपचाप बैठकर गुजार दिया; लेकिन एक घूंट चाय नहीं पी। प्रायः सभी ने उनसे आग्रह किया था; पर उन्होंने हाथ जोड़कर क्षमा मांग ली कि चाय वह कभी नहीं पीते। यह सब तब भी हुआ था जब सिगरेट बढ़ाई गई थी और फिर बाद में पान।

हर बार उन्हें हाथ जोड़ते देख कुछ लोग तो एक-दूसरे की ओर मुस्कराकर ही रह गए; पर शर्मा ने कहा था—"निवास बाबू, चाय आप पीते नहीं, पान छूते नहीं और सिगरेट से परहेज है—आखिर जिंदा किसलिए हैं।"

किसी ने पीछे से एक कड़वी बोली फेंकी थी—"अरे, चाय भी कोई पीने की चीज है।"

इस पर सभी लोग ठठाकर हंस पड़े और मैंने देखा कि निवास बाबू की अजीब हालत है—न किसी से आंखें मिलाकर देख पा रहे हैं, न ही सिर झुकाकर बैठे रहने का साहस है। न मुस्कान-हंसी, न चेहरे पर उतार-बिगाड़··· बस किसी तरह मेरे पास चुपचाप खड़े हैं।

उसके कई माह बाद की बात है। अपने एक मित्र के लिए मकान की तलाश में कुछ अजीब-अजीब गलियों और मुहल्लों में भटकना पड़ा था। उसी चक्कर में एक सुबह देखा कि एक मकान के सामने नंगे बदन, सिर्फ एक तहमद लपेटे हुए बच्चे को गोद में लेकर निवास बाबू टहल रहे हैं। मुझे देखकर एक क्षण के लिए ठिठके जरूर; लेकिन अनदेखा कर दिया और थोड़ी देर बाद ही भीतर घुस गए। पहली बार मैंने जाना कि निवास बाबू वहां रहते हैं।

निहायत मैली और घुटी-सी गली थी। अगल-बगल पड़े गिट्टियों के ढेर के कारण रास्ता और भी छोटा पड़ गया था और सामने के मकानों की खुली गंदगी के कारण अधिक देर तक अपनी दहलीज पर भी खड़े रहना कठिन था। यह समझते हुए भी कि निवास बाबू शायद मुझे अपने घर पर देखना पसंद न करें, जाना पड़ा था। उन्हें आवाज दी और कई बार नाम ले-लेकर पुकारा तो वे बाहर निकले। नंगे बदन और शरीर पर वही पुरानी धोती वाली तहमद। इस बार बच्चा भीतर छोड़ आए थे। खुद ही दहलीज से नीचे उतरकर मुझे निपटाने के ढंग से बोले—"कहिए···"

झूठ नहीं कहूंगा, उस दिन सचमुच बुरा लगा था। सोचकर बड़ी कोफ्त हुई थी कि पढ़े-लिखे होकर मामूली शिष्टाचार तक निभाना भी उन्हें नहीं आता; लेकिन दूसरी बार गया तो वह शिकायत नहीं रही। भीतर बच्चों से घिरा बैठा था, उनसे घर-परिवार की बात की थी और अंत में उनके आत्मीय की तरह सारे बच्चों के प्रणाम पाते हुए निकला था।

बहुत ही छोटे-छोटे दो कमरों का घर। एक में रसोई बनती है, दूसरे में बच्चे और निवास बाबू बने होते हैं। कल्पना करता हूं कि रात में सोने के

लिए घर का नक्शा जरूर बदल जाता होगा; क्योंकि चार-चार बच्चे हैं और बड़ी लड़की की उम्र ग्यारह-बारह की हो गई होगी।

उसी बच्ची को चाय के दो प्याले लेकर आते देखा तो विश्वास नहीं हुआ। पूछा था, "निवास बाबू, यह क्या है ? आप तो चाय नहीं पीते न ?"

सही-साबित प्याला मेरी ओर बढ़ाकर उन्होंने स्वयं टूटे हैंडिल का कप उठाया और हंसकर बोले, "क्यों, ऑफिस की कैंटीन में नहीं पीता क्या इसीलिए ?"

मैंने याद दिलाया कि उन्होंने खुद चाय न पीने की बात कही थी। प्याले की चाय को फूंकते और ठंडी करते हुए वह थोड़ी देर चुप रहे, फिर मेरी ओर न देखते हुए कहा, "सच कहूं, आप बुरा तो नहीं मानेंगे ? चाय मैं पीता हूं लेकिन कैंटीन में मुझे टालना पड़ जाता है। दरअसल, एक प्याला खुद पीकर चार दोस्तों को पिलाऊं, ऐसी हैसियत मेरी नहीं है। उतने में तो मेरे परिवार के हफ्ते-भर का खर्च चलता है।"

और अचानक मुझे याद आया कि दूध के खर्च से बचने के लिए पिछले दिनों मैंने भी काली चाय शुरू की थी। पूछे जाने पर हर किसी के सामने दलील रखता था कि चाय तो शुद्ध चाय होनी चाहिए। दूध और चाय की मिलावट के क्या मानी हुए ?...

"कौन था ?"

अचानक चाबियों की आवाज से चौंककर देखा कि भीतर के दरवाजे की चौखट पर निवास बाबू नहीं, पत्नी खड़ी है और जानना चाहती है कि अभी कौन आया था।

अपने को संयत करते हुए धीरे-धीरे चलकर मैं भीतर आया और न चाहते हुए भी बताना पड़ा कि निवास बाबू का आदमी था, चिट्ठी लेकर आया था।

"कैसी चिट्ठी, क्या कोई सरकारी ?..."

"नहीं, सरकारी-अरकारी क्या होगी। उनकी खानगी ही थी। चालीस रुपए मांगते हैं।"

एक बार मुझे जांचती-सी आंखों से ताककर पत्नी बिल्कुल चुप हो गई; जैसे कुछ भी कहना व्यर्थ हो। अपने बैठ जाने के बाद भी मैं कुछ देर प्रतीक्षा करता रहा कि वह उत्सुकता दिखाकर कुछ पूछे तो बताऊं; पर देर तक उसने होंठ भी न खोले तो मैंने कहा, "निवास बाबू की पत्नी ने दो रोज पहले एक लड़की को जन्म दिया। उसी के लिए पैसे मांगते हैं। लिखा है कि—वैसी कमजोर हालत में कुछ टॉनिक-वानिक खिला सकना तो दूर, किसी तरह खिला

पिलाकर माँ-बच्चे को जिंदा रख पाना ही कठिन हो गया है। मैंने बताया था न, कि निवास बाबू दो महीने से बिना तनख्वाह की छुट्टी पर हैं ?"

मुझे बिल्कुल आश्चर्य नहीं हुआ जब उस बात पर भी पत्नी ने कोई जवाब नहीं दिया, बिल्कुल चुपचाप वह अपने काम में लगी रही और जैसे अपने रुख से ही जाहिर कर दिया कि उन बातों का असर उस पर नहीं हुआ। चुप रहकर अपना काम करते जाना ही मानो कहना हो कि घर-घर मिट्टी के चूल्हे हैं और रोज कहीं न कहीं किसी का प्रसव होता रहता है। दूसरों पर दया दिखाते रहे तो हम क्या खाएंगे ?

चाहे उसकी अनुदारता हो या मेरा अपना स्वभाव, उसके बाद उस संबंध में कोई बात नहीं हुई और थोड़ी देर बाद पत्नी वहां से उठी तो मेरे लिए एक [illegible] लेती आई। महीने का पहला सप्ताह था और दो दिनों पहले वेतन मिला था। कई बार तकाजा कर चुकी थी कि घर के लिए राशन और किराना ले आऊं, आजकल करते-करते तो पैसे ही उठ जाते हैं। उस भरी दोपहरी में सामानों की लिस्ट लाकर देने का अर्थ मैं समझता था; लेकिन उसके लिए पत्नी को दोष देना व्यर्थ है। निवास बाबू की बात सोचता हुआ मैं बड़ी देर तक यही तय करता रहा कि अपने लेन-देन ओर जरूरतों में कहां किस तरह कटौती करके उनकी मदद की जा सकती है। बेचारे परदेस में पड़े हैं और किसी से ऐसे संबंध नहीं कि मदद ले सकें। उस पर ऐसी स्थिति और इतने-इतने बाल-बच्चे…

कई घंटे बीते और सारी दुपहरी चली गई। वहीं लेटे-लेटे कब आंखें लग गईं, नहीं जानता। जब नींद टूटी तो देखा कि शाम का अंधेरा काफी गाढ़ा हो गया है, घर में कंदीलें जला दी गई हैं और मुझे जगाती हुई पत्नी कह रही है — "सुनो, निवास बाबू आए हैं।"

उठते-उठते भी मुझसे खाट नहीं छोड़ी गई। उसी तरह लेटा हुआ अपने को कोसता रहा कि शाम को मिलने की खबर मैंने व्यर्थ ही भिजवा दी। अब जबकि वह घर आ गए हैं तो उन्हें क्या जवाब दिया जाए ? झूठ भी तो नहीं कहा जा सकता कि वेतन नहीं मिला। एक ही दफ्तर में काम करने के नाते निवास बाबू को सब पता है…

"उठो, कभी देर से वह बैठे हैं।" पत्नी ने इस बार याद दिलाया तो लगा इस सिलसिले में मैं उसकी सहानुभूति भी नहीं पाऊंगा; जैसे वह विपत्ति मैंने खुद बुलाई है और मुझे अकेले भोगना चाहिए। उस चोट को सम्हालने की कोशिश करते हुए मैंने धीरे से पूछा—"तुमने उनसे क्या कहा है ?"

"कुछ नहीं," वह बोली—"सीधे जगाने चली आई हूं।"

"तो कह दो कि घर पर नहीं हैं।" मैंने किसी तरह कहा।

पर सुनकर भी वह कई क्षण वहां से नहीं हिली। मुझे बिल्कुल सीधे ऐसे घूरती रही जैसे उससे कोई गुनाह करवा रहा हूं। अंत में बोली, "लेकिन इसमें डरने की क्या बात है? साफ-साफ क्यों नहीं कह देते कि हम लोगों का हाथ खुद तंग है?"

उसी समय छोटी बेबी खेलती-खेलती कंदील के पास आ गई थी। अनजाने में उसने कंदील के तपते कांच को पकड़ ही लिया होता यदि पत्नी झपटकर उसे अलग न कर देती।

क्षण-काल के लिए मेरा ध्यान जरूर बंट गया था; लेकिन फिर उसकी बात याद करते ही मैं गुस्से से कांपकर रह गया। अजीब विवशता थी कि उस समय पत्नी पर क्रोध करने का भी उपाय न था।

बेबी को लाकर मेरी खाट पर बैठाते हुए उसने दबी जबान से कहा, "आज नहीं तो कल, कहना तो पड़ेगा ही। आखिर कब तक टालोगे?"

और मुझे कुछ भी कहने का अवसर दिए बिना वह बाहर निकल गई। उसी कमरे से मैंने साफ-साफ सुना और यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह झूठ कहते हुए उसकी जबान जरा नहीं कांपी। अच्छा, यह सुनकर निवास बाबू को कैसा लगा होगा? उन्होंने क्या सोचा होगा! कहीं उन्होंने अनुमान तो नहीं लगा लिया कि मैं घर में छिपा बैठा हूं?

जैसे-तैसे धीरे से उठकर चोरी के कदम उठाता मैं पिछवाड़े के दरवाजे पर जा खड़ा हुआ और पल्ले की आड़ से छिपकर बाहर देखने लगा। अपने दोनों हाथ पीछे बांधे और सिर झुकाए निवास बाबू धीरे-धीरे लौट रहे थे और उन्हें काटती हुई भीड़, लोगों का रेला, साइकल-रिक्शे सब गुजरे चले जा रहे थे। उतनी दूर से भी उनका शरीर इतना दयनीय लगा कि अधिक देर तक देखते चले जाने की मेरी हिम्मत नहीं हुई। लगा जैसे कोई चीज बुरी तरह भीतर को मथती हुई बाहर होंठों तक आना चाहती है और अपने आपको सम्हाल सकना मेरे लिए कठिन हो गया है। मन हुआ, सचमुच मन हुआ कि उन्हें पुकार लूं, पर दूसरे क्षण अपनी जरूरतों और महीने भर के खर्च का ख्याल आया और लगा कि यह भावुकता महंगी पड़ेगी।

सोचा, सचमुच पत्नी ठीक कहती है कि घर को अंधेरा करके मस्जिद में चिराग जलाना कहां की अकलमंदी है? अरे, हम तो खुद मोहताज हैं···भरपूर इबारत वाले कागज के हाशिए···△

भूले हुए

आखिर एड़ी के बल उठ-उठकर देखने की कोशिश भी बेकार ही साबित हुई।

एक तो खिड़की पर चिक पड़ी थी, दूसरे उसके भी आधे हिस्से पर कपड़ा सिला हुआ था। उतनी दूर से खड़े होकर देखने पर चिक का कपड़ा आड़े आ जाता था। उससे आगे बढ़ने या खिड़की के निकट जाने पर अपने देखे जाने का भय था; क्योंकि उनके कमरे से लगे हुए बरामदे में पत्नी, उनकी भाभी, बिन्नी और बच्चे, सभी मौजूद थे और जंगले के सूराखों में आंखें लगाए बाहर देख रहे थे।

हारकर चतुर्वेदी साहब ने अपनी उठी हुई एड़ियां वापस जमीन पर धर दीं और सीधे खड़े हो गए।

थोड़ी देर पहले जब जुलूस के आने का शोर पहुंचा तो चतुर्वेदी साहब दूसरे कमरे में थे। पिछली रात सोने के पहले ही उन्होंने आगाह कर दिया था कि उनका सारा बदन टूट रहा है और आंखें जल रही हैं, अवश्य कल तबीयत खराब हो जाएगी। सुबह सचमुच उनसे उठा नहीं गया। नींद खुलने के बाद भी बड़ी देर तक वह लेटे रहे, यहां तक कि उजाला हुआ, धूप निकली और

उनके कमरे में भी आ गई ।

रोज की तरह रसोईघर में सुवह के जरूरी कामों से निवटकर उनकी पत्नी जगाने आई तव भी वह अवश-से पड़े रहे । ढलती उम्र की वीमारी से अक्सर डर लगता रहता है । पत्नी ने घवराकर माथा छुआ—वुखार नहीं था । जरा आश्वस्त हुई, लेकिन वुखार-ताप न होने पर भी दूसरी तरह से तवीयत खराव हो सकती है, सो और दिनों की तरह जल्दी उठने या तैयार होने का आग्रह पत्नी ने नहीं किया । थोड़ी देर वैठकर अपने हाथ का स्पर्श माथे पर दिया और वहुत ममतापूर्वक हल्के-हल्के दवाती रही । तभी रसोईघर से विन्नी ने आवाज दी और वह चली गई ।

वैसे चतुर्वेदी साहव दस से पहले ही दफ्तर के लिए निकल जाते हैं । इतना बड़ा परिवार है । छोटे-वड़े सव मिलकर वारह-पंद्रह लोग होते हैं और सुवह घर-भर में धूम मची रहती है । सवको जल्दी होती है—औरतों को रसोईघर में घुसने की, भैया को आठ वजे से पहले दूकान जाने की और वच्चों को स्कूल की ! सुवह से नहान-घर जो लग जाता है तो दो वजे से पहले खाली नहीं होता । यह नहान-घर की चिंता ही उन्हें तकाजे पर तकाजे करवा कर जल्दी उठने को विवश कर देती है ।

वहुत दिनों वाद आज सुवह-सुवह इस चिंता और तकाजे से छंटकर उन्होंने जैसे मुक्ति की सांस ली और देर तक आलस लादे, करवट पर करवट वदलते पड़े रहे । करीव नौ वजे किसी तरह उठकर केवल हाथ-मुंह धोया और एक प्याला चाय पीकर फिर से अपने कमरे में आ लेटे ।

तभी चौराहे के पार वाली सड़क पर जुलूस का शोर सुनाई पड़ा और चतुर्वेदी साहव को लगा जैसे उनके हाथ-पांव सव ढीले हो गए हैं । ऐसी हालत हो गई जैसे अचानक लकवे का हमला हो जाए और चाहने पर भी वदन के अवयव न हिलें, न डुलें । जैसे सिवाय सुन लेने के और कोई शक्ति वची ही न हो ।

पिछले दिनों की अपेक्षा जुलूस में शायद आज ज्यादा भीड़ थी । खूव हल्ला सुनाई देता है और पांवों की आहट भी घनी-घनी लगती है । उन्हें सुनकर आश्चर्य हुआ कि लोग तो सचमुच अपनी मांगों के पूरी होने और संघ के जिंदावाद के नारे लगा रहे हैं । एक अजीव-सी वेचैनी उन्हें मथने लगी । हालांकि वह जुलूस में शामिल नहीं थे तो भी उन्हें लगा कि नये-नये लड़कों की जल्दवाजी, जोश और नासमझी के कारण कई लोगों का अनिष्ट होने जा रहा है और उनमें वह भी एक हैं ।

प्रांत के तृतीय श्रेणी कर्मचारी संघ के निर्देश के अनुसार पिछले दिनों से सारे राज्य में हड़ताल चल रही थी । उनसे सहमत होकर मांगों के प्रति सहानु-

भूमि छिपाने के लिए सारे चपरासी भी हड़ताल पर थे और तमाम सरकारी दफ्तरों में जैसे ताला-सा पड़ गया था।

इस हड़ताल की खबर वह बहुत दिनों से सुन रहे थे। अखबारों से उन्हें कतई दिलचस्पी न थी। उन्हें उन लोगों के बारे में सोचकर हैरत होती थी जो ताजा अखबारों पर चील की तरह टूटते हैं और उसका एक-एक अक्षर यहां तक कि विज्ञापन भी पढ़ जाते हैं। उनके सामने अखबार पड़ जाए तो देशी या विदेशी मसलों पर सिर खपाना उन्हें हमेशा व्यर्थ लगता। पढ़े-लिखे होकर भी उनके बारे में लोग गलत धारणा न बना लें, इस डर से अखबार वह जरूर पलटते, पर उसमें शहर की कोई खबर-अबर देखकर चुपचाप एक ओर रख देते।

लेकिन जिन दिनों दर्जा तीन के कर्मचारियों के वेतन बढ़ाने की मांग या हड़ताल पर जाने की बात चल रही थी, दफ्तर से लौटने के बाद वह सबसे पहले पड़ोस के चटर्जी बाबू के यहां से अखबार मंगवाते और देर तक उन पन्नों में वेतन बढ़ने और हड़ताल टल जाने के समाचार ढूंढ़ा करते थे। काफी दिनों तक सिवाय इसके कुछ नहीं मिला कि अमुक ने अमुक सभा में यूं कहा, त्यूं कहा, संघ का फलां-फलां इस या उस मिनिस्टर से मिल रहा है और उन्होंने आश्वासन दिया है कि उनकी मांगों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाएगा। अंत में उन्होंने एक दिन संघ का अल्टीमेटम देखा और हड़ताल पर जाने की तारीख भी घोषित की गई।

तब भी उन्हें पूरी तरह विश्वास नहीं हुआ। राज्य के दूसरे शहरों की बात और थी। अपने शहर को चतुर्वेदी साहब आज से नहीं, बचपन से जानते थे। यहां सन् '४२ के आंदोलन की लहर तक नहीं आई थी और बिना कुछ भोगे-जाने चुपचाप एक दिन सबने सुना था कि देश आजाद हो गया है।

बाहर वाले जब उनके बेरौनक शहर और वहां के वातावरण की मुर्दनी को कोसते तो उनकी हां में हां मिलाकर वह भी हंसते—यहां मुर्दे बसते हैं, भाई! बिल्कुल देहाती के लोग! यहां के लोगों से कोई भी उम्मीद नहीं की जा सकती। हालांकि सच यह भी था कि इस शहर को छोड़कर जाना उन्होंने कभी नहीं चाहा। यहीं मामूली क्लर्क से बढ़कर वह कलेक्टरेट के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट हो गए और जब-जब उनका तबादला हुआ, कोशिश कर-कराके स्वयं ही ऑर्डर रद्द करवा दिया लिया।

जो शहर सारे देश में मचे तूफान से बेअसर रहा, वह इतनी जल्दी बदल जाएगा और एक प्रांत के मामूली कर्मचारियों की उठा-पटक से उसमें जागृति आ जाएगी, यह उन्हें सपने की तरह लगता था। इसलिए जब-जब नवयुवक कर्मचारी जोश में आकर हड़ताल की बात करते, वह ऐसे हंसकर चुप हो जाते जैसे कहते हों, "भाई, मैं तुम लोगों को भी जानता हूं और तुम्हारी उम्र को भी।"

आखिर तक वह शायद ऐसे ही हंसते रहते, मगर अचानक हड़ताल पर जाने के तीन-एक दिन पहले भोपाल से संघ का एक प्रतिनिधि आया और उसी रात को आशा के विपरीत वड़ी सभा हुई। उत्सुकतावश चतुर्वेदी साहव भी आ गए थे। जितनी देर तक संघ का आदमी वोलता रहा, चतुर्वेदी साहव को लगा कि उनकी स्वयं की चेतना पर पड़ी धूल की मोटी पर्त को कोई धीरे-धीरे झटक रहा है और गर्द उड़ रही है···उड़ती जा रही है। जैसे मंच पर भाषण न हो, सव लोगों के साथ उन्हें भी कोई वरवस उठाकर उन हजार-हजार अधनंगों-अधभूखों के पास वार-वार खड़ा कर दे। पहली वार उन्हें महसूस होता है कि भरपेट रहना या भूखे रहना भले आसान हो, आधी रोटी खाकर जीने में सचमुच वड़ी छटपटाहट होती होगी।

वहीं पर कार्यकारिणी समिति का चुनाव हुआ। आनन-फानन सदस्यता के फॉर्म वंटे, सैकड़ों लोग मेंवर वने और चतुर्वेदी साहव को हंसी नहीं आई। यूं हो गए जैसे किसी ने अचानक उनके प्रियजन की मौत की खवर सुना दी हो। जव उनके पास फॉर्म पहुंचा तो उन्होंने कुछ नहीं सोचा। पल-भर की भी देर नहीं की, विल्कुल एक आवेग में उन्होंने दस्तखत कर दिए।

संघ की स्थानीय कार्यकारिणी समिति से अपने को अलग रखने में तो वह सफल हो गए। दलील भी मुनासिव थी कि ऐसी समितियों में नवजवान लोग रखे जाने चाहिए, ढलती उम्र के लोगों से दौड़-धूप का यह काम क्या होगा? पर हड़ताल के एक दिन पहले की शाम को जो विशाल सभा हुई, उसके सभापतित्व के आग्रह को टाल जाना उनके लिए कठिन हो गया। पद, अनुभव और उम्र—सभी में वह और लोगों से वड़े थे, इस वार कन्नी काटने में वदनामी का डर था।

विल्कुल सूखे होंठों से, भीतर-भीतर कांपते हुए वह कुर्सी पर आ वैठे। किसी ने सस्ते फूलों का एक गजरा उनके गले में डाला, तालियों की खूव जोरदार गड़गड़ाहट हुई और वस। उसके वाद किस-किसने मंच पर आकर क्या कहा, उन्हें याद नहीं। मंच की कुर्सी पर वैठकर भी वह वहां नहीं थे। सारे समय उनकी नजर घूम-भटककर भीड़ में खड़े एल० आई० वी० के आदमी पर जमी रही। उन्हें वार-वार आशंका हो रही थी कि वह उनकी ओर देखकर लगातार हंस रहा है और उसके हाथ में पेंसिल और नोट-वुक दोनों हैं!

सभा के वाद जो चर्चा हो रही थी उससे उन्होंने जाना कि दूसरे दिन से हड़ताल का निश्चय हो गया है। सुवह जुलूस निकलेगा और सभी हड़ताली क्लव-ग्राउंड पर इकट्ठे होकर चार-चार की कतार में शहर की सड़कों में निकलेंगे।

दूसरी सुवह जुलूस में चतुर्वेदी साहव भी शामिल हुए और वरावर चार

दिनों तक उसमें हिस्सा लेते रहे। रोज सुबह-शाम एक निश्चित स्थान से जुलूस निकलता, बड़ी ही शांतिपूर्वक शहर की खास-खास सड़कों से गुजरता और गांधी-चौक पर जाकर थम जाता। वहां एक छोटी-सी सभा होती (जिसकी कुर्सी पर चारों दिन चतुर्वेदी साहब को ही बैठना पड़ा था) और एक बार अपनी मांगों और निश्चय को दुहराने के बाद सब अपनी-अपनी राह लेते।

लेकिन तीसरी शाम को सभा और दिनों की तरह विसर्जित नहीं हुई। कुछ नई उम्र के लोगों ने इस बात पर आपत्ति प्रकट की कि सिर झुकाकर चुपचाप सड़कों से निकलने का नाम जुलूस नहीं है। अपनी मांगों की स्पष्ट घोषणा करने वाले पोस्टरों और जोशीले नारों के बिना जुलूस सड़कों पर निकालने का क्या अर्थ हुआ? यह क्या बात हुई कि सैकड़ों लोगों की कतार, चुपचाप गर्दन झुकाए यूं निकले जैसे कि मुर्दे को श्मशान पहुंचाया जाता है। सुझाव था कि पोस्टर भी रखे जाएं और नारे भी बुलंद हों।

सुनकर सबसे पहले चतुर्वेदी साहब ने ही इसका विरोध किया था। बड़े धैर्य से समझाया कि नारे लगाकर या हुल्लड़बाजी करके ही मांगें पूरी करवाई जा सकती हैं, ऐसा तो नहीं है। किसी भी समस्या को ठंडे दिमाग से शांतिपूर्वक हल करना शालीनता ही नहीं, सैद्धांतिक भी है…

"अरे, दरवाजा मत खोल!" जंगले के पास से भाभी की दबी पर डांटती हुई आवाज आई और तड़ से एक तमाचा किसी बच्चे के सिर पर पड़ा।

जुलूस को निकट आया देखकर, सबों के साथ भीतर से झांकते बच्चों में से कोई शायद अपने को रोक नहीं पाया। उत्सुकतावश दरवाजा खोलकर बाहर निकलना चाहता था। इसी कोशिश में शायद जंगले का एक पल्ला ऐन मौके पर खुल गया और अचानक चौंककर भाभी ने पिटाई की थी। पहले बच्चे के रोने की आवाज धीरे से उठी, फिर जुलूस के शोर में सब-कुछ दब गया।

जितना हल्ला उमड़कर एकबारगी ही उनके मकान के सामने इकट्ठा हो गया था, उससे क्षण-भर के लिए चतुर्वेदी साहब डर गए। लगा कि जुलूस उनके घर के सामने रुक गया है। धड़-धड़ करते पलों में सांस रोककर वह प्रतीक्षा करते रहे कि जुलूस में से चटर्जी बाबू, वाजपेयी या पांडेय—कोई-न-कोई उन्हें बुलाने आ रहा है…अब आया…अब…

पर खिड़की के झरोखे से उन्होंने, दूसरे क्षण ही, गुजरते हुए लोगों का रेला और मोटे-मोटे अक्षरों में लिखे पोस्टर्स, एक के बाद एक सरकते देखे। चेहरा तो कुछ खास किसी का नहीं दिखा तो भी उन्होंने वाजपेयी की आवाज पहचान ली। इतने जोश के साथ चिल्लाना वाजपेयी के सिवाय और कोई नहीं

कर सकता—

हम अचल हिमालय पर्वत हैं—
हम लोहे की दीवारें हैं !
मत हमको कायर क्लर्क कहो,
हम दवे हुए अंगारे हैं !

सुनकर अपने-आप उनकी एड़ियां एक वार फिर उठ गईं। क्षण-भर भूल-कर देखने की कोशिश करते रहे, फिर एकाएक लज्जित होकर सीधे हो गए और अपने कमरे में लौट आए।

जुलूस और उसकी आहट निकल जाने के वाद भी वड़ी देर तक चतुर्वेदी साहव के दिमाग से कविता की पंक्तियां नहीं हटीं। उसकी एक पंक्ति मस्तिष्क के किसी तंतु से अटककर वार-वार गूंजने लगी; जैसे ग्रामोफोन के घिसे रेकॉर्ड पर सुई फंसकर रह जाए—हम दवे हुए अंगारे हैं···हम दवे हुए···

वाजपेयी जरूरत से ज्यादा जोशीला और वातूनी आदमी है। अक्सर लोगों का लिहाज नहीं करता और कई वार खरी-खरी कह जाता है। चतुर्वेदी साहव को लग रहा था कि वाजपेयी ने यह कविता जान-बूझकर उन्हें सुनाने के लिए ही पढ़ी है। घुमा-फिराकर उन्हीं को कहा जा रहा था कि वह कायर, कमजोर और वुझे हुए हैं।

चाहे ऊपर से कहते रहें कि वह खरी-खरी वातें पसंद करते हैं और स्वयं भी साफ आदमी हैं, ऐसे अवसरों पर अक्सर उन्हें गहरी चुभन होती और वड़ी मुश्किल से उसके प्रभाव से अपने को वह वचाते। उस वार भी वहुत वुरा लगा था जव उनके पोस्टर और नारेवाजी का विरोध करने पर वाजपेयी ने स्पष्ट कह दिया था—"चतुर्वेदी साहव, यहां गिरफ्तारी से कौन डरता है ? हम सव जेल जाने को तैयार वैठे हैं। गोलियां चलेंगी तो वहुत-से सीने आ जाएंगे। आपको डर लगता हो तो जुलूस में न आइए।"

उस पर, वातों से न सही, कई लोगों ने हंसकर वाजपेयी को शह दिया था और अपने को अकेला, विल्कुल असहाय और अपमानित देखकर चतुर्वेदी साहव ने क्रोध से होंठ काट लिए थे—उनमें साहस कव आएगा ? क्या जीवन-भर वह इस दव्वू स्वभाव को ही ढोते रहेंगे ? कोई वात अगर वुरी लगती है तो वाजपेयी की तरह स्पष्ट कहना उन्हें क्यों नहीं आता ? अपनी वात पर अड़कर मनवा लेने की शक्ति क्या सचमुच उनमें नहीं है ? ऐसा क्यों होता है कि पहले तो वड़ी मजवूती और आत्म-विश्वास के साथ वह कुछ कहते हैं, लेकिन वाद में गहरा और कड़ा विरोध होने पर, धीरज छोड़—कौन झंझट करे—का सहारा ले, चुपचाप टाल जाते हैं ?

जाए, फिर अंत में बोले—"अब जरा अच्छा हूं, बेटी ! अपने बाबूजी से कहना कि फुरसत हो तो थोड़ी देर के लिए आ जाएं।"

नमिता के चले जाने के बाद वह फिर से लेट गए। जुलूस वाले गीत की पंक्ति एक बार फिर से उनके मन में उभरी और वाजपेयी का व्यंग-सना चेहरा नजरों के सामने आ गया। वह बड़ी बेसब्री से चटर्जी बाबू की प्रतीक्षा करने लगे।

दिन ढलने के करीब चटर्जी बाबू आए। पहले तबीयत का हाल पूछा, फिर जुलूस की बात निकालते हुए बोले—"आज का अखबार देखा ? बाहर के शहरों में धड़ाधड़ गिरफ्तारियां हो रही हैं।"

"अपने यहां का क्या हाल है ? क्या यहां भी ?"

"अभी तो कुछ पता नहीं, लेकिन सुनते हैं कि वाजपेयी, पांडेय और वर्मा के गिरफ्तार हो जाने की संभावना है। कोई कह रहा था कि वारंट जारी कर दिए गए हैं !"

चतुर्वेदी साहब का चेहरा एकाएक फक पड़ गया। वह कहते-कहते रुक गए कि देखा, इसीलिए मैंने नारेबाजी का विरोध किया था। उन्हें याद आया कि उस दिन की बहस में वाजपेयी के सामने तो उन्होंने कुछ नहीं कहा, लेकिन बाद में चटर्जी बाबू से किसी तरह उसकी चर्चा छेड़कर बोले थे—वाजपेयी अपने को चाहे जो समझे। मैं एक बात जानता हूं कि मेरा कोई लड़का होता तो उसकी उम्र वाजपेयी से ज्यादा ही होती।

"एक और समाचार है," चटर्जी बाबू ने चिक के पार आंखें फेंकने की कोशिश करते हुए कहा—"बिलासपुर के एक हड़ताली चपरासी का गिरफ्तारी के वक्त हार्ट फेल हो गया। यह खबर लोगों का जोश ठंडा कर देने के लिए वैसे भी काफी है। उस पर सुनता हूं, आज एक नोटिस निकलने जा रहा है कि चौथी श्रेणी के जितने भी अस्थायी कर्मचारी हड़ताल पर हैं, नोटिस मिलने के चौबीस घंटों के भीतर काम पर नहीं आए तो नौकरी से अलग कर दिये जाएंगे।"

क्षण-भर रुककर चतुर्वेदी साहब ने भीतर बिन्नी को आवाज दी और पान लाने के लिए कहा। जब तक पान नहीं आए, दोनों चुप बैठे रहे। उस छोटे से कमरे में देखने या व्यस्त रहने को कुछ न था। एक-दूसरे की आंखें बचाकर दोनों बार-बार चिक के पार देखते और हर बार चतुर्वेदी साहब को महसूस होता कि खिड़की पर चिक बेकार डाल दी गई है। कल या तो चिक निकाल फेंकेंगे अथवा उस पर सिला हुआ कपड़ा हटा देंगे।

अंत में चटर्जी बाबू बोले—"अरे, इन बेचारों का क्या है। एक तो छोटे और अनपढ़ लोग हैं, दूसरे सिर्फ सहानुभूतिवश हड़ताल पर हैं। यहां तो हमारे-

और वह निःसंकोच छाती पीटकर कहती है, "हां···हां, मैं पागल हुई हूं। देखो, ये बाप-बेटी मिलकर मुझे जेल भेज रहे हैं। मेरी जान लेना चाहते हैं। मैं भी असल की होऊंगी तो यहीं जान दे दूंगी···"

कहती-कहती भाभी बच्चों की तरह जोर से रोने लगती हैं···

कितनी मुश्किल से उन्होंने उस दिन की स्थिति संभाली थी। सोचकर चतुर्वेदी साहब का मन आज भी कांप जाता है। अगर वह उस दिन वक्त पर न पहुंच जाते तो क्या होता? शायद देखते-देखते उनके यहां से दो लाशें निकल जातीं और चटर्जी बाबू वैसे ही गर्दन डाले खड़े रहते।

उस घटना के काफी बाद उन्हें पता लगा कि नमिता ने धोखे से मालिश-तेल नहीं पिया था, आत्महत्या करने गई थी। चटर्जी बाबू यूं ही जड़ नहीं हो गए थे और उनकी पत्नी व्यर्थ में मरने नहीं जा रही थी—उन सबका आधार था कि चटर्जी बाबू ने ढलती उम्र में दूसरी शादी की थी और दोनों की उम्र में लगभग बीस वर्ष का फासला था।

चटर्जी बाबू के छोटे-छोटे दो बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने के लिए एक नवयुवक टीचर पिछले दो-तीन बरसों से लगा हुआ था। धीरे-धीरे वह घर के एक सदस्य की तरह हो गया। भेद-भाव नहीं रहा और चटर्जी बाबू की अनुपस्थिति में भी उनकी पत्नी उसके पास घंटों बैठकर बेझिझक हंसती-बोलती थी। बस, इतनी बात थी जिसे लेकर नमिता और चटर्जी बाबू की पत्नी में झगड़ा हुआ और परिणामस्वरूप नमिता मरने गई थी।

उन सारी बातों को भूले हुए चटर्जी बाबू का जीवन आज बिना किसी बाधा के ऐसे चुपचाप बह रहा है जैसे बुढ़ापे में उनकी पत्नी पर इल्जाम न आया हो। जैसे उनकी जवान बेटी नमिता की आत्महत्या की चर्चा मुहल्ले-पड़ोस में न हुई हो और जैसे उन्होंने नहीं, किसी और ने एक दिन चतुर्वेदी साहब के सामने रोकर कहा था कि उनकी बीवी सचमुच दुष्ट है, लेकिन वह कुछ नहीं कर सकते। बस अपने को हर क्षण नमिता के आगे अपराधी समझते हैं, जो बिना मां की बेजान बच्ची है—बिल्कुल बेजबान···

"सुना है, आपके यहां के सुपरिंटेंडेंट का तबादला हो गया और वह प्रमोशन में जा रहे हैं।"

हठात् उन्हें चौंकाते हुए चटर्जी बाबू ने कहा। वर्तमान में आकर चतुर्वेदी मुस्कराए। उसका अर्थ बात की स्वीकृति थी। कुछ ऐसी निर्लिप्त-सी भावना उनके चेहरे पर झलकी मानो सुपरिंटेंडेंट के आने-जाने से उन्हें कोई दिलचस्पी न हो।

लेकिन तब वह बोले बिना बिल्कुल न रह सके जब चटर्जी बाबू ने कहा कि लोगों में इस बात की आम चर्चा है कि सुपरिंटेंडेंट का तबादला हुआ तो

उनका प्रमोशन हो जाएगा।

"क्या ठिकाना भाई, अभी कुछ भी कहना मुश्किल है।"

"क्यों, आप तो सीनियर-मोस्ट हैं और प्रमोशन भी आपका ड्यू है।"

थोड़ी देर के लिए चतुर्वेदी साहब चुप हो गए। फिर कहा, "जहां इस हड़ताल के मारे जमे पांव ही उखड़ने लग रहे हों, वहां प्रमोशन की बात कहां रह जाती है ?"

चटर्जी बाबू ने उसके बाद और कुछ नहीं कहा। कुछ देर बाद उठकर भी चले गए, लेकिन उन्होंने कोई आराम या सुकून महसूस नहीं किया, बल्कि और गहराई से सारी बातें उनके मन में घुमड़ती रहीं। बेचैन करवटें बदलते वह कमरे में ही बंद पड़े रहे।

रात को साढ़े आठ बजे तक दूकान से लौटकर भैया घर आ जाते हैं। उनकी जिंदगी एक लीक पर चलती आई है। बरसों गुजर गए, उसमें कोई विशेष अंतर नहीं होता। सुबह होती है, शाम होती है और सारे काम-काज अपनी-अपनी जगह चुपचाप हुए जाते हैं।

दूकान से लौटने के बाद अपने अनजाने में नियम का ध्यान रखते हुए मुंह-हाथ धोते हैं और जब तक रसोईघर से निकलकर बिन्नी थाली लगने की खबर न दे, पीछे के आंगन में हाथ बांधे और सिर झुकाए वह टहलते रहते हैं।

चतुर्वेदी साहब का वक्त उनसे मेल नहीं खाता। उनकी आधी से ज्यादा उम्र गई, ठीक वक्त पर कभी कहीं से नहीं लौटे। सुबह दस बजे के निकले हुए शाम छः बजे तक आते हैं और उसके बाद दोस्तों या पड़ोस में दस बज जाते हैं। इस तरह एक साथ बैठकर इधर-उधर की बातें करना या खाना खाना तो दूर, एक घर में रहते कई-कई दिन एक-दूसरे से भेंट नहीं होती।

लेकिन उस दिन भैया हाथ-मुंह धोकर खांसते हुए सीधे चतुर्वेदी साहब के कमरे में आ गए और उनसे अपने साथ चलकर खाने का आग्रह किया। (आश्चर्य है, उन्होंने तबीयत की बात बिल्कुल नहीं पूछी !)

"तुम लोगों की हड़ताल तो कई जगह टूट गई।"—भैया ने थाली के सामने बैठते हुए सबसे पहले यही बात कही।"

"कहां ?"

"नाम याद नहीं, आसपास के कई शहरों में। लोग तो अब काम पर भी जाने लगे हैं। भाई, तुम कुछ भी कहो, मुझे तो यहां की हालत शुरू से डांवा-डोल लगती रही है। आज सुनते हैं, यहां भी कई लोग ज्वॉइन करने वाले हैं। हर हाल में, मुझे नहीं लगता कि हड़ताल एक-दो दिन से आगे जाए। पहले

वात सिर्फ चपरासियों तक ही थी न ? अब तो टेम्प्रेरी क्लर्कों को भी नोटिस मिल गया है। जो परमानेंट हैं, वे भी घवराने लगे हैं। नौकरी चाहे न जाए, तनज्जुली हो सकती है और दूसरी सारी परेशानियां हैं। लोग क्या करें ? देखो न, हर एक के साथ जीने-खाने और वाल-वच्चों का सवाल लगा हुआ है…"

चतुर्वेदी साहव चुपचाप सुन रहे थे। भैया का आखिरी वाक्य सुनकर क्षण-भर के लिए उनके मन में आया कि और सवके साथ वाल-वच्चों की समस्या होगी, वह तो शुरू से वे-औलाद हैं। दो जनों के लिए जीने-खाने की क्या समस्या ? लेकिन उनसे कहा कुछ नहीं गया। सोचा, हालांकि उनकी कोई औलाद नहीं और सारी जिंदगी गुजर गई, पर कितनी वार उन्हें इसका अभाव सचमुच खला है ? विन्नी, जिद्दन, मुन्ना, सित्तो और छोटे वावा फिर कौन हैं ?

भैया एक लीक पर सीधे चलने वाले आदमी हैं। वरसों पुरानी रेडीमेड कपड़ों की एक दूकान है, जो कभी शहर की गिनी-चुनी और खास दूकानों में से गिनी जाती थी। इसी ने मान-सम्मान और प्रतिष्ठा सव-कुछ दिया। इसी के सहारे भैया ने उन्हें स्कूल के वाद कॉलेज की पढ़ाई के लिए दूसरे शहर भिजवाया और दो वरस तक हर माह सारे खर्च झेलते रहे। शायद यह भी सच है कि इसी गुमान में उन्होंने पढ़ाई की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, अंत में इंटर फेल होकर घर लौट आए और नौकरी शुरू कर दी।

लेकिन इधर दस-पंद्रह साल पहले वह दूकान जैसी थी (आज जवकि शहर में वीसियों वड़ी-वड़ी फैशनेवुल दूकानें खुल गई हैं) वैसी की वैसी ही है। है, यही वहुत है !

चतुर्वेदी साहव को विल्कुल याद नहीं कि कैसे एक-एक करके भैया का सारा वोझ उनके कंधों पर आ गया। कैसे उन्होंने स्वयं कुछ और जिम्मेदारियां ओढ़ कर भैया को निश्चिंत कर देना चाहा और धीरे-धीरे दूकान के सिवाय सव-कुछ अपने से छुड़ा, उन पर लाद, भैया वहुत दूर हट गए। अव वह घर के वारे में कुछ नहीं जानते। छोटी-वड़ी सव चीजों का भार चतुर्वेदी साहव पर है और छोटे वावा के 'ग्लेक्सो' से लेकर विन्नी के वालों के रिवन तक वह स्वयं लाते हैं। कुछ भी लेन-देन, कहीं भी आने-जाने या सुख-दुख की वात हो, वच्चे पिता को नहीं जानते हैं…

आंखें हटाकर चतुर्वेदी साहव दूसरी ओर देखने लगे। उन्होंने कुछ नहीं कहा। भैया की किसी वात पर वह कभी कुछ नहीं कहते। उनकी वात गलत हो तो भी विरोध करने का साहस उन्हें नहीं होता। गर्दन झुकाकर चुपचाप यूं सुन लेते हैं जैसे आज भी वह चालीस-पैंतालीस के प्रौढ़ न होकर स्कूल-कॉलेज के विद्यार्थी हों।

"तुम्हारे प्रमोशन की तो वड़ी चर्चा है," भैया ने कहा—"हल्ला है कि

तुम सुपरिंटेंडेंट हो रहे हो !"

कहकर भैया क्षण-भर के लिए रुके, फिर अजीब ढंग से हंसते हुए, सीधे उनके चेहरे की ओर देखकर कहा, "अब तुम्हारी तबीयत कैसी है ?"

चतुर्वेदी साहब को लगा जैसे चूल्हे में एक साथ सुलगती लकड़ियों पर सीधे से पांव पड़ गया हो और उससे अचानक चटककर एक जलती हुई कोयली अंगारे समेत उनके पांव पर आ गिरी हो। उनके हाथ का कौर मुंह तक आते-जाते आधी राह पर ही रुक गया। थोड़ी देर वह भैया की ओर देखते रहे और 'अब तो कुछ अच्छी है' जैसे आसान जवाब के लिए भी जरूरत से ज्यादा देर कर दी।

अचानक पीढ़ा छोड़कर उठने और घुटनों की हड्डियों के एक साथ चटखने की आवाज से दोनों ने सिर उठाकर देखा। विन्नी उठी थी। वह एक कोने में रखे पानी के घड़े तक गई, ढकना खींचकर पानी निकाला और चतुर्वेदी साहब के सामने रखे खाली लोटे में उड़ेलने लगी। झुकने पर विन्नी की चोटी गर्दन से फिसलकर सामने झूल आती है और बार-बार उसे पीछे फेंकना पड़ता है। बस, रीतने और रीतते जाने का स्वर···

कमरे में लौटते हुए भाई साहब ने बात बदल दी, बोले, "लड़के वाले इसी साल शादी मांग रहे हैं। विन्नी को और कब तक रोकते जाएंगे ?"

भैया की बातें ऐसी ही बेसिलसिले की होती हैं। एक बात का दूसरे से साफ और स्पष्ट संबंध नहीं होता, लेकिन आज पहली बार चतुर्वेदी साहब को लगा कि दरअसल भैया को समझने में वह अब तक गलती करते रहे हैं। भैया दूसरी तरह के आदमी हैं। हर बार कम-से-कम बोलकर, वह अधिक-से-अधिक दूसरों के सोचने-करने के लिए छोड़ देते हैं।

विन्नी की शादी की बात से उन्हें हड़ताल का पहला दिन याद आया जब उन्हें भाग लेते देख-सुनकर भैया बड़ी देर तक चुप रहे। कुछ इधर-उधर की बातें पूछते रहे। यह जानना चाहा कि उनके रिटायर होने में कितने साल और हैं। अगर मांगें पूरी हो गई या हड़ताल सफल रही तो व्यक्तिगत रूप से उनके वेतन में कहां क्या अंतर आएगा, आदि। और उसके बाद उस संबंध में अपनी ओर से कुछ भी कहे बिना, वह चुपचाप उठकर चले गए थे। तब भी उन्होंने अंत में यही बात कही थी कि विन्नी की शादी के लिए लड़के वाले जल्दी कर रहे हैं, एकाध साल और टाल जाना मुश्किल दिखता है।

भैया के चले जाने के बाद अपने कमरे में निरुद्देश्य खड़े चतुर्वेदी साहब थोड़ी देर सोचते रहे, फिर अकारण खांसते हुए पीछे के बरामदे में निकल गए। कवेलू की लकड़ी से झूलते तोते के पिंजरे के पास रुककर उन्होंने सीटियां बजाईं, उससे जरा लाड़ किया, फिर बिना किसी को संबोधित किए रसोईघर

की ओर मुंह करके कहा, "अरे भई, किसी ने मिट्ठू को खाना दिया ?' विन्नी !···"

भीतर से विन्नी की आवाज आई और झपटती हुई वाहर आकर वह खड़ी हो गई। चतुर्वेदी साहव ने इतना ही देखा। उसके वाद विन्नी क्या कहती रही, इस पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। लगातार यूं देखते रहे जैसे महीनों वाद कहीं वाहर से लौटे हों और विन्नी के शरीर और स्वास्थ्य में अचानक परिवर्तन महसूस किया हो।

साथ रहते वरसों हो गए। हर एक का ध्यान उन्हें ही रखना पड़ता और वच्चों में सवसे अधिक जरूरतें विन्नी की ही हैं, तो भी उन्हें आज की अपनी स्थिति अपराधी की-सी लगी। लगा, इससे पहले अपना कर्त्तव्य भले निवाहते रहे हों, विन्नी के लिए सचमुच ममतावश कोई चीज लाकर उन्होंने कभी नहीं दी। जाने इस वीच उन्हें क्या हो गया ! महीनों हो गए, विन्नी से सचमुच ललककर दो वोल उन्होंने नहीं वोले थे। सहसा भीतर से उफन आती करुणा में एकदम भीगकर वोले, "यह क्या पहन रखा है, वेटी ? क्या और साड़ी नहीं है ?"

गर्दन झुकाकर एक वार अपने को देखती हुई विन्नी सादगी और वेपरवाही से हंस दी। कहा वही जो इससे पहले ऐसे अवसरों पर एक-दो वार कहा था कि अच्छी साड़ियां भी हैं लेकिन काम-धाम चलाने के लिए फटे-पुराने कपड़े क्या वुरे हैं ?"

चतुर्वेदी साहव ने और कुछ नहीं कहा। पीठ फेरते समय उनके होंठों पर संतोष की मुस्कान छलक आई। कभी कुछ लाकर देना हो तो पहले से वह किसी को कुछ नहीं वताते।

जव मुहल्ले की सड़क पूरी हो गई और मुड़ने का अवसर आया तो चतुर्वेदी साहव ने पीछे लौटकर देखा।

इस फासले को तय करते हुए उन्हें वरावर शंका वनी हुई थी कि उनके घर या चटर्जी वावू के दरवाजे से जाते हुए कोई उन्हें अवश्य देख रहा है। लेकिन वह आंखें झुकाए ही अपनी राह पर चले आए थे।

अव इतनी दूर से घरों की आकृतियों के सिवाय और क्या देख सकता था ? उन्हें अपने मिजाज पर हंसी आई। घर से वाहर निकलने के पहले उन्होंने अच्छी तरह पुछवा लिया था कि चटर्जी वावू घर पर हैं अथवा नहीं और पूरी तरह आश्वस्त होकर ही निकले थे।

चार-चार दिन लगातार घर में वंद रहने के वाद निकलने में नया-नया-सा लग रहा था। हालांकि कहीं कोई परिवर्तन नहीं था। सव-कुछ वैसा ही था

जैसे दफ्तर के लिए निकलने वाली पिछली सुबहों में हुआ करता था। वही उठने की जल्दी, नहान-घर की चिंता और रसोईघर की जानी-पहचानी आहटें। वरसों पुरानी वही एक आने-जाने की राह और उसके इर्द-गिर्द के परिचित-अपरिचित लोग। फर्क सिर्फ इतना हुआ कि आज बड़ी सुबह सर्दी में नहाना पड़ा और पानी उनकी जरूरत-जैसा गर्म न था।

हाईस्कूल का बड़ा फाटक खुल गया था और बच्चे-बच्चियों के इक्के-दुक्के ग्रुप उसी तरह आ-जा रहे थे। बिन्नी के हाईस्कूल में रहने के दौरान उनकी आदत हो गई थी कि स्कूल आने-जाने वाले हर बच्चे-बच्ची को गौर से देखा करते थे। दो साल हो गए, बिन्नी का स्कूल से कोई रिश्ता नहीं रहा, पर इस तरह के ग्रुप देखकर वह बात अक्सर भूल जाते हैं। उनकी कैसी बच्चों-सी कामना थी कि बिन्नी स्कूली लड़कियों के ऐसे ही निश्चित ग्रुप में हमेशा दिखाई देती रहे। यह अजीब लगता है कि जिसे उन्होंने हमेशा बच्चों के समूह में आते, जाते देखा हो, वह एकाएक बाहर से रिश्ता तोड़, घर में बंद होकर रह जाए और फटी-पुरानी साड़ियां पहनकर काम-धाम चलाने की बात करे।

धूप अब धीरे-धीरे तेज हो रही थी। चौराहे के पास ठेले वाले दोपहर के पहले ही ऊंघ रहे थे। लगता था बाजार में चार-पांच दिनों में मंदी आ गई हो। गल्ले की दूकानें तक खाली थीं। अनाज की ढेरियों और तराजुओं के पास कोई न था और एक ओर खड़ी बैलगाड़ी की छांव में, पिचके पेट वाले आवारा कुत्ते हांफ रहे थे। चंद दिनों की हड़ताल से बस्ती में इतना सन्नाटा पड़ जाएगा, यह उन्होंने नहीं सोचा था। दफ्तर के दिनों में इस समय कितनी गहमागहमी होती है!

"जुलूस का कहीं पता नहीं! उन्होंने इधर-उधर की सड़कों में ढूंढ़ती आंखों से देखकर सोचा। वह मेन-रोड पर थे। जुलूस कहीं आसपास होता तो कम-से-कम नारे की ही आवाज आती।

सामने की पान की दूकान पर कुछ लोग खड़े थे। चतुर्वेदी साहब की आदत में यह शामिल हो गया था कि दफ्तर जाने की राह उस पान की दूकान पर वह थोड़ी देर के लिए रुकते, पान वाले से बातें करते, ताजा अखबार उलटते-पलटते और एक साथ दो बीड़े मुंह में रखकर फिर आगे बढ़ते, लेकिन आज उन्होंने राह बदल दी।

नमस्ते लेने-देने की जहमत से बचने के लिए सिर झुकाए-झुकाए ही उन्होंने सारी राह तय की और जान-बूझकर सड़क के किनारे-किनारे आए।

बिल्कुल कलेक्टरेट की सीढ़ियों तक आकर वह एक क्षण के लिए रुक गए। एहतियातन, एक बार चारों ओर देखने के लिए जैसे ही उन्होंने दाहिनी तरफ अपनी आंखें फेरीं, कांपकर रह गए।

क्लब ग्राउंड में हड़ताली जमा थे। जुलूस-जैसा कुछ भी न था और सभा भी नहीं हो रही थी। लोग बेतरतीब और इधर-उधर पोस्टर-तख्तियां दीवारों से टिकाए खड़े थे। वाजपेयी को रिकॉर्ड छांट-छांटकर गामोफोन के पास व्यस्त देख उन्हें याद आया कि रिकॉर्डिंग की आवाज तो बड़ी देर से सुनाई पड़ रही थी। उनका ही ध्यान उधर नहीं गया था।

उतनी दूर से चतुर्वेदी साहब को कलेक्टरेट के सामने खड़े, जाने किसने पहले पहचाना—एक-के-बाद एक सभी पलट-पलटकर उन्हें देखने लगे और चतुर्वेदी साहब बिल्कुल हड़बड़ा गए। उन्हें कुछ सूझा नहीं। दूसरे क्षण के लिए रुके बिना उन्होंने तेजी से सीढ़ियां लांघी, झपटकर कॉरीडोर पार किया और दरवाजे की चिक उठाकर भीतर गए।

लेकिन आशा के विपरीत मेन हॉल बिल्कुल सूना था और सारी मेज-कुर्सियां खाली पड़ी थीं। थोड़ी देर के लिए बुत बने चतुर्वेदी साहब हॉल की प्रत्येक कुर्सी-मेज की ओर देखते रहे कि टाइपिंग-रूम से निकलकर स्टेनो बाबू ने उन्हें नमस्ते किया और मुस्कराने लगा। सारे कलेक्टरेट में एक वही था जिसने हड़ताल में भाग नहीं लिया था। पिछले दिनों हड़तालियों की सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा था कि ऐसे अवसर पर जिन साथियों ने बेईमानी की और साथ नहीं दिया, वे भूले हुए हैं, और इसीलिए क्रोध के नहीं, सहानुभूति के पात्र हैं।

"आपको शायद पता नहीं, उसने हंसकर सबसे पहली सूचना दी—सुपरिंटेंडेंट ने अपना ट्रांसफर कैंसल करवा लिया है। वह यहां से नहीं जाना चाहते।"

चतुर्वेदी साहब से कुछ नहीं बोला गया। उन्हें लगा कि उसके नमस्ते करने, मुस्कराने, सूचना देने और नजदीक आकर खड़े हो जाने का अर्थ और कुछ नहीं, सिर्फ व्यंग्य है।

किसी तरह अपने पौरुषहीन क्रोध को दबाकर, एकदम निरुपाय और असहाय वह अपनी कुर्सी तक आए और ऐसे सहमते हुएबैठे मानो अपने से बड़े अधिकारी की कुर्सी पर चोरी से बैठ रहे हों। उसके बाद कई क्षणों तक सामने की चिक की ओर देखते रहे। चिक के आर-पार का दृश्य हालांकि बिल्कुल स्पष्ट नहीं था, लेकिन उन्होंने देखा कि सफेद परदे पर चित्र की तरह पहले बिन्नी आई और हट गई। फिर देखा कि चटर्जी-भाभी, उनके छोटे-छोटे बच्चे और बिना मां की नमिता, सभी खड़ी हैं। और उन सबके आगे अभी भी हड़ताल का पोस्टर उठाए चटर्जी बाबू नारे लगा रहे हैं···

"अच्छा किया चतुर्वेदी जी!" बाबू के कमरे से एकाएक भीतर आते हुए डिप्टी कलेक्टर साहब ने कहा—"बहुत अच्छा किया जो आपने ज्वाइन कर लिया।"

अचककर चतुर्वेदी साहब खड़े हुए और केवल एक सेकंड-भर के लिए उड़ती नजर से देखा। आंखें मिलाने का साहस उन्हें नहीं हुआ। डिप्टी-कलेक्टर साहब बड़ी देर तक हड़तालों और उसके परिणामों के बारे में अपने अनुभव बताते रहे। बाद में यह भी कहा कि, देखना, कितने लोग बरखास्त होते हैं। और फिर दूसरे लोग चाहे कटें-मरें, उनकी नौकरी के तो चंद साल ही रह गए हैं। वह क्यों ख्वामख्वाह अपना कैरियर-फ्यूचर बिगाड़ रहे हैं।

चतुर्वेदी साहब ने बहुत-सी बातें नहीं सुनीं। उनकी आंखें बराबर सामने की चिक पर लगी हुई थीं और वह निश्चेष्ट खड़े एकटक उधर देख रहे थे। चिक पर अभी भी वही दृश्य था, लेकिन इस बार देखा कि बिन्नी की तस्वीर धुंधली होकर पीछे हट गई है और समूचे परदे पर छाए चटर्जी बाबू, हड़ताल का पोस्टर उठाए, उनकी ओर उपेक्षापूर्वक घूर रहे हैं…

सहमकर उन्होंने आंखें नीची कर लीं। आंख की कोरों में अटके जल-कणों के बीच, थोड़ी देर वह उस क्षमा-याचना-पत्र को देखते रहे जिसे स्टेनो उनकी मेज पर रख गया था। कुछ बोलने की कोशिश की, लेकिन कई बार के प्रयत्न व्यर्थ गए। सांस जोर से उमड़ती, स्वर नहीं बन पाता और वह हांफ-हांफकर रह जाते।

"गलती हो गई, सर!" अंत में बड़ी कठिनाई से, भर्राई हुई आवाज में चतुर्वेदी साहब बोले—"मुझसे बड़ी भूल हो गई!"

कहकर न वह बाहर निकले और न ही उनसे अपनी कुर्सी पर बैठा गया। थोड़ी देर बाद मेन-हॉल खाली हो गया और वह बिलकुल अकेले पड़ गए। अपने कंधों को ढीला छोड़, उन्होंने दोनों हाथ मेज पर टेक दिए, झुके और ब्लाटिंग-पैड पर लगे स्याह धब्बों को डबडबाई आंखों से देखते हुए, बड़ी देर तक वैसे ही झुके रहे! △

नंगे

और उपाय ही क्या था ? जब किसी करवट चैन न आया तो मैं मजबूरन उठकर बैठ गया और हारकर पत्नी की खाट की ओर देखने लगा। लगा, रूबीना सो नहीं रही, शायद बैठी थी और वैसी ही लुढ़क गई। आधा धड़ जरूर बिस्तर पर है, लेकिन दोनों टांगें पाटों के नीचे ऐसे झूल रही हैं कि पांव अधर टंगे हैं। सिर के नीचे तकिया नहीं है, दोनों मुड़ी हुई बांहें अंग्रेजी अक्षर 'ह्वी' की आकृति बनाती हुई चेहरे के अगल-बगल पड़ी हैं और बंद मुट्ठियों में गीली मेंहदी भरी हुई है।

'यह मेंहदी रचाने का भी अजीब शौक है कि उसके लिए इतनी सजा भुगती जाए !' शायद मैं कहना चाहता था, लेकिन एक तो कमरे में कोई दूसरा सुनने वाला न था, दूसरे रूबीना का जागता हुआ चेहरा याद आ गया। दोपहर में इसी मेंहदी को लेकर वह कितनी उदास हो गई थी। लगा था, ईद के लिए नए-नए कपड़े, पैसे या दूसरे सारे इंतजाम चाहे जरूरी न हों, मेंहदी जरूरी है और उसके बगैर कहीं कुछ नहीं होगा।

लेकिन हर ईद-बकरीद के मौके पर यही होता है। घर या आस-पास

मेंहदी के दरख्त नहीं, सारे मोहल्ले में सिर्फ जमीला के यहां एक पेड़ है। ईद के दो-एक दिन पहले उस पर भी ऐसी लूट-खसोट चलती है कि वह रुंड-मुंड होकर रह जाता है। इस बार भी यही हुआ। रुबीना ने जरा देर कर दी और नतीजा यह हुआ कि मेंहदी लेने वाला आदमी पेड़ की ठूंठ टहनियां देखकर लौट आया। दोपहर तक रुबीना बड़ी निराश थी। रह-रहकर अफसोस करती कि और तो और, माटी मिली मेंहदी की पत्तियां तक नसीब में नहीं; पर शाम-शाम तक जाने छोटी खाला ने कहां से क्या किया कि मेंहदी की ढेर पत्तियां इकट्ठी हो गईं।

रुबीना ने जल्दी-जल्दी रोज का काम निपटाया, बच्चों को खिला-पिलाकर जबरन सुला दिया और दूसरी सुबह की सारी तैयारियां कर डालीं—मसलन, सिर-खोरमा और सेंवई के लिए मेवा काटना, पुलाव के लिए मसाला पीसकर तैयार करना, टोपियां, कपड़ों की देखभाल और पुराने बक्सों में इत्र-सुरमे की तलाश···

यह सब कर चुकने के बाद जब वह कत्था, कोयला, इमली की खटाई और मेंहदी के पत्ते लिए सिल-बट्टे के पास आई तो रात के दस बज रहे थे। अपनी खाट पर बैठे-बैठे मैंने उसका झुक-झुककर मेंहदी पीसना देखा था। जब तैयार हो गई तो उसे एक सासर में लेकर बैठ गई, और बड़ी देर तक लगाती रही। जब एक-एक करके दोनों पांव और हथेलियां भर गईं तो बड़ी देर तक उनके रचने की प्रतीक्षा में चुप बैठी ऊंघती रही। इधर पता नहीं, कब से आंख लग गई है···

मैं धीरे से उठकर खड़ा हो गया। बगलवाले कमरे में बत्ती जल रही थी और दरवाजे पर परदा पड़े रहने के बावजूद रोशनी का एक चौकोर टुकड़ा रुबीना की चारपाई के नीचे आ गया था। उस कमरे से दूल्हे भाई के खर्राटे की आवाज बदस्तूर आ रही थी। वे थके हों या न हों, उनके खर्राटे ऐसे ही होते हैं कि नये आदमी की नींद अचानक खुल जाए।

धीरे-धीरे दरवाजे तक पहुंचकर सोचा कि रुबीना को जगाकर ठीक से सोने के लिए कह दूं, लेकिन फिर याद आया कि शायद वह इतनी जल्दी मेंहदी धोने के लिए तैयार न हो। दिन-भर की थकी-मांदी भी है और सुबह जल्दी भी उठना है। चलो हटाओ, सोने दो उल्टे-सीधे···

यह दूल्हे भाई अब हमारे कोई नहीं, फिर भी कैसे इतने अपने-से बन गए हैं कि उन्हें हटाकर कुछ सोचा भी नहीं जा सकता! कई बरस हुए, मेरी एक बदनसीब आपा के पल्लू से बंधकर रिश्तेदार बने थे पर बीच में ही आपा क्षय से उठ गईं। रिश्ता टूटा। उनका दूसरा ब्याह हुआ लेकिन बीमारी और अभाग्य में उनकी नौकरी भी जाती रही और दूसरी बीबी अपने बच्चे को लेकर

पिछले दो बरस से मायके जा बैठी है। इधर तभी से दूल्हे भाई ने पुराने रिश्ते को नया कर लिया है; हालांकि अम्मी को उनका रहना कभी पसंद नहीं आया। जब बेटी ही नहीं रही तो दामाद से क्या रिश्ता ?

कई महीने बेकार पड़े रहने के बाद, पिछले दिनों इन्हें कहीं कुछ काम मिला था। अपना सारा सामान-आमान समेट, महीने-भर का उधार राशन ले वह एक दिन घर से निकले थे। दो-तीन माह, जिन जंगलों में भी रहे हों, कोई चिट्ठी खबर नहीं दी और एक दिन राशन के खाली डिब्बे लेकर लौट आए तो फिर कहीं नहीं गए। तब से बगल वाले कमरे में दिन-रात उनकी खाट बराबर बिछी रहती है। सुबह नाश्ते के बाद जो निकलते हैं तो रात से पहले नहीं लौटते और घर में किसी को पता नहीं कि वह कहां-कहां भटकते या क्या करते हैं। एक तरह से अच्छा है कि उनके लौटने के समय प्राय: मैं सामने नहीं पड़ता···

झन्न्न्न् !

अचानक बावर्चीखाने के फर्श पर ऊपर से कोई थाली गिरी और उसके साथ ही खाली पड़ी शीन पर कंकर-मिट्टी गिरने की आवाज हुई। बगल के कमरे में दूल्हे भाई का खर्राटा सहसा रुका और एक क्षण बाद खखारकर उन्होंने करवट बदली।

चूहों ने कितना उत्पात मचा रखा है ! रूबीना कई दिनों से चिल्ला रही है कि इन कमबख्त चूहों के लिए मैं कुछ करूं। सोचता मैं भी हूं, लेकिन हर रात के गुजर जाने और सुबह होने के बाद फिर याद नहीं रहता। कई दिनों से लग रहा था कि फंदों-बंदों से कुछ नहीं होगा। सीधे मारने की दवा देनी चाहिए; लेकिन इसी डर के मारे कि दवा खाकर चूहे कहीं ऊपर के कोने-अंतरों में मरने लगे तो दुर्गंध के मारे रहना कठिन हो जाएगा, अब तक टालता रहा हूं। सोचा, अब कल ईद हो जाए तो इधर ध्यान देना ही होगा।

कहीं रूबीना जाग रही होती और यह उससे कहता तो जरूर हंस देती। पांच बरसों से साथ-साथ रहते हुए शायद मुझे अच्छी तरह पहचान लिया है। जानती है कि आज का काम किसी पर टालने के लिए किसी-न-किसी बहाने की तलाश अब मेरे स्वभाव का अंग बन गई है और ईद के आने या निकल जाने की बात भी वैसी ही है।

गए बरस की ईद में क्या हुआ था ? क्या हुआ था ?

शादी-ब्याह के बाद रूबीना के लिए पहली बार साटिन का सूट सिला था। बच्चों के लिए उधार कपड़े आए थे, अपनी सादी और हलकी साड़ी देखकर अम्मी का मुंह सूज गया था और मेरी गैरहाजिरी में वह रोयी थीं कि मैंने उन्हें बेवा-जैसे कपड़े लाकर दिए और अब्बा नाराज होकर अपने कमरे में जा

घुसे कि रिटायर हुए उन्हें साल नहीं हुआ और उन लोगों की दुर्गति शुरू हो गई।

सचमुच, ईद क्या हुई थी ! किसी तरह ईदगाह तक शरमा-शरमी गए और लोगों की नजरें बचाकर आख़िरी सफ में चुपचाप जा बैठे और उल्टे-सीधे सिजदे करके घर भाग आए। न किसी से मिलना-जुलना, न कहीं आना-जाना। इतना होने पर भी कुछ लोग अब्बा से मिलने आए थे, लेकिन वह अपने कमरे से बाहर नहीं निकले और बड़ी मुश्किल से ईद का दिन कटा था।

ऐसे दिनों का जैसे-तैसे पार हो जाना ही बड़ी बात है। पिछले साल फिर भी गनीमत थी कि ईद महीने की तीन-चार तारीख़ को पड़ी थी, पर इस बार महीने के आखिर-आखिर में आने वाली ईद सीधी आंखों से देखी नहीं जाती। कपड़े-लत्ते या दावत-मेजबानी न सही, कई चीजें हैं जो टाली ही नहीं जा सकतीं। मसलन, रोजे रखें-न रखें फितरा जकात निकालना है, सेहरी जगाने वालों का कर्ज है, आपस की रिश्तेदारी है और रूबीना कह रही थी, इस साल बाहर से बहुत फकीर आए हैं।

जब कहीं से कोई रास्ता नहीं सूझा, दफ्तर से फेस्टिवल-एडवांस भी नहीं मिला और सिर्फ दो दिन रह गए तो रूबीना घबरा गई। रूआंसे स्वर में बोली थी—अब क्या होगा ? और मेरे जवाब न देने पर उसने खुद एक सुझाव पेश किया था कि हम सब एक-दो दिन के लिए गांव चले जाएं। यह सुनकर एक पल के लिए मैं सहम गया था कि सचमुच कठिन घड़ी आ गई है। दोस्तों-मेहमानों के सामने क्या होगा ? कपड़े सरकाओ तो अपनी ही जांघ दिखती है लेकिन घर छोड़कर छिपने जाने का मन आखिर तक नहीं हुआ।

कल ईद है, पर अब बिना किसी आधार के हिम्मत बंध गई है। लगता है, दूर से विकराल दिखाई देने वाली हर समस्या पास आने पर साधारण बन जाती है और शायद झेल ले जाने में अधिक कठिनाई नहीं होती…

बावर्चीख़ाने में दूसरी बार चूहों ने ऊधम मचाया और फिर कोई बर्तन 'झनाक' करता हुआ गिरा। चौंककर सहमता हुआ मैं जैसे ठिठक गया, फिर धीरे-धीरे आकर अपनी खाट पर बैठ गया।

देखा इस बार की आहट से रूबीना की नींद उचट गई है। थोड़ी देर अपनी खाट पर वैसे ही पड़ी-पड़ी वह मुझे घूरती रही, फिर किसी तरह उठकर बैठती हुई बोली—"अभी तक क्या सोये ही नहीं ?"

"नहीं…"

मैं कहना चाहता था कि नींद नहीं आई; लेकिन कुछ सोचकर कह नहीं पाया। वैसी सूचना देना एक तरह से उसे भी विचलित कर देना था। अंदाज करने लगा कि जिन्हें अनिद्रा का रोग है वे कितना दुख पाते होंगे।

रुबीना ने अपनी दोनों हथेलियों और पांवों पर एक-एक नजर डाली और पूछा—"क्या बज गया होगा ?"

"अभी बहुत रात बाकी है, सो जाओ।"

जैसे मेरी बात कानों ही न पड़ी हो, इस तरह दोनों भरे-भरे हाथ लिए वह जंगले के बाहर अंधेरे में देखती रही और बड़ी देर बाद जैसे अपने से जबरन करती हुई बाहर आंगन में निकल गई।

तब, टाके के पत्थर पर पानी पड़ने की आवाज से मैंने अनुमान लगाया कि हाथ-पांव की मेंहदी धोयी जा रही है।

ऐसे ही आना था—ईद की सुबह को, बिल्कुल इसी तरह।

पिछले साल की ही तरह मुंह-अंधेरे उठकर अम्मी ने बाल-बच्चों को जगाया, सारे घर को झाड़ती-बुहारती रहीं, दोनों तरफ के आंगनों में गोबर की जगह खड़िया मिट्टी का सफेद छिड़काव किया और बाहर के चूल्हे पर गर्म पानी का गंगार चढ़ाकर फातिहा की तैयारी में जुट गईं।

बिस्तर छोड़े मुझे हालांकि आधा घंटा हो गया था, लेकिन शरीर में ढेर आलस लादे जहां आकर बैठा तो वहीं का होकर रह गया। घर-भर में मची सारी चहल-पहल बुरी तरह खल रही थी। सोच रहा था कि इस धूम-धाम के ऊपरी खोल के नीचे जो जख्म है, उसका दर्द क्या अकेले मुझको ही साल रहा है और सब लोगों को क्या उसका एहसास तक नहीं है ? अम्मी फातिहा के लिए दूध की राह देख रही है। अभी नहाया शरीर और पानी चुआते गीले बाल लिए रुबीना घर के तमाम कमरों में घूम रही है। दीवारों में सूराख ढूंढ़-ढूंढ़कर अगरबत्तियां खोंसी जा रही हैं और घर सारा पाक-पाक महक रहा है। पास-पड़ोस और रिश्तेदारों के बच्चे, नये-नये कपड़ों में सरफर करते, खोरमा के प्याले लिए आते हैं और अम्मी हैं कि उनसे घिरने पर भी सबको मेरी ओर भेज देती हैं। गुसलखाने से लोटा-गुंड के टकराने, भल्ल-भल्ल पानी फेंकने या नहाने की आहट आ रही है और नाली में खूब साबुन-फेन मिला पानी तेजी से बह रहा है।

मुझे वैसे चुपचाप बैठे देखकर एक बार अम्मी फिर बड़बड़ायीं कि इसका जाने क्या इरादा है। अभी सोकर उठे हैं, हाथ-मुंह नहीं धुला, हजामत नहीं बनी, जाने कब नहाना होगा और कब ईदगाह के लिए निकलेंगे...

हमेशा अम्मी इसी तरह जल्दी मचाती हैं, लेकिन सारे काम अपनी गति से ही होते हैं, भले उनकी दिलजोई के लिए हाथ-पांव जरा जल्दी चला दिए जाएं।

इतने बड़े हंगामे के बीच मैंने एक दूल्हे भाई को ही देखा जो बिल्कुल

निर्लिप्त भाव से चुपचाप अपनी खाट पर लेटे हुए हैं। न किसी से बोलते हैं, न किसी को सुनते हैं और न ही किसी बात पर ध्यान है। 'आदतन चुप हैं' वाली दलील के सहारे बस पड़े हुए हैं। मेरे ही सामने कई बच्चे सिर-खोरमा के प्याले लेकर गए थे और भरा हुआ चम्मच उनकी ओर बढ़ाया था, पर किसी से उन्होंने एक घूंट भी नहीं पिया, सारे चम्मच यह कहकर लौटा दिए कि उन्होंने मुंह-हाथ नहीं धोया।

अम्मी तो कई बार उन्हें टोक चुकी थीं। नहाने-धोने और कपड़े बदलने के बाद मैं भी उनके पास गया और धीरे से बोला, "दूल्हे भाई, चलो, नहा-धो लो।"

जवाब में धीरे से गर्दन उठाकर कैसी आंखों से मेरी ओर देखा, यह कहना कठिन होगा, बोले—"नहा लूंगा, जल्दी क्या है?"

"क्यों, क्या नमाज में नहीं जाओगे?"

दो क्षण ठहरकर, उन्होंने जबरन हंसने की कोशिश की, लेकिन आंखें झलमला आईं, बड़ी कठिनाई से बोले, "हमारे लिए क्या ईद और क्या बकरीद..."

मैंने कहना चाहा कि, जिनके पास पैसे नहीं या जिनके बीवी-बच्चे साथ नहीं होते क्या उनकी ईद ही नहीं होती? खुशी न सही, इबादत और फर्ज तो अपनी जगह है; पर सचमुच कहते नहीं बना। लगा, यह बात शायद यहां ठीक नहीं होगी। मेरे बाद अम्मी ने भी जोर दिया और ईदगाह चलते-चलते जब अब्बा भी बुरी तरह आग्रह कर बैठे तो माफी मांगकर दूल्हे भाई रोने लगे। रुबीना ने बताया कि एक दिन पहले भी दूल्हे भाई धीरे-धीरे आंसू ढाल रहे थे।

रास्ते-भर मन उखड़ा-उखड़ा रहा। लगा, दूल्हे भाई ने जितना अपराध नहीं किया उससे अधिक भोग रहे हैं। अभी कल उनके पास पैसा हो जाए, बीवी-बच्चे या रिश्तेदार क्या सभी सिर-आंखों पर नहीं उठा लेंगे? क्या नहीं?

ईदगाह से लौटते हुए अधिकांश लोगों के साथ मैं भी कब्रिस्तान में रुक गया। अगरबत्ती की पुड़ी एहतियात से सम्हाले हुए, मैंने बाहर फाटक के पास चप्पलें उतारीं और अहाते के भीतर आया तो अपराध का भार जैसे दूना हो गया हो, ऐसे पांव ठिठक गए। अहाते-भर में सफेद-उजले कपड़े पहले लोग फैले हुए थे। हर आदमी अपने-अपने घर-परिवार वालों की कब्रों के पास खड़ा फ़ातिहा पढ़ रहा था, जगह-बेजगह अगरबत्तियां जल रही थीं और ईदगाह में छूटे हुए लोग मौका निकालकर वहां भी आपस में गले मिल रहे थे। कब्रिस्तान का माहौल भी आज के दिन कैसा अजीब-सा होता है! जिधर देखो, नयी-पुरानी या कच्ची-पक्की कब्रों की बेसिलसिलेवार कतार, अधिकांश को अपने में ढांपी हुई आवारा घास अथवा झाड़ियां और उन पर साया करती पीपल तथा बड़

की आपस में गुंथी हुई बूढ़ी शाखें···

मुद्दत हो गई और अब वह सब छूट गया है। तब की भावना और उत्साह आज कहां है ? वह हर किसी की मैयत के साथ कब्रिस्तान आ जाना और बड़े उत्साहपूर्वक पेश-पेश होकर काम करना—चाहे कंधा देना हो, कब्र के भीतर जनाजा उतारना हो अथवा फावड़ा लेकर ऊपर से मिट्टी ढंकना हो। आज तो अपने-आपको ही अपरिचित पाता हूं और यह सारा माहौल नया-नया लगता है जैसे पहली बार अहाते के भीतर पांव रखे हों। सचमुच, इस बीच कितनी नई-नई कब्रें बन गईं, कितना ढेर-सा परिवर्तन हो गया और मुझे पता नहीं !"

लेकिन मैं यह सब क्या बूढ़ों जैसा सोचने लगा हूं ? अभी तो कुल मिलाकर छब्बीस बरस ही गुजरे हैं और सारा जीवन मेरे सामने पड़ा है। मन-ही-मन सलाम भेजकर, एहतियात और धीरे-धीरे पांव रखता हुआ मैं आपा की कब्र के पास जा खड़ा हुआ, अगरबत्तियां जलाकर खोंसी, फातिहा पढ़ी और बहुत धीरे से भर्राए स्वर में बोला, "आपा, दूल्हे भाई को माफ करना। उनके पास तो लोबान खरीदने के लिए भी पैसे नहीं हैं !"

•

"फूफी के यहां नहीं जाओगे ?"

घर पहुंचने पर सबसे पहला सवाल रूबीना ने यही किया तो मैं जैसे भीतर से डगमगाकर रह गया था। कई क्षण न जवाब देते बना और न ही सीधे उसकी ओर देखते। वह तो अच्छा हुआ कि दिन के इतने प्रकाश में भी उस कोठरी में अंधेरा था। वहीं पास में धीरे से सरककर मैंने खाट की पाटी टटोली, चुपचाप लेट गया और आंखें मूंद ली थीं।

ईदगाह से लौटते में डग बार-बार धीमे क्यों पड़ जाते थे ? लगता था जैसे मैं टांगों को घसीटता हुआ चल रहा हूं। त्यौहार के उत्साह की बात तो दूर, दूसरे मामूली दिनों की गति भी जैसे मर गई थी। जानता था कि घर जाने पर क्या होगा। वही कई साल पुरानी तस्वीर—आपा को याद करके बिसूरती हुई अम्मी, थक-टूटकर खाट पर लेटे और चुपचाप और निर्निमेष ताकते अब्बा, नये-नये कपड़ों में अपने, बिराने, रिश्तेदारों तथा पड़ोसियों के ढेर बच्चे और रूबीना···

कलेजा मुंह को आना और कैसा होता है ?

देखता हूं, सबके लिए ईद है सिर्फ रूबीना के लिए ही नहीं है। रोजमर्रा के उपयोग की मामूली धुली साड़ी, कुछ वैसा ही रूखा-फीका ब्लाउज, कलाइयों में कांच की पुरानी-घिसी चूड़ियां तथा मांग में पीला अफ्शां डाले खड़ी है। होंठ पपड़ा गए हैं, लेकिन मेंहदी रची उंगलियों को माथे से छुआकर आदाब

करती है।

किसी तरह जवाब देकर, बिना उसकी ओर दुबारा देखे अम्मी को आदाब करने बावर्चीखाने तक चला जाता हूं। कामधाम में चुपचाप लगी हुई अम्मी रो नहीं रहीं, लेकिन चेहरा सूजा हुआ है और आंखें डबडबायी-सी लगती हैं।

पहले इसी दिन की कितनी राह देखी जाती थी ! ईद के पहले वाला दिन खुशी के मारे कटता नहीं था और सुबह की प्रतीक्षा में रात देर तक नींद नहीं आती थी। खुशी क्या कोई एक थी ? नये-नये कपड़े पहनने की खुशी, सब लोगों के साथ ईदगाह जाकर नमाज पढ़ने की खुशी और लौटने पर अम्मी, अब्बा व आपा से ईद मिलने की खुशी···

एक बार मन हुआ कि हाथ फैलाकर कहूं—लाओ अम्मी, मेरी ईदी कहां है ? लेकिन उनके चेहरे को देखकर वैसा कौतुक करने का जी नहीं हुआ और चुपचाप अपनी अंधेरी कोठरी में लौट आया था। तब रूबीना शायद बगल के कमरे में थी, आहट सुनकर लौट आई और सबसे पहले उसने यही सवाल किया। लेकिन नहीं, सवाल वह कहां, जैसे एक तरह का आग्रह था कि मैं फूफी के यहां जरूर जाऊं। पिछले साल इन मौकों पर टाल गया था और सुना, फूफी रो रही थीं कि वह गरीब-बेवा हो गई हैं शायद इसीलिए भाई-भतीजे, त्यौहार-बहार तक में दहलीज पर पांव नहीं धरते···

"खाओ भैया, क्या सोचते हो ?"

पानी का गिलास लिए आती हुई फूफी को यह कहते सुनकर मैं इस तरह चौंका जैसे चोरी से किसी लड़की की ओर देखता हुआ पकड़ा गया होऊं।

"यह बहुत है फूफी," मैंने जल्दी से झुककर प्लेट उठाई और चम्मच से थोड़ा अलग करते हुए कहा—"इतना निकाल लो।"

लेकिन कहने के तुरंत बाद ही लगा कि सच न कहकर जैसे बहाना किया हो; क्योंकि एक बार आग्रह करने के बाद न तो फूफी वहां से उठीं और न ही मैंने जोर दिया—बिना शिकायत किए उनका मन रख लिया और सिर झुकाए हुए सारी बातें सुनता रहा। वे ही बातें जिनके डर से फूफी के यहां आना मैं इधर टालता रहा हूं। भला उन कड़वी बातों को कोई कब तक सुनते जाने का साहस कर सकता है ? और आखिर सुनकर भी क्या होगा सिवाय इसके कि हां-हूं करता हुआ मैं चुप बैठा रहूं और अंत में भारी मन लेकर उठ जाऊं···

"अरे बाबा, चाचा को आदाब नहीं करेगा ?"

यह मसूद की दुल्हन की आवाज थी जो जच्चाखाने के दरवाजे के पास से आई। बाबा बाहर से खेलकर सीधे अपनी अम्मी के कमरे की ओर बढ़ रहा

था। एक क्षण के लिए वह ठिठक गया, पलटकर उसने सहमती आंखों से पहले मुझे, फिर अपनी दादी की ओर देखा और ढिठाई से हंसता हुआ भागने लगा कि मुझे याद आया, आज ईद है ! रूबीना ने चलते-चलते मुझे रोककर कहा था कि ईद के दिन भी मैं फूफी के यहा खाली हाथ कैसे जा रहा हूं ? एक छोड़ चार-चार बाल-बच्चे हैं। ईद में रुपया-दो रुपया न सही, कमाते-खाते भी क्या बिल्कुल ही…

मैंने फूफी की नजर बचाते हुए धीरे से टटोलकर देखा। जाने किन संदूकों में से ढूंढ़-खोजकर निकाली और मुझे दी गई अठन्नी बराबर जेब में पड़ी हुई थी सो जरा हिम्मत करते हुए हंसकर मैंने आग्रह और प्यार के साथ बाबा को पुकारा। दो-तीन बार अपनी बात दुहराई; लेकिन वह मेरे पास नहीं आया। थोड़ी देर बाद भीतर से मसूद की दुल्हन के डांटने, धमकाने और पीठ पर अचानक धौल पड़ने से बाबा के रोने की आवाज आई और जब फूफी का बात करना कठिन हो गया तो अपनी बहू के कमरे की ओर उपेक्षा से देखकर वह बोलीं—"यही होता है। रोज-रोज और हर घड़ी का यह रोना-पीटना सुनते-सुनते जी ऊब गया है। बच्चे हैं, लेकिन सलीका न शऊर। मसूद है कि डांय-डांय घूमता है, न काम-धाम की चिंता और न अपने बीबी-बच्चों की परवाह…सब मेरी ही जान के लिए हैं; ठीक है, जब तक जीती हूं, नोच खाओ…

जब फूफा जिंदा थे, इसी घर में आज के दिन कितना हंगामा मचा रहता था ! सामने के बैठकखाने में रात देर तक कोई-न-कोई प्लेट लिए बैठा होता। मैं खाली जेबें लिए जाता; लेकिन लौटते में खनकने लगतीं। सभी से ईदी मिलती—फूफा, फूफी और मरहूम बड़ी आपा; अलग-अलग सबसे। लगता कि मसूद लाख उनका सगा भाई हो बड़ी आपा मुझे ही अधिक चाहती हैं।

आज बड़ी आपा जिंदा होतीं तो क्या होता ? क्या मसूद के लिए उतनी भी चाहत रह जाती ? देखतीं कि इतना बड़ा जवान-जहान लड़का है; लेकिन कौड़ी काम का नहीं। नौकरी-चाकरी छोड़ मटरगश्ती करता फिरता है और बुढ़ापे में फूफी आठ-आठ आंसू रोती हैं।

डरती आंखों से मैंने फूफी की ओर देखा तो सचमुच जी भर आया—या अल्लाह, फूफी को सचमुच बेवाओं की तरह मैंने कब देखा था ? न गले में गेहूं-दाने की लड़ियां हैं और न नाक में लौंग। बालियों से लदे रहने वाले कान झुके जरूर हैं; लेकिन उनमें सिर्फ सूराख रह गये हैं। गए, सब गए ! जिस राह से आए थे, उसी राह निकल गए। जैसे-तैसे सिर पर छत रह गई है लेकिन वह भी जाने कितने दिन और रह पाती है। पिछले दिनों रूबीना कह रही थी कि मसूद उसका भी आधा हिस्सा बेचने के लिए फूफी से लड़ रहा है…

अचानक घबराहट-सी लगी, सो मैंने कहा, "फूफी, मैं चलूं ?" फूफी ने जरा

चौंककर मेरी ओर देखा, फिर वाहर के दरवाजे की ओर देखती हुई वोलीं—"वेवी और सलीम पता नहीं कहां निकले हैं, तुमसे मिले थे ?"

लगा, जैसे अपने घर के छोटे दरवाजे से गुजरते वक्त अचानक मेरे माथे पर खट से उनका चौखट लगा हो ! तिलमिलाकर मैं अंदर-ही-अंदर रुआंसा हो आया कि यह वात आखिर मेरे ध्यान से कैसे हट गई थी ? नमाज के वाद जव घर पर था तो वेवी और सलीम दोनों आए थे । अपने कमरे में लेटा हुआ मैं साफ सुन रहा था कि मुझे वार-वार पूछ रहे हैं और वेवी रूवीना से ठुनकती हुई हठ कर रही है—'भाभी, चलो हमारी ईदी लाओ ।' लेकिन मैं वाहर नहीं निकला और रूवीना ने वड़ी कठिनाई से हंसकर टाला—'देखो, तुम्हारे भैया अभी सो रहे हैं। वह उठें तो उनसे इकट्ठे ले लेना, आं ?...'

सहसा मेरी घवराहट और वढ़ गई । फूफी के सवाल का जवाव मैंने जरूर दिया लेकिन आशंकित आंखें वार-वार दरवाजे की ओर उठ जाती थीं । कहीं वेवी या सलीम इसी क्षण आ गए तो क्या होगा ? कुछ देर रुककर दरवाजे पर आंखें ठहराए हुए ही मैंने उठने का उपक्रम किया कि फूफी ने रोक दिया और स्वयं उठकर, मसूद की दुल्हन के कमरे की ओर वढ़ती हुई वोलीं, "ठहरो, मसूद के नए वावा को नहीं देखोगे ?"

कोई जवाव दूं, इससे पहले ही मुझे वहां छोड़कर फूफी जा चुकी थीं। और कुछ ठीक-ठाक याद नहीं । भीतर के कमरे में नये वच्चे के रोने की आवाज गूंज रही थी, फूफी का लाड़-भरा स्वर आ रहा था । मसूद की दुल्हन कुछ कह रही थी मगर मेरी आंखों के सामने उस दिन वाली रूवीना का चेहरा उभर आया था । कुछ पहले, इसी वच्चे की छठी के दिन फूफी ने रूवीना को कई वार वुला भेजा था । मसूद की दुल्हन ने खवर भेजी थी और अम्मी ने भी वार-वार चले जाने का आग्रह किया था पर रूवीना मेरी वात तक टाल गई—"वताओ, कौन-सा मुंह लेकर फूफी के यहां जाऊं ? वच्चे को देने के लिए और तो और, गज-भर कपड़ा भी नहीं है..."

"चाचा हैं रे, चाचा !"

अचानक फूफी की आवाज दहलीज पर से आई और देखा कि थोड़ी देर पहले जो दुख में डूवी हुई थीं वही फूफी, वीस-वाईस दिनों के वच्चे को गोद में उठाए, उससे लाड़-भरी वातें करती हुई मेरी ओर चली आ रही हैं !

"जाएगा, चाचा के पास जाएगा ?"

मेरे पास पहुंचकर फूफी ने वच्चे को दोनों हाथों से जरा ऊपर उठाया और विल्कुल उसके मुंह के पास अपना मुंह ले जाकर प्यार से वोलीं । मुझे लगा जैसे उन्होंने कहा हो—'लो, इसे गोद में लो ।'

मैं हंसता हुआ उठ खड़ा हुआ, दो कदम वढ़कर फूफी के एकदम पास तक

चला गया और बच्चे की ओर जरा झुककर, दूर से ही प्यार जताने लगा ।

"फूफी, यह कितना छोटा-सा है, नहीं ? मुझे तो सच, गोद में लेते हुए डर लगता है ।"

कहकर मैं सीधा खड़ा हो गया और एक नजर उस कमरे की ओर डाली जिसके दरवाजे की ओट-सटी हुई मसूद की दुल्हन खड़ी थी । जो दो बड़े-बड़े बच्चों का बाप बन चुका हो, उसके मुंह से ऐसी बात सुनकर पता नहीं उसने क्या सोचा होगा ? मसूद का बड़ा लड़का बाबा चौखट से टिका हुआ खड़ा था और अपनी कमीज के सामने वाले पल्ले को उठाकर, उसका एक कोना दांतों से चबाता हुआ मेरी ओर देख रहा था—बिल्कुल ऐसे, जैसे बिना मां-बाप के बच्चे कभी-कभी कातर भाव से बड़ों की ओर देखते हैं !

"अच्छा फूफी, चलता हूं ।"

धीरे से कहकर मैं लगभग एक मिनट वहां रुका रहा, लेकिन फूफी नहीं बोलीं, गोद लिए बच्चे के सिर को एक हाथ से आहिस्ते-आहिस्ते सहलाती हुई खड़ी थीं और इस बार न तो किसी ने बाबा को आदाब करने का आग्रह किया और न ही मसूद की दुल्हन ने मुझे सलाम भेजा ।

देर तक जमीन पर बैठे रहने के कारण कुर्ते में जगह-जगह सिलवटें आ गई थीं । खींच-तानकर उन्हें ठीक करते हुए मैं चलने की तैयारी करने लगा; पर लज्जा के मारे पांव ही नहीं उठ रहे थे । लग रहा था जैसे मेरे शरीर पर भरे-पूरे कपड़े नहीं, सिर्फ एक उठंग-सी कमीज पड़ी है । फूफी और मसूद की दुल्हन के सामने अपने को जैसे-तैसे ढंकने के लिए कमीज के पल्ले खींचता हूं, पर पेट ढंकता है तो पीठ खुल जाती है… △

गंदले जल का रिश्ता

छोटी पुलिया के पास जो गली मुड़ती थी, वहीं पर छाती पीट-पीटकर केदारनाथ चिल्ला रहे थे।

क्षण-क्षण में उनके मुंह से फूहड़ से फूहड़ गालियां निकलतीं और होंठों से गालियों के छूटते ही एक निमिष के लिए रुककर वह मुहल्ले वालों की प्रतिक्रिया देखने लग जाते।

अचानक उन्हें पहचानकर राजेश्वर आध फलांग दूर पर ही ठिठक गया। केदारनाथ की पीठ इधर थी और वह राजेश्वर के घर की ओर मुंह किए सारे मुहल्ले को सुना-सुनाकर गालियां दे रहे थे। इतने फासले से भी राजेश्वर ने स्पष्ट देखा कि पिछले दिनों की अपेक्षा आज केदारनाथ ने अपनी हुलिया और बिगाड़ रखी है—खड़े-खड़े, रूखे और मिट्टी-सने बाल, फटकर एक ओर उड़ता हुआ पैजामे का परचमनुमा पांयचा, उघड़ा हुआ गिरेबान और कुल तस्वीर पागल या भिखारी-जैसी!

सामने ट्रक आ रहा देखकर राजेश्वर जरा किनारे हटता हुआ आम के साये तक चला गया और तने के पास रुककर आगे बढ़ने के विषय में सोचने लगा।

फासला रहते अचानक चेत जाने पर उसे जितनी प्रसन्नता हुई उतना ही आश्चर्य भी हुआ। कचहरी से घर लौटते वक्त अक्सर राजेश्वर इन छोटी-छोटी बातों का ख्याल नहीं कर पाता था कि आसपास कौन है, सामने की सड़क पर कौन आ रहा है या कौन बाजू से निकल गया। तेरह साल की नौकरी में यह आदत बन गई थी कि कचहरी की सीढ़ियां उतरते ही राजेश्वर के दोनों हाथ पीछे बंध जाते, गर्दन झुकती, आंखें कुछ गज के फासले पर जम जातीं और नीचे सिर किए सोचते रहने के दौरान घर और कचहरी के बीच की दूरी तय हो जाती।

आज संयोग ही था कि उसने इतनी दूर से घर की ओर निगाह डाल ली और समय रहते सतर्क हो गया, वर्ना केदारनाथ से रास्ते में ही टक्कर हो जाती।

इस बार सामने देखते ही राजेश्वर तत्काल वहीं बैठ गया। उसी सड़क से साइकल पर ठेकेदार रतन मिश्र आ रहे थे। दो क्षणों की भी देरी हुई होती तो उसने पुकारकर सलामी दाग दी होती और जवाब में राजेश्वर को रुकना पड़ता। रुकने पर सौ तरह की बातें निकल आती हैं। भट्ठियों के नीलाम का समय आ रहा है। शराब की भट्ठियों के ठेकेदार अभी कुछ रोज और सलाम करेंगे!

रतन मिश्र के निकल जाने के बाद भी हालांकि एक-दो परिचित लोग सड़क पर और दिखाई दे रहे थे; लेकिन इस बार राजेश्वर ने उनकी परवाह नहीं की। कमीज के अगले और पिछले पल्ले को दो-तीन बार खींच, पैजामें के नेफे की चुन्नट ठीक करता हुआ, वह ऐसे सड़क पर आ गया जैसे आम-बाम की आड़ में जाने की उसे जरूरत आ पड़ी हो।

केदारनाथ के चिल्लाने के कारण शुक्ला, खन्ना और पास-पड़ोस के कई घरों की औरतें बरामदों में निकल आई थीं और मजे ले-लेकर मुस्कुरा रही थीं। जैसे-जैसे केदारनाथ चिल्लाते और गालियां बकते वैसे-वैसे औरतों में चिमगोइयां होतीं और वे एक-दूसरे को कोहनी मारकर या भौंहों को इशारा फेंककर हंसतीं। जब बहुत आवेश में आकर केदारनाथ बिल्कुल ही नंगी गालियों पर उतर आते और प्रतिक्रिया देखने के लिए औरतों की ओर मुंह करते तो कुछ झिझककर पीछे हटतीं, कुछ दीवार की आड़ छिपतीं और कुछ भीतर घुसकर खिड़की-दरवाजे का एकाध पल्ला खोल बैठ जातीं।

आम-सड़क छोड़ और नाली लांघकर राजेश्वर ने वह पगडंडी पकड़ ली जो सड़क की बाईं ओर से फिसलकर उसके घर के पिछले दरवाजे के पास से निकलती थी।

सड़क से सीधे न जाने के कई कारण थे। एक तो रास्ते में ही केदारनाथ से भेंट हो जाती और राजेश्वर को देखकर वह और जोर-जोर से बकने

लगते। पता नहीं, राजेश्वर से वह बातें बरदाश्त होतीं या न होतीं—मुफ्त में तमाशा बनाने से क्या फायदा? दूसरे, सारी औरतों की आंखों के बीच से कम-से-कम आज निकल जाने का साहस उसे न हुआ।

इतनी बड़ी लज्जा और अपमान की चोट को 'समय है, टल जाएगा' के तर्क से सहलाते हुए भी उसकी आंखों के सामने पड़ोस की कई औरतों का चेहरा बारी-बारी से घूम गया। उसने देखा कि सभी की आंखों में उसके प्रति दया मिली हुई सहानुभूति है, लेकिन तो भी वह भीतर-भीतर लहू-लुहान हो जाता है। कई बार दया से भी घाव लगते हैं!

"शुक्ला की बीवी सबसे कमीनी है!" राजेश्वर ने दांत पीसकर अपने-आप कहा और उधर एक उड़ती नजर डालकर उसने अपने कदम तेज कर दिए।

जिस दिन राजेश्वर दूसरी तहसील से बदलकर आया उसी दिन कचहरी के बाबुओं ने अपने-अपने ढंग से उसे समझाया कि वह यहां शुक्ला से बचकर रहे। बेईमान आदमी है और किसी को अच्छा खाते-पीते नहीं देख सकता। साहब से मिला हुआ है और बाबुओं से उनकी-जैसी बातें करता है।

उस समय राजेश्वर ने सब लोगों के सामने बेपरवाही से हंसकर यह बात टाल दी, लेकिन अंदर-ही-अंदर वह उससे सतर्क रहने लगा। दूसरे लोगों के न देखते में उसने कई बार शुक्ला को अपने घर बुलाया, चाय पिलायी और मित्रता तथा सहृदयता से उसे खूब मिलाने की कोशिश की। कुछ दिनों ठीक चला भी, लेकिन सब-कुछ उस दिन बिगड़ गया जब तहसीलदार ने शुक्ला को उसके सेक्शन से हटाकर राजेश्वर को चार्ज दे दिया और शुक्ला ऐसी जगह जा पड़ा जहां न लोगों की पूछ थी, न आदर-महत्त्व और न ही ऊपरी आमदनी!

उसके बाद भी शुक्ला ने राजेश्वर की चाय पी और हंसा-बोला। उसकी पत्नी कई बार घर आई-गई, लेकिन अनजाने में बात इतनी बढ़ जाएगी, यह उसने कभी नहीं सोचा था। महीने-भर के अंदर ही कचहरी और यहां-वहां चर्चा होने लगी कि राजेश्वर पिछली जगह से बदनाम होकर आया है। लोग अंधे तो नहीं, उनकी भी आंखें हैं! ईमानदारी से इतना उजला-पीला कौन रह सकता है? उतनी ही तनख्वाह तो और भी लोग पाते हैं—दो-चार जगह से उधारी लिए बिना उनका महीना क्यों नहीं निकल पाता?…

"साले, रेडियो बजाते हैं, रेडियो! तेरे बाप ने भी कभी रेडियो बजाया था?"—केदारनाथ की आवाज आई—"अरे, इस बस्ती से गठरी बंधवाकर न निकलवा दूं तो कहना श्यामनाथ की नहीं, किसी चमार की औलाद हूं?"

राजेश्वर को लगा कि केदारनाथ ने उसे पिछली गली से छिपकर जाते देख लिया है और तभी उसे सुनाकर बात कही जा रही है। उसकी कनपटी की नसें तमतमा आईं और मारे क्रोध के चाल धीमी हो गई; लेकिन लौटकर पीछे

देखने का साहस नहीं हुआ। क्षण काल के लिए अचानक वही विचार मन में फिर कौंध गया—ऐसे अपमान के जीने से तो चुपचाप···

लेकिन इसके आगे हर बार की तरह इस बार भी वह नहीं सोच सका। इतना सब साहस उसमें अब कहां रह गया है ? उसके आगे-पीछे कोई नहीं और मां-बाप का यह हाल है। अपनी पत्नी और बच्चों को वह किसके माथे डाल जाएगा ?

जरा चौंककर राजेश्वर ने गर्दन उठाई, दाहिनी ओर एक बार झटका दिया और चौकन्नी नजर से इधर-उधर देखा। दूर तक कोई नहीं था। साल, शीशम और आम के पास-पास लगे पेड़ों की वजह से समूची नजूल जमीन पर अमराई-जैसा घनापन छा जाता है। सभी मकानों के पिछले दरवाजे बंद थे। और इधर कोई भी राजेश्वर को देखने वाला न था। उसने संतोष की सांस ली।

लगभग हफ्ते भर पहले, कम-से-कम इस बस्ती में किसी को मालूम न था कि केदारनाथ राजेश्वर के पिता हैं। आज बच्चा-बच्चा जान गया है और घर-घर उसकी इज्जत की खाल खींची जा रही है। कोई भी परिचित-अपरिचित हंसता हुआ मिलता है तो उसकी भेंट और हंसी राजेश्वर को व्यंग्य-जैसी लगती हैं। दो-चार लोग खड़े बातें कर रहे हों, वह उधर से गुजर जाए और कोई उसे मुस्कराकर देखे तो अपने-आप राजेश्वर की चाल गड़बड़ा जाती, अपनी पीठ और पिछली गर्दन पर कुछ गड़बड़ महसूस होता और लगता जैसे आसपास का हर आदमी मुस्कराकर कह रहा है, "यही राजेश्वर, केदारनाथ का बेटा ! मां-बाप हैं कि भिखारियों-जैसी हालत लिए दर-दर भटक रहे हैं, दाने-दाने को मोहताज और यह उन्हें कौड़ी की मदद किए बिना, अपने बीवी-बच्चों के साथ अलग मौज कर रहा है।"

पिछली शाम तहसीलदार ने बुलवाया था। थोड़ी देर बैठाने और इधर-उधर की बातें करने के बाद उन्होंने धीरे से पूछा, "क्या यह सच है कि केदारनाथ तुम्हारे पिता हैं ?"

राजेश्वर का चेहरा उतर गया। उनकी ओर पल-भर देख, अटककर कठिनाई से वह बोला, "जी···"

"भाई, उन्हें अपने साथ क्यों नहीं रखते ?" उन्होंने जैसे कोई राह सुझाते हुए सहानुभूति के साथ कहा, "वह गली-गली चिल्लाते और तुम्हें गालियां देते फिरते हैं। इस नंगेपन से तो तुम्हारी ही बदनामी होती है न ! कल मेरे पास आकर रो रहे थे। उन्हें शिकायत है कि तुम्हें पाल-पोसकर इतना बड़ा किया, पढ़ाया-लिखाया और शादी कर दी लेकिन ब्याह के कुछ बरसों बाद ही तुम्हारी बीवी ने तुम्हें मिलाकर उन दोनों को घर से निकलवा दिया और वे लोग मारे-

मारे भटक रहे हैं।"

सब यही कहते हैं—राजेश्वर अंदर-ही-अंदर रोने को हो आया—कोई भी उसे या उसकी परिस्थिति को समझने के लिए तैयार नहीं। उसे लगा था कि बस्ती का हर आदमी उसे किसी-न-किसी तरह अपमानित करना चाहता है। उसे बुला-बैठाकर सहानुभूति के बहाने लोग तमाचे लगा देते हैं और वह कुछ नहीं कह सकता। राजेश्वर की जगह अपने-आपको रखकर कोई क्यों नहीं सोचता? वह किस-किसके आगे अपनी सफाई देता फिरेगा? बाप में चाहे जितनी बुराइयां हों, लोग नहीं देखते, सारी गलती बेटे के सिर थोप दी जाती है और उसके छोटे-से-छोटे दोष भी गिनाए जाने लगते हैं।

सब याद है। उसे एक-एक घटना और एक-एक बात याद है। बचपन की बातें नहीं भूलीं (जिस समय के पालने-पोसने की बात केदारनाथ कहते हैं)। जब तक वह स्कूल में रहा तब की भी नहीं और ब्याह तो खैर लगातार आठ बरस की नौकरी करने और पैसे जमा करने के बाद ही वह कर पाया था।

उसे यह सोचने तक में वेदना होती थी कि केदारनाथ ने रामेश्वर की कभी परवाह नहीं की, बावजूद इसके कि वह उनका इकलौता बेटा था! घड़ी-दो घड़ी के ऊपरी लाड़-चोंचले से क्या होता है? सारी उम्र उन्होंने सिर्फ अपनी ही सुख-सुविधा में गुजार दी और अब गली-गली और घर-घर अपने अधिकारों की बात करते हैं। पहले मां ऐसी न थी, लेकिन धीरे-धीरे केदारनाथ ने उसे भी अपने रंग में पूरी तरह रंग लिया और अब उनके चीथड़ों में अपना चीकट दामन जोड़े वह भी घिसट रही है।

केदारनाथ की नौकरी की शुरुआत पुलिस-विभाग की कांसटेबिली से हुई। पच्चीस-छब्बीस बरस कांसटेबिल होकर वह देहात-देहात भटके; लेकिन तरक्की की कौन कहे, हमेशा तनज्जुली होती रही। राजेश्वर जब पांच-छह बरस का हुआ तो पढ़ने की उम्र से लेकर स्कूल छोड़ने की अवस्था तक वह पहले किसी रिश्तेदार के यहां और बाद में बोर्डिंग-हाउस में धक्के खाता फिरा। दलील थी कि केदारनाथ को नौकरी की वजह के जंगल-जंगल भटकना पड़ता है, राजेश्वर को साथ रखना और पढ़ाई की ओर ध्यान देना संभव कहां था?

लेकिन उनका यह भटकाव इस तरह खत्म हुआ कि एक दिन ड्यूटी में शराब पीने और किसी मुजरिम से दो रुपए वसूल लेने के लिए, पिछले रिकॉर्ड के आधार पर, बरखास्त कर दिए गए और नौकरी से छुट्टी मिली।

तब राजेश्वर के ब्याह को पांच-छह बरस हो गए थे और बड़ा लड़का लल्ला चार का था। नौकरी से छुट्टी पाकर केदारनाथ ने दो साल राजेश्वर के साथ रहकर यूं ही गुजारे। आज भी उन दिनों की बात याद आने पर राजेश्वर की भौंहें सिमट आती हैं, होंठों की आकृति बदल जाती है, मुंह कड़वा हो जाता

है और आश्चर्य करता हुआ वह सोचता है कि वह सारा समय उसने किस मुश्किल, धैर्य और साहस के साथ विताया !

इससे पहले इतने लंवे समय तक इकट्ठे रहने का अवसर नहीं आया था। मिले-जुले परिवारों की उलझनों और समस्याओं को राजेश्वर नहीं जानता था। केदारनाथ और मां के साथ रहने पर इतनी परेशानियां आ सकती हैं, यह उसने कल्पना भी न की थी।

पहले छोटी-छोटी वातों पर मतभेद हुआ, फिर किसी-न-किसी वात को लेकर मां और पत्नी के वीच झड़प शुरू हुई और उसके वाद यह प्रायः रोज का नियम वन गया।

सारा झगड़ा अक्सर लल्ला को लेकर होता। यह एक अजीव वात है कि मां राजेश्वर के वच्चों को कभी सह नहीं पाई। जितने दिनों साथ रहे, राजेश्वर ने कभी नहीं देखा कि मां ने लल्ला को गोद में लिया हो या उससे लाड़ की वात की हो। उल्टे तरह-तरह की शिकायतें करती, मामूली वात पर भी झुंझलाकर उसे झिड़क दिया करती और मौके-वेमौके लल्ला को एक-दो धौल तक पड़ जाते।

राजेश्वर और उसकी पत्नी ने ऐसे हर अवसर को टाल दिया और सिर्फ इस डर से दोनों में से किसी ने मुंह नहीं खोला कि मां वुरा न मान ले।

लेकिन उस दिन न चाहते हुए भी विस्फोट हो गया। अभी कचहरी से लौटकर राजेश्वर पांव के जूते ही खोल रहा था कि पास वाले कमरे की चौखट पर आंसू पोंछती हुई मां आ खड़ी हुई और भरे गले से पुकारा, "रज्जू !"

राजेश्वर कुछ पूछे या कहे, इससे पहले ही मां ने रोते-रोते शिकायत की कि अव तक लल्ला उससे छेड़खानी ही करता था, आज से मारना भी शुरू कर दिया ! उसे राजेश्वर से दो जून रोटियां मिलती हैं, इसका क्या यह मतलव है कि वह छोटे-छोटे वच्चों की मार खाकर रहे ?

जवाव में राजेश्वर से कुछ नहीं कहा गया। थोड़ी देर जूतों पर ही झुका वह उसके फीते खोलता-वांधता रहा, फिर तेजी से उठकर दूसरे कमरे में लल्ला के पास जा खड़ा हुआ। लल्ला का ध्यान इन वातों में नहीं था, वह सिर झुकाए नयी मोटर के खेल में व्यस्त था। राजेश्वर ने एक क्षण की भी देरी किए विना झपटकर उसकी वांह पकड़ी, झकझोरकर उठाया, उसे वरामदे तक लगभग घसीट ले चला और वहीं पास पड़ी दतौन उठाकर कितनी वार उसके छोटे शरीर पर गिराए-उठाए उसे याद नहीं।

आज भी उस दिन का स्मरण करने पर राजेश्वर की आंखों के सामने लल्ला का भयभीत और फक पड़ा चेहरा और अपना रौद्र रूप आ जाता है और लल्ला के पूरे गले की चीख कानों में वहुत गहरे उतरकर उसके भीतर

को उवालने लगती है···

राजेश्वर की आंखें डवडवा आई। इधर-उधर चौंकती नजर डालकर उसने अपने पैंजामे की जेव में रूमाल के लिए हाथ डाल दिया। रूमाल नहीं था। राजेश्वर के पास रूमाल आठ-दस दिनों से अधिक नहीं चलता। हर वार सतर्कता वरतने और थोड़ी-थोड़ी देर में जेव से रूमाल निकालने की आदत होने के वावजूद भी जाने कैसे अक्सर खो जाता है! अव ऊवकर उसने रूमाल रखना ही छोड़ दिया है।

अपने स्वभाव पर स्वयं तरस खाते हुए राजेश्वर ने अपना दाहिना हाथ उठाया और तलहथी से जल्दी-जल्दी आंख की दोनों कोरें मल लीं।

उस दिन क्या वह विल्कुल कसाई हो गया था? जिसने वच्चों को कभी न मारने-पीटने के वारे में पत्नी को कई वार समझाया था। कई लेक्चर पिलाए और सुनी-सुनाई वातें वताई थीं, उसे ही एक दिन पराजय देखनी थी और वह भी इस तरह की उस घटना के वाद कई दिनों तक न तो पत्नी ठीक से वोली और न ही लल्ला उसके पास आया। जव-जव राजेश्वर ने प्यार से उसे समेटना चाहा है, डरा-डरा-सा वह थोड़ी देर देखता और फिर किसी तरह छूटकर मां के आंचल में छिप जाता।

"अच्छा है, राजेश्वर आज भी डवडवायी आंखों में अपनी निर्दयी तस्वीर लाकर सोचता है—ऐसे कठोर और निर्मम वाप की यही सजा होनी चाहिए··· यही सजा···"

घर का पिछला दरवाजा उढ़का देखकर राजेश्वर रुका और दरवाजे की ओर हाथ वढ़ाकर खटखटाने या पत्नी को आवाज देने के विपय में सोचने लगा; लेकिन जैसे ही उसका हाथ लगा, एक पल्ला खुल गया। दरवाजा यूं ही भिड़ा हुआ था और भीतर से कुंडी नहीं चढ़ाई गई थी। उसने राहत की सांस लेकर दूसरे मकानों के दरवाजों की ओर एक वार फिर देखा। पिछवाड़े का सारा हिस्सा कितना गंदा रहता है! तमाम घरों से निकले फटे कागजों तथा कचरे का ढेर और गंदे पानी की वदवूदार नालियां···

तभी पड़ोस वाले मकान का फाटक भड़ाक् से खुला और विना एक सेकंड अधिक या यह देखे विना कि कौन निकल रहा है, राजेश्वर तेजी से भीतर हो गया।

वरामदे से लगे हुए कमरे की खिड़की के पास खड़ी सेवती वाहर देख रही थी। उसके वाल कंधों पर फैले थे और एक हाथ में कंघी थी। शायद वाल गूंथती-गूंथती आ खड़ी हुई होगी।

राजेश्वर की ओर पलटकर उसने एक वार खिड़की के वाहर केदारनाथ को देखा और फिर से उसके चेहरे पर एक निगाह डालती वहां से हट गई।

यद्यपि सेवती ने कुछ नहीं कहा और चुपचाप किचन की ओर बढ़ गई; लेकिन लौटती हुई पत्नी को देखकर राजेश्वर को लगा जैसे कहती गई हो, "देख लो, अपनी इज्जत का कैसा तमाशा बन रहा है !"

खाने के दौरान बड़ी देर तक चुप्पी रही। हाथ-मुंह धोकर राजेश्वर किचन में आ बैठा और चुपचाप थाली पर झुक गया। सारे समय सेवती चूल्हे के सामने एक पांव मोड़कर दूसरे उठे हुए घुटने को बांहों से घेरे, अंगूठे के नाखून से मिट्टी खुरचती और उसे देखती बैठी रही। इस बीच केवल लल्ला ही मौन तोड़ता रहा। उसका खाते-खाते कभी कुछ मांगना, कुछ पूछना और फिर थाली-गिलास के अचानक टकरा जाने की झनकार…

यद्यपि केदारनाथ की हरकतों का अवसाद दोनों के मन पर छाया हुआ था; लेकिन उसे निकालकर अप्रिय चर्चा चलाने का साहस किसी को नहीं हो रहा था।

सेवती इसी बात को लेकर कई बार रो-गा चुकी है। जो कुछ करना-धरना है, केदारनाथ सीधे राजेश्वर से कहें-करें। यूं सड़क पर खड़े होकर सेवती के साथ उसके सारे कुनबे को कोसना और गंदी-गंदी गालियां देना वह कब तक झेलती जाएगी ? किसी मुहल्ले-पड़ोस की औरतों के बीच उठने-बैठने या मुंह दिखाने लायक तक नहीं रही।

जितनी बार भी सेवती ने वह सब दुहराया, सुनकर राजेश्वर या तो चुपचाप उठ गया या बात ही बदल दी थी, अतः एक दिन जब सेवती का धैर्य ही जाता रहा तो शिकायताना ढंग से भर्राई आवाज में बोली, "तुम कब तक टालते जाओगे ? कुछ करते क्यों नहीं ?"

"क्या करूं ?" राजेश्वर ने झल्लाकर कहा, "भले आदमियों की तरह मेरे घर रहना उन्हें अच्छा नहीं लगता। अलग रहकर ही कुछ करें-धरें यह होता नहीं, रोज दो-तीन रुपए शराब पीने के लिए उन्हें कहां से दूं ? कुछ दिनों किसी तरह पेट काटकर या तुम लोगों की जरूरतें कम कर दिए भी; लेकिन उससे ही क्या अंतर पड़ा ?"

सेवती सिर झुकाकर चुपचाप आंसू ढालने लगी—छिः, मां-बाप नहीं दुश्मन हैं, दुश्मन !…

केदारनाथ की पुरानी नौकरी छूट जाने के बाद राजेश्वर ने किसी तरह अपने प्रयत्न से उन्हें पटवारी की नौकरी दिलवा दी; लेकिन वह भी उनसे एक-डेढ़ बरस से अधिक नहीं चली। जहां-जहां राजेश्वर का तबादला होता गया, वहां-वहां केदारनाथ अपनी पत्नी सहित पहुंचते, कुछ दिन राजेश्वर के साथ रहते, फिर किसी न किसी बात पर झगड़कर कस्बे भर में इस बात का ढिंढोरा पीटते कि राजेश्वर और उसकी पत्नी ने उन्हें निकाल दिया है।

यहां आने के वाद इसी फजीहत से वचने के लिए राजेश्वर ने सवसे पहला काम यह किया कि किराने की दूकान वाले से दो सौ रुपयों का उधारी सामान उठवाया और पड़ोस के देहात में केदारनाथ के लिए किराने की एक दूकान खुलवा दी। पर दो माह भी नहीं गुजरे होंगे कि वह समूची दूकान साफ हो गई। केदारनाथ अपनी पत्नी सहित गांव छोड़कर खाली हाथ लौट आए और सिर्फ इतना कहकर छुट्टी पा ली कि उन्होंने जिंदगी-भर नौकरी की है। दूकान-वूकान उनसे नहीं चलती। उधारी के वे पसे तो अभी तक अदा नहीं हुए हैं···

अचानक राजेश्वर का ध्यान टूटा। सेवती ने लल्ला की पीठ पर धप्प से एक धौल जमा दी और क्रोध से डांटती हुई कह रही थी, "सीधे नहीं पिया जाता, जब देखो जानवरों की तरह गट-गट पिएगा।"

लल्ला जूठे हाथ से गिलास उठाकर पानी पी रहा था कि चिकनाई की वजह से फिसल गया और सारा पानी उसकी थाली, फर्श और सेवती की साड़ी के धरती-लोटते छोर तक पहुंच गया। पानी पीते में एकाएक भार पड़ने से ठस्का लग गया। कुछ पानी नाक में चढ़ गया, खांसते-खांसते लाल होकर उसकी आंखें जल भर लायीं और दम लेने के वाद वह रोने लगा।

राजेश्वर ने जलती आंखों से सेवती को देखा। कुछ कहने ही जा रहा था कि उस दिन की घटना याद हो आई जब लल्ला को पीटते-पीटते वह हांफने लगा था। उसे याद नहीं कि लल्ला को उससे छुड़ाकर किसने हटा लिया। अपनी उमड़ी आंखों से उसने केवल इतना देखा कि उसके हाथ की दतौन छिलकर टूट गई है और एक लंवी तथा मासूम चीत्कार सीधे उसके कलेज में उतरी जा रही है···

चुपचाप हाथ धोकर राजेश्वर वहां से उठ गया।

कैंटीन के लिए निकलने के पहले राजेश्वर ने अपनी कुर्सी के पास वाली खिड़की से वाहर एक डरती हुई निगाह डाली।

वरामदे में रोज की तरह माल-जमादार अपने डेस्क पर झुका हुआ था और उसके गिर्द दो-चार मुकदमे वाले आदिवासी वैठे हुए थे। इसके अलावा पूरा वरामदा खाली था। खजाने के लिए तैनात सिपाही, भीड़ छंट गई देख, ऊवकर वीड़ी सुलगा रहा था। नाजिर के कमरे में कोई कागज लेकर कंवल चपरासी आ रहा था। राजेश्वर को वाहर झांकते देख, वहीं से पुकारकर उसने आश्वस्त किया—"नहीं हैं, आज अभी तक नहीं आए।"

उसकी वात उपेक्षापूर्वक टालकर हालांकि राजेश्वर वाहर निकल आया,

लेकिन मन में कंवल पर बड़ा क्रोध आया। घड़ी-भर के लिए जी में आया कि कंवल को बुलाकर डांट दे—चपरासी है, अपनी सीमा के अंदर रहे। अपनी औकात पहचाने। यह क्या है कि मौका-महल देखे बिना बाबू या साहब की बातों में टांग अड़ा देता है।

लेकिन वास्तव में उससे कहा नहीं गया। कंवल जरा मुंहफट आदमी है। कई बार उसने तहसीलदार तक को दो टूक जवाब दे दिए थे, शायद इसीलिए गलती होने पर भी कंवल को डांटने का साहस राजेश्वर को नहीं होता। कहीं पलटकर जवाब ही दे दे, तो क्या रह जाएगी।

अक्सर केदारनाथ के आने का समय यही था। शायद वह इसे अच्छी तरह जानते थे कि घर की अपेक्षा कचहरी पहुंचने पर बात जल्दी बनती है, यूं भी चार लोगों का लिहाज बुरा होता है। रोज इस वक्त आकर वह माल-जमादार के पास बैठ जाते और उसी से एक बीड़ी मांग, इत्मीनान से धौंकते हुए उस समय तक बैठे गप्पें हांकते जब तक कि राजेश्वर किसी के हाथ उन्हें दो रुपए न भिजवा दे। न भिजवाने की स्थिति में वही नंगापन, गालियों की बौछार और तमाम छोटे-बड़ों के बीच थुक्का-फजीहत। इसी कचहरी में यह सब कई बार हुआ है।

पिछली बार किराने की सारी दूकान साफ कर, पहले-पहल जब केदारनाथ कचहरी आए तो राजेश्वर मारे क्रोध के जैसे पागल हो रहा था। पहले देर तक कुर्सी पर जड़ बना वह बैठा रहा, फिर जितना संभव था, आंखों में उतनी नफरत समेटकर उसने केदारनाथ को देखा—थोड़ी देर निरंतर घूरता रहा, फिर एकाएक जोर से चिल्लाया था, "लोऽऽ अब मेरा शरीर रह गया है, इसकी भी बोटी-बोटी करके बेच डालो। यह अरमान भी क्यों रह जाए!"

कंवल चपरासी तब पास खड़ा था। कहने के बाद राजेश्वर की आवाज और पलकों में आंसुओं का ठहराव देखकर उसने केदारनाथ की बांह पकड़ी और अपने साथ बाहर निकाल ले गया था।

उस समय या उसके बाद चाहे जितनी बार, जितने ढंग से राजेश्वर ने रोका-मना किया हो, केदारनाथ ने अपना नियम नहीं तोड़ा। वह बराबर दोपहर की चाय के वक्त माल-जमादार के पास बैठे मिलते। कुछ दिनों जब ऐसे भी निकल गए और कोई प्रभाव पड़ता नहीं दिखा तो केदारनाथ ने यह नया ढंग निकाला कि दफ्तर के इर्द-गिर्द वह जोर-जोर से चिल्लाते और राजेश्वर का नाम ले-लेकर गालियां बकते। हारकर पिंड छुड़ाने के लिए राजेश्वर ने किसी तरह पैसे देने शुरू किए; लेकिन उससे बदनामी घटी नहीं बल्कि बढ़ती गई। न केवल कचहरी में उसकी गैरहाजिरी में लोग हंसते, वरन् घर का वातावरण भी अभाव और अपमान से कड़वा हो उठा, अतः ऊबकर

राजेश्वर ने पैसे देना बंद कर दिया।

केदारनाथ ने और धूम मचाई। पहले कचहरी के आसपास चिल्लाया करते थे; लेकिन तहसीलदार के डांटने और थाने में बंद करवा देने की धमकी के बाद, राजेश्वर के घर के सामने धूम मचानी शुरू कर दी है। यद्यपि तहसीलदार की डांट के बाद केदारनाथ ने कचहरी में आना बंद कर दिया था; लेकिन उसका प्रभाव कितने दिनों रह पाएगा, राजेश्वर यह जानता है। दोपहर आते-आते उसका जी काम से एकदम उचट जाता, एक बोझ-सा अपने-आप सीने पर लदा हुआ महसूस होता और बार-बार आंखें माल-जमादार की ओर उठ जाया करतीं। यह जानते हुए भी कि केदारनाथ इधर कई दिनों से नहीं आते, कैंटीन के लिए निकलने के पहले अनजाने में ही उसकी निगाहें खिड़की के बाहर पहले झांक आतीं।

कंवल चपरासी जैसे ही निकट आया राजेश्वर का गुस्सा काफूर हो गया था। लगा, कंवल औरों के लिए मुंहफट और ढीठ सही, राजेश्वर का वह शुरू से हमदर्द रहा है। मुस्कराकर विनम्र स्वर में राजेश्वर ने पूछा—

"क्यों भाई, कैंटीन में कौन-कौन हैं?"

"और तो सब चाय पीकर चले गए।" कंवल ने कहा, "शुक्ला और खन्ना बैठे हैं।"

राजेश्वर का मन हुआ कि तुरंत लौट जाए। वह शुक्ला या उसके ग्रुप के खन्ना आदि के साये तक से बचने लगा था। जब वे लोग इकट्ठे होते हैं तो उनकी हर बात दोहरी होती है और मजाक करते-करते व्यंग्य कसने लगते हैं। राजेश्वर से अब यह बिल्कुल सहन नहीं होता।

लेकिन आधी राह तक आने और शुक्ला का नाम सुनकर लौटते देख, कहीं कंवल उसे कायर न समझ ले, इस डर से वह चुपचाप आगे बढ़ गया और जब देखा कि कंवल आसपास नहीं है तो कैंटीन छोड़ एकाउंटेंट के कमरे में तेजी से घुस गया।

उसी शाम को एक अजीब घटना हो गई।

कचहरी से लौटने पर हाथ-मुंह धोकर, राजेश्वर बाहर बैठा ही था कि भीतर से लल्ला की बांह पकड़कर उसे खींचती हुई सेवती तेज कदमों से चौखट पर आ खड़ी हुई और हांफती-हांफती क्रोध में बोली—

"देखा, अब नौबत यहां तक आ गई!"

"राजेश्वर ने स्थिति समझने के लिए दोनों को देखा। लल्ला का चेहरा पुंछे हुए आंसुओं से लाल था और सेवती गुस्से में तमतमा रही थी। संयत स्वर में राजेश्वर ने पूछा, "क्या हो गया?"

"इसी से पूछो," लल्ला की बांह झकझोरकर सेवती बोली, "कि वहां मरने

के लिए क्यों गया था ?"

"लल्ला फिर रोने लगा।

"तुम ही क्यों नहीं बतातीं ?" राजेश्वर ने झल्लाकर कहा, "क्यों रे, क्या हुआ ?"

लल्ला ने किसी तरह अटक-अटककर बताया कि वह सामान लेने दूकान गया था, लेकिन दूकान पहुंचने के पहले ही सराय के पास केदारनाथ ने उसके हाथ से पैसे छुड़ा लिए और उसे मारा। वह तो कंवल आ गया, नहीं तो...

बात अभी पूरी भी न हो पाई थी कि सामने से कंवल इधर ही आता दिखाई दिया और भीतर आकर सारा किस्सा उसने सुनाया। तमाम बातें सच थीं। केदारनाथ ने उससे पैसे छुड़ा लिए और उसे मारा भी; लेकिन लल्ला ने गालियां दीं और केदारनाथ की ओर पत्थर फेंके थे तभी उन्होंने मारा, बड़बड़ा रहे थे कि जाकर अपने बाप से कह दे—पैसे मैंने ले लिए। करवाए मुझे गिरफ्तार, बंद करवाए जेल में। साले की मां मर रही है; लेकिन ऐसा पत्थर-दिल है कि कुछ देना-लेना तो दूर, झांकता तक नहीं।

किसी ने कुछ नहीं कहा। सेवती भीतर हो गई और थोड़ी देर चुपचाप बैठे रहने के बाद कंवल भी चला गया। वहीं बैठे-बैठे अंधेरा हो गया और सेवती चौखट पर लालटेन भी रख गई, लकिन राजेश्वर उठा नहीं। शुक्ला के यहां ताश पर जमे लोग धीरे-धीरे करके छंटने लगे और थोड़ी देर पहले रह-रहकर गूंजने वाली हंसी और ठहाके भी जाते रहे। छोटी-सी बस्ती का मौन सारा द्वेष, ईर्ष्या और जीने का दर्द लिए अकेली सड़क और सरकारी क्वार्टर्स के अंधेरे में सिमट आया। पुलिया के पास वाले आम के पेड़ों पर अनगिनत जुगनुओं की हरी रोशनियां दिप-दिप करने लगीं और रोज की तरह तालाब-पार से कोई जलपाखी अंधेरे की साफ चादर पर अपनी आवाज की शिकन छोड़ता निकल गया—कींऽऽकिक ! कींऽऽकिक !

राजेश्वर धीरे से उठकर सड़क पर निकल आया।

सराय के सामने वाली सड़क का लैंप-पोस्ट पिछले कई दिनों से नहीं जल रहा। किसी ने पत्थर मारकर कांच तोड़ दिया है और उस रहे-सहे सहारे के टूटते ही सराय से दूकानों तक की समूची सड़क अंधेरी हो गई है। जरा ठिठककर राजेश्वर ने एक चौकन्नी नजर सराय और फिर पान की अकेली खुली दूकान पर डाली। अभी भी कुछ लोग पान के लिए घिरे हुए थे।

सराय के गेट में सांकल नहीं थी और पल्ले यूं ही भिड़े हुए थे। उन्हें धीरे से ढकेलकर चूंऽऽ की आवाज करता हुआ हालांकि राजेश्वर अंदर हो गया लेकिन देर तक गेट के पास खड़ा वह उस घुड़साल जैसी सराय के अंधेरे को देखता रहा—जहां न कमरे थे, न रोशनी, न सफाई और न ही आदमियों के रहने के

कोई निशान। गोबर और पुआल की गंध-सने अंधेरे में सराय का एक कोना-भर उजला था और चिमनी की कांपती रोशनी में दो-तीन गठरियां-जैसी चीजें दीख रही थीं।

यहीं उसके मां-बाप रहते हैं—सोचकर राजेश्वर को लगा जैसे भीतर के अचानक खौलने में पेट की सारी अंतड़ियां मुंह में उलट आएंगी। जैसे घेरी गई बंदिशों की कच्ची मेंढ को बहाकर कोई रेला एकाएक उमड़ आएगा जैसे···

कौन निर्णय करेगा कि इसके लिए वास्तव में दोषी कौन है? क्या राजेश्वर कहीं बदल गया है? सचमुच क्या सेवती···लेकिन इसके आगे उसने सोचना नहीं चाहा। अपने को जोर से झटककर उसने मन-ही-मन वह बात दुहराई जिसे अपने-बेगाने सभी से वह कई बार कह चुका था कि बेटे का सुख पाने के लिए पहले अच्छे मां-बाप बनना पड़ता है।

घर लौटकर उसने पत्नी से सराय या केदारनाथ की कोई बात नहीं की। बड़े ही अविचलित और शांत भाव से उसने बताया कि उसके खिलाफ लिखित शिकायतें हो गई हैं और वहां से भी उसके तबादले की बात चल रही है।

सुनने के बाद अचंभे से मुंह खोलकर सेवती ने पूछा, "किसने शिकायत की है?"

"और कौन करेगा!"

"राजेश्वर के उस जवाब का संकेत जैसे पर्याप्त था, क्योंकि प्रश्न दुहराकर नहीं आया।

"कहां?"

"परलकोट!"

सेवती कुछ क्षण अविश्वास-भरी आंखों से ताकती रही, फिर बोली, "वहां तो स्कूल भी नहीं। उस जंगल में गए तो बच्चों की पढ़ाई का क्या होगा?"

राजेश्वर ने उस बात का जवाब नहीं दिया। जूते खोलकर चुपचाप आरामकुर्सी में अधलेटा-सा हो गया। कई पल प्रतीक्षा करने के बाद सेवती अपनी जगह से उठ गई है और तेज कदमों से निकट आकर राजेश्वर को फिर से देखने लगी जैसे उसकी गंभीरता का अपने को विश्वास दे रही हो या जैसे राजेश्वर ने मजाक किया हो; फिर उसे छूकर भर्रायी हुई आवाज में बोली, "सुनो, तुम्हें मेरी सौगंध है। मां-बाप को अपने पास बुलवा लो। मेरा क्या है, मैं कहीं भी अलग रह लूंगी। उस जंगल में गए तो मेरे बच्चों की जिंदगी बरबाद हो जाएगी···"

सेवती रोने लगी तो भी राजेश्वर नहीं बोला। ऐसे अवसर पर वह कभी कुछ नहीं बोलता। बस गर्दन टेढ़ी कर आंख मूंद लेता और चुपचाप पड़ा

रहता है।

बाद के चार दिन जैसे आहटहीन आए और गए। न तो केदारनाथ की कोई खबर मिली, न ही वह कचहरी या घर के इर्द-गिर्द डोलते या चिल्लाते दिखाई पड़े।

लेकिन पांचवीं सुबह जब राजेश्वर गई-रात देर से नींद आने के कारण, दिन-चढ़े तक सोता रहा तो अचानक उसे जगाकर सेवती ने कहा, "उठकर देखो तो, यह शुक्ला के यहां से किसी की आवाज आ रही है।"

शुक्ला का मकान अधिक दूर नहीं—सामने सड़क-पार की बाईं ओर था और बरामदे में आने पर शुक्ला के क्वार्टर का बीच वाला दरवाजा तक साफ दिखता था।

जंगले से सटकर राजेश्वर ने कई बार आंखें मलीं। सुना, शुक्ला के घर के भीतर से केदारनाथ की आवाज आ रही थी, लेकिन प्रयत्न करने पर भी राजेश्वर की समझ में कुछ नहीं आया।

थोड़ी देर में केदारनाथ की आवाज तेज हो गई और वह चिल्लाते बाहर निकले, "मैं कहता हूं, अब देते क्यों नहीं वह कागज ? कह दे, साफ कह दे कि मुझे भड़काकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता था ? अरे, मुझे धोखा देकर क्या पाएगा ? मैं अभी तहसीलदार के रूबरू पेश होकर कहता हूं कि मेरी कोई शिकायत-इकायत नहीं, सब इसकी चालबाजी है !"

पड़ोस में खन्ना और पटवर्धन को अपने-अपने बरामदों में निकल आए देखकर, केदारनाथ ने अपना मुंह उनकी ओर कर लिया था। बीच में ही खन्ना ने आगे बढ़कर कहा, "क्या है भाई, कैसा कागज ?"

"वही जिसके बिना पर इसने मुझसे राजेश्वर के खिलाफ शिकायत करवाई थी।" केदारनाथ जोर देकर चिल्लाए, "कहता था, कई गांव वालों के दस्तखत मौजूद हैं। अब मांगता हूं, क्यों नहीं देता ? साले, इज्जतदार बनते हैं। हम बाप-बेटे मरें-कटें, इसे क्या ? अरे मैं ही राजेश्वर को परलकोट भेजकर क्या पाऊंगा ? उल्टे उसके बच्चे···

तभी किसी तरह पत्नी से अपने को छुड़ाकर, भीतर से झपटता हुआ शुक्ला निकला। तेजी से केदारनाथ के पास आकर, उसकी गर्दन की कमीज उसने पकड़ी और बिना कुछ कहे-सुने उसके दो तमाचे जड़ दिए।

क्षण-भर के लिए सब स्तंभित रह गए—उधर खन्ना, पटवर्धन, चोट-खाए गाल पर हथेली रखकर हक्का-बक्का देखते हुए केदारनाथ और इधर राजेश्वर।

सहसा जंगले की लकड़ियों पर राजेश्वर की पकड़ कठिन हो गई और उसे फिर लगा जैसे भीतर के अचानक खौलने में पेट की सारी अंतड़ियां उलट-कर मुंह में आ जाएंगी। जैसे घेरी गई बंदिशों की कच्ची मेढ़ को बहाकर

कोई रेला एकाएक उमड़ आएगा और जैसे एक अनजानी-अनामी ताकत धरती पर जमे उसके पांवों को छुड़ाकर, वरवस हाथ पकड़, खींचती हुई वाहर निकाल देगी···

जव तक राजेश्वर सड़क पार कर लपकता हुआ पहुंचा, खन्ना और पटवर्धन ने वीच-वचाव करके केदारनाथ को अलग कर दिया था और शुक्ला को समझाकर ले जाते हुए पटवर्धन ने अपने घर की दहलीज पार कर ली थी।

केदारनाथ से कुछ फासले पर अचानक ठिठककर राजेश्वर ने मूर्खों की तरह देखा—पहले शुक्ला और पटवर्धन के मकानों और फिर अपने लावारिस पिता को। केदारनाथ ने कुछ नहीं कहा। क्षण के लिए अवाक होकर राजेश्वर को देखा, गर्दन झुकाई और दयनीय होकर रोने लगे। फिर अपनी दाहिनी भुजा की कमीज से आंखें पोंछते हुए पटवर्धन के मकान की ओर मुंह किया और डूवी आवाज में चिल्लाए, "अच्छा वेटा, देखते-देखते यहां से गठरी वंधवाकर न निकलवा दूं तो कहना श्यामनाथ की नहीं चमार की औलाद हूं !"

राजेश्वर को लगा कि सचमुच घटा छाने के वाद, न खुलने या न वरसने की पीड़ा में वड़ी छटपटाहट होती होगी। वह कुछ कह रहा था, लेकिन शब्दों में स्वर न था। लगा, जैसे उसकी आवाज फंस गई है और वोलने की कोशिश करते ही भर्रा जाएगी। उसने खखारकर गला साफ किया, लेकिन वह कुछ वोले इससे पहले ही केदारनाथ ने वापस चलने के लिए अपने डग उठा दिए थे।

पिछली रात खूव वारिश हुई और तमाम छोटे-वड़े गड्ढे डवडवा गए थे। घर के सामने से निकलने वाली कच्ची नाली में गंदला जल ऊपर तक लवालव भरा हुआ था। इस वीच जाने कव एक लकड़ी लिए लल्ला घर से निकल आया और गंदले पानी से खेल रहा था।

लौटते हुए राजेश्वर ने अपनी वार-वार झलमला जाती आंखों से देखा कि लल्ला की लकड़ी गंदले जल की सतह को पीटती है, लेकिन चोट चाहे जितने जोर की हो और उससे उछलकर चाहे जितनी ऊंची मौज उठे, अलग ठहर नहीं पाती, लौटकर फिर पानी की सतह में समा जाती है ! △

एक संधि और

जीने पर पांव रखने के पहले ताहिरा एक बार फिर पलटी, तौलने के ढंग पर मुझे पूरी आंखों से देखा और पूछने लगी, "आपको याद तो रहेगा न ? कहीं···"

मैंने जल्दी से सिर हिला दिया; यद्यपि इस बार आश्वस्त करते हुए मेरे स्वर में न तो पहली बार जैसा जोश था और न वह स्वाभाविकता। शायद बार-बार उसके वचन लेने ने मेरे उत्साह को कहीं से खरोंच दिया था।

"डॉक्टर सहाय को मैं सात का वक्त दे आई हूं, देखिए···"

कहकर वह एक सीढ़ी लांघ गई और अंत में तीसरी बार नमस्ते करती हुई जल्दी-जल्दी उतरने लगी। मैं खिड़की के पास आ खड़ी हुई और वहां से ताहिरा के लौटते हुए शरीर को देखने लगी। हमेशा की तरह आज भी ताहिरा ने अपने को संवार रखा था। जिस्म पर फबते हुए सोबर किस्म के शेड की कीमती साड़ी, उससे मैच करता हुआ नए डिजायन का बगल-खुला ब्लाउज और कंधों तक झूलते हुए शैम्पू-धुले रूखे-रूखे बाल ! चलने के दौरान पल्लू-पटली सम्हालने का उसका वही खास तथा शोख अंदाज; लेकिन हर डग देखा

आत्म-विश्वासहीन और उखड़ा-उखड़ा कि अब गिरी तब गिरी।

जैसे-तैसे अपने गेट के पास पहुंचते ही उसने फिर लौटकर देखा और मुस्कराकर हाथ हिला दिया। एक तरह से हाथ हिलाना मुझे फिर से याद दिलाना ही था; लेकिन इस बार खीझ के बदले मन में एक हलकी-सी ममता उभर आई।

कुछ लोग कितने उत्साह से हर नयी चीज का स्वागत करते हैं; मसलन, नया साल, अपना जन्म-दिवस या इसी तरह का कोई विशेष अवसर, जबकि अपने-आपको पूरी तरह भूलकर किसी खास मूड में समाहित कर दिया जाए। लगता है, ताहिरा जैसे लोग ऐसे ही दिनों के लिए जीते हैं। और मुझमें कितना उत्साह है ? एक आहिस्ता-सा प्रश्न मेरे मन में उभर आया—यदि ताहिरा न आती तो मुझे ध्यान भी आ पाता कि आज नया साल आ गया है ? और मालूम होने के बाद भी वास्तव में मुझे कितनी प्रसन्नता हुई ?

सवेरे-सवेरे अचानक ताहिरा फरहत को अपनी दहलीज पर देखकर मैं बुरी तरह चौंकी थी। दरअसल, थोड़ी देर पहले मैंने बिस्तर छोड़ा था और आलस लादे-लादे यही सोच रही थी कि क्या पहले करूं और क्या बाद में कि बाहर की कुंडी खटकी। दरवाजा खुला तो जब तक कि मैं आश्चर्य या प्रसन्नता प्रकट करूं, ताहिरा तेजी से बढ़ आई और यकायक नए साल की बधाई देकर उसने मुझे हतप्रभ कर दिया।

"अरे," एकाएक मेरे मुंह से यह निकलते-निकलते रह गया। अपनी स्थिति का ध्यान आते ही संकोच हुआ कि मैं भी जाने किस जगत में रहती हूं। तब मैंने बदले में शरमा-शरमी औपचारिकता निभाई और होंठों पर जबरन मुस्कराहट टांककर बैठने का आग्रह किया।

"मिस सेठी, मैं बैठूंगी नहीं," भीतर आकर भी व्यस्त स्वर में उसने कहा और मेज से टिककर यूं खड़ी हो गई जैसे उसे किसी बात की जल्दी न हो।

"क्यों ?" चौंककर मैंने अपनापे से कहा, "एक प्याला चाय तो पीती जाइए!"

"नहीं जी," अपने उसी सलीके वाले अंदाज से ठुनककर उसने कहा, "सुबह से इतनी चाय हो गई कि अब बिलकुल हिम्मत नहीं रही। आपको पता है, मैं कहां-कहां हो आई ? मिसेज सूद, डॉक्टर सहाय, मिस जोन्स और•••"

"अच्छा !"

ताहिरा संतोषभरी हंसी हंसने लगी। फिर बाएं हाथ से अपने कटे हुए बालों को संभालती हुई बोली, "मैं पहले यहीं आना चाहती थी। सोचा आप को विश करती चलूं, लेकिन कमरे की खिड़की बंद दिखाई दी और फिर ध्यान आया कि सुबह-सुबह आपके साथ ज्यादती हो जाएगी।"

ताहिरा का संकेत स्पष्टतः मेरे देर से सोकर उठने की ओर था। कमरे

में उसके ताजा नहाए शरीर, तेज खुशबू वाले तेल और शैम्पू की गंध फैली थी। उस क्षण सचमुच मुझे कुछ संकोच का एहसास हुआ। शायद उसी से मुक्त होने के लिए मैं बोली, "मिस फरहत, आपकी फुर्ती देखकर कभी-कभी मुझे ईर्ष्या होती है। पता नहीं, इतना सब कुछ आप कैसे कर डालती हैं। सच जानिए, मैं तो सोचती ही रह जाती हूं..."

ताहिरा पहले शालीनता से हंस दी, फिर बताने लगी कि जब वह जबलपुर में थी तो हर काम के लिए उसके मन में कितना उत्साह था। क्रिसमस, ईद, नया साल आदि की हफ्तों पहले से प्रतीक्षा शुरू हो जाती थी। वहां तो पूरी-की-पूरी एक टीम थी, जिसकी अगुवाई उसे ही करनी पड़ती थी। हर आने वाला दिन इतना बिजी होता कि कब सुबह होती, कब दोपहर आती और कब रात चुपके से निकल जाती, इसका एहसास भी न हो पाता...

"आप उन दिनों मुझे देखतीं तो हैरान रह जातीं।" ताहिरा ने कहा, "मैं खुद कभी-कभी आश्चर्य करती हूं कि वह सारी ताकत कहां चली गई ? और मेरा रंग-रूप भी जो जलकर यह रह गया है, पहले ऐसा न था। इस [illegible] ने तो जैसे..."

कहती-कहती अचानक रुककर ताहिरा बाहर छत की ओर देखने [illegible] उसकी आवाज में सहसा भीग आई उदासी को भाँपकर मुझे [illegible] ताहिरा को अस्थमा के दौरे पड़ते हैं, यह बात कालेज में ही नहीं [illegible] में भी विख्यात है। शायद बात के इस फैलाव का कारण [illegible] गाहे-बगाहे, परिचित-अपरिचित, किसी का भी ख्याल किए [illegible] सामने अपने अस्थमा के दौरों की बात छेड़ बैठती है। [illegible] छू दिया है ? सोचकर एकाएक मुझे एक अपराध-[illegible] सुबह-सवेरे ताहिरा के अच्छे-भले दिन को मैं उदास कर [illegible] प्रसंग को बदलने के लिए मैंने कहा, "आप जबलपुर [illegible]"

"ग्यारह साल हुए, जब से यहां आई हूं [illegible] आपको बताऊं, ग्वालियर मुझे कतई पसंद नहीं। [illegible] यह शहर मीलों पिछड़ा हुआ है और [illegible] सिवाय यहां कुछ भी नहीं। बताइए, क्या [illegible] के इतने पास रहकर भी कोई शहर [illegible]"

ताहिरा का यह प्रश्न, प्रश्न न [illegible] में स्टोव अब तेजी से जलने लगा था [illegible] कमरे को अजीब वाणीपूर्ण किंतु [illegible]

"लीजिए, ना-ना करते हुए भी [illegible] प्याला लेते हुए ताहिरा हंसी, "डॉक्टर [illegible]

मिनट के लिए गई थी, घंटा लग गया और संयोग की बात कि…"

और उसके बाद कई आवश्यक-अनावश्यक प्रसंग, जिसका संबंध चाहे मुझसे न हो, लेकिन जिनमें मुझे रुचि लेनी पड़ी। अंत में जो बात हाथ आई वह यह थी कि नये साल के उपलक्ष में उसने शाम को अपने घर पर एक छोटा-सा आयोजन कर रखा है, जिसके लिए कुछ लोगों को वह साथ-साथ निमंत्रित करती आई है और यह कि मुझे भी आना ही पड़ेगा।

मेरी स्वीकृति लेने और चाय के बाद वह थोड़ी देर और बैठ गई। कुछ देर कॉलेज, अपने डिपार्टमेंट, डॉक्टर सहाय और स्टाफ के अन्य सदस्यों की बातें करती रही, फिर अवश्य-अवश्य आने के लिए मुझे दूसरी बार याद दिलाती हुई उठ खड़ी हुई। जीने तक पहुंचते-पहुंचते एक बार उसने फिर वही बात दुहराई और मेरा रहा-सहा उत्साह भंग करती हुई अंत में चली गई।

ग्यारह साल! मैंने एक सांस खींचते हुए सोचा—ग्यारह साल का अरसा कितना लंबा होता है! क्या यह संभव है कि इतने लंबे समय तक कोई एक बार भी अपने घर न जाए और किसी अप्रिय स्थान पर लगातार रहा जाए? क्या यह बात परस्पर विरोधी नहीं लगती? क्या ताहिरा मेरे पास एक झूठ छोड़ गई है! और यदि ऐसी बात है तो उसकी ओट का सच क्या है?…

"कौन था जिज्जी?"

सहसा दरवाजा खुलने और नरेन्दर की मिली-जुली आवाज से मैं चौंकी। देखा, बाथरूम से निकलकर तौलिए से मुंह पोंछता हुआ वह खड़ा है। क्या नरेन्दर ने सचमुच ताहिरा को नहीं देखा था?

मैंने धीरे से नाम बताया।

"मिस फरहत?" नरेन्दर ने शरारत-भरे स्वर में पूछा। जाने क्यों, ताहिरा के बारे में बात करते समय उसका अंदाज एकदम बदल जाता था। और वाणी में एक नोचने वाली शरारत तैर आती थी।

"तू चाय पर नहीं चलेगा?" ताहिरा और अपनी चर्चा के विषय में बताकर मैंने पूछा।

"कौन मैं?" नरेन्दर अचानक चौंका, "ना बाबा! मुझे इस मेम के चक्कर में कहां फंसाती हो! मैं तो उसकी पार्टियों से बाज आया। कमबख्त इस कदर फनी है कि मुझे तो उसकी कंपनी में घुटन होने लगती है…"

सब कुछ सच होते हुए भी नरेन्दर की यह बात मुझे अच्छी नहीं लगी; पर हमेशा की तरह यूं ही सी हंसी में मैंने बात टाल दी और अकारण दूर-दूर तक देखने लगी। घर हो या बाहर, पास-पड़ोस हो या कॉलेज, ताहिरा के बारे में यह आम धारणा थी जिसे देखकर कई बार मुझे दुःख होता था। फिर सोचती कि कहीं ऐसा तो नहीं कि ताहिरा के संबंध में अकेली मैं ही निस्संग होकर

नहीं सोच पाती ?

दिल्ली-बम्बई या कलकत्ता-जैसे नगरों की बात और है तथा अलग भी। अजीब बात है कि ग्वालियर की एक बिल्डिंग में रहने और एक ही कॉलेज में साथ-साथ पढ़ने के बावजूद मेरे और ताहिरा के संबंध औपचारिक से अधिक कभी नहीं हुए। साथ-साथ रहते तीन बरस हो गए। हम लोग एक-दूसरे को नापसंद भी नहीं करतीं, लेकिन फिर भी उन अवसरों को गिनाया जा सकता था जब मैं ताहिरा के यहां गई थी या वह मेरे यहां आई थी। निकट या पास-पास रहना कितना भ्रामक होता है!

हम लोग रोज एक-दूसरे को देखती हैं, एक-दूसरे के घरों की आहटें सुनती हैं, कई बार एक ही सड़क से थोड़े-बहुत फासले के साथ कॉलेज जाती हैं, स्टाफ-रूम की बातचीत के दौरान आपस में बोल-तोल भी लेती हैं। यहां तक कि जब स्टाफ के दूसरे लोग 'कार्नर' करने या 'टीज' करने के लिए एक हो जाते तो जाने-अनजाने हर बार देखती कि मैं ही अकेली ताहिरा के साथ हो गई हूं। लेकिन फिर भी साफ लगता है कि बीच में अपरिचय और दूरी का एक मोटा परदा पड़ा हुआ है, जिसे यक-ब-यक उठाकर घुस आने का साहस न तो ताहिरा में है और न मुझमें ही इतनी शिद्दत की ललक कि दो डग उठाकर झांक आऊं। एक नियम है जिससे बंधा उसका रोज का एक-एक दिन कटता जा रहा है और उसकी निकटस्थ दर्शक मैं ही हूं।

सर्दी, बरसात या कोई भी मौसम हो, नियमित रूप से एक तांगा ताहिरा के घर के सामने खड़ा हो जाता है। उसमें से उसकी नौकरानी उतरकर भीतर चली जाती है और कुछ देर बाद निहायत उम्दा साड़ी में ताजा-ताजा और धुली-धुली-सी निकलकर ताहिरा तांगे में बैठ जाती है। उसके छोटे-से बैग में ऊन का गोला होता है, हाथ में सलाइयां और उंगलियां अक्सर किसी-न-किसी के लिए स्वेटर बुनने में व्यस्त। तांगा चलने के पहले ताहिरा मेरे कमरे की ओर देखती है। मुस्कराहटों का आदान-प्रदान होता है।

"चल रही हैं?" संकेत से वह पूछती है।

"थैंक्स!" मैं कहती हूं, "आप चलिए, मुझे अभी थोड़ी देर है।"

तांगा चल पड़ता है, एक बार अपने कंधों तक झूल रहे बालों को संभालकर ताहिरा बुनने में व्यस्त हो जाती है—अपने आस-पास की सारी चहल-पहल में निर्लिप्त और बेपरवाह-सी। धीरे-धीरे तांगे के शेड में बैठी उसकी आकृति दूर होती जाती है और कुछ देर बाद सड़क में आ-जा रही भीड़ में मिलकर सारा तांगा अलोप हो जाता है।

उससे आगे कुछ नहीं दीखता, लेकिन मैं जानती हूं कि क्या होता है।

कॉलेज के बड़े गेट के सामने तांगा रुकता है। अपने बाल और साड़ी के पल्लू-पटली को संभालती ताहिरा उतर पड़ती है। गेट और स्टाफ-रूम तक बिछी लाल बजरी पर उसके पांवों के निशान छूटते चले जाते हैं।

"लो, ताहिरा की बग्घी आ गई!" स्टाफ-रूम की खिड़की से झांककर मिस जेजुरीकर कहती हैं। मिसेज पुरोहित, सिद्दीकी, अर्चना और अन्य सभी लोगों के चेहरे खिल उठते हैं और होंठों पर शरारत भरी क्रूर-सी मुस्कान तैर आती है, वैसी ही मुस्कान जिसके लिए मैं नरेन्दर को कोसती हूं।

जब तक ताहिरा पहुंच न जाए—स्टाफ-रूम में कई बार उसी की बातें, उसी के चरचे, उसी से संबंधित घटनाओं आदि का उल्लेख चलता रहता। कभी-कभी बीच-बीच में हंसी उड़ती और मिसेज पुरोहित के मर्दनुमा ठहाके गूंजते; लेकिन दहलीज पर उसके पांव धरते ही सब अचानक यूं चुप, सर्द और उत्साहहीन हो जातीं मानो ताहिरा स्टाफ की न होकर बाहर की कोई अपरिचित महिला हो।

"हैलो!" मिस जेजुरीकर की ओर देखकर ताहिरा धीरे से मुस्कराती है।

"हैलो!"

और बस। अपनी जगह पर चुपचाप बैठकर ताहिरा बुनने लगती है और बाकी लोग चर्चा का विषय बदलकर कॉलेज की या अपनी-अपनी व्यक्तिगत बातों में उलझ जाती हैं।

"मिस फरहत, आप साल-भर किसके-किसके लिए स्वेटर बुनती रहती हैं?" एक दिन अर्चना ने बिना किसी भूमिका के एकाएक पूछ लिया था। उस समय ताहिरा के चेहरे की ओर देखना मेरे लिए कठिन हो गया था।

"आपको भी बुनवाना है?" एक बार अर्चना की ओर देखकर ताहिरा ने संयत स्वर में पूछा।

"थैंक्स!" मुझे जरूरत होगी तो मैं आप ही बुन लूंगी। अर्चना ने मिसेज पुरोहित की ओर देखकर आहत स्वर में कहा था, "ऐसा तो है नहीं कि अच्छा स्वेटर बुनने के लिए होम साइंस का लेक्चरर होना जरूरी हो।"

और कोई होता तो वह उलझ पड़ती, लेकिन ताहिरा उस पर कुछ नहीं बोली। उसी तरह उखड़ी-उखड़ी सलाइयां चलाती रही। तभी मिस जेजुरीकर ने तपाक से कहा, "अरे हां, मिस फरहत! डॉक्टर सहाय आपको पूछ रहे थे।"

सलाइयों से आंखें उठाकर ताहिरा ने एक बार देखा और 'सुन लिया' का भाव लेकर फिर से अपना काम करने लगी।

मैं अच्छी तरह जानती हूं और शायद ताहिरा भी समझती है कि डॉ० सहाय का उल्लेख स्टाफ-रूम में गाहे-ब-गाहे क्यों किया जाता है। डॉ० सहाय

दूसरे डिपार्टमेंट के आदमी हैं। अत्यंत भद्र, विनम्र तथा भावनाशील। पचास-बावन की उम्र होगी, सिर के आधे बाल सफेद हो चुके हैं और अपने स्वभाव के कारण सब जगह समान रूप से सम्मानित होते हैं। उन्हें ताहिरा के साथ मिलाकर लोग वैसे ओछे मजाक का पात्र बनाएंगे, यह मैं पहले सोच भी नहीं सकती थी। उस दिन ताहिरा के चले जाने के बाद सबकी उपस्थिति में मैंने कहा, "मिस जेजुरीकर, ताहिरा की बात जाने दो; पर डॉ० सहाय के बारे में वैसी बातें करते हुए क्या तुम्हें दुख नहीं होता? ही इज़ सच ए पायस सोल···

"ही इज!" मिस जेजुरीकर के पहले मिसेज पुरोहित ने ही उस प्रश्न को झेल लिया—"वट हाउ एबाउट ताहिरा?"

ना, ना, वहां मैंने उनमें से किसी की बात अंत तक नहीं मानी। ठीक है, डॉक्टर सहाय कालेज के अकेले आदमी हैं जो ताहिरा के यहां आते-जाते हैं। हफ्ते-दो हफ्ते में उनका एक चक्कर भी जरूर लगता है और जब आते हैं घंटे-दो घंटे बैठ जाते हैं, लेकिन केवल इतने से ही ऊल-जलूल धारणा बना लेना क्या न्यायसंगत कहलाएगा? क्या संबंध केवल एक ही तरह का हो सकता है? और फिर डॉ० सहाय जैसे व्यक्ति! जो लगता है केवल श्रद्धा के लिए बने हैं···

उस दिन अंधेरा होने के बाद मैं वापस लौटी। सारा वक्त ताहिरा की बातों में ही निकल गया। मिसेज पुरोहित, मिस जेजुरीकर और अर्चना सबके पास ताहिरा के विषय में कहने के लिए कितना कुछ था! यह कि ताहिरा असाधारण स्वभाव की औरत है। ईमानदारी से किसी की भी होकर नहीं रह सकती। उसे न झगड़ा करते देर लगती है और न संधियां करते। हर किसी को प्यार के लिए समेट लेना चाहती है, अपनी ओर से मरी जाती है, वश में करने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखती; लेकिन जितना डिज़र्व नहीं करती उससे ज्यादा अपेक्षा करने लगती है···

"आप जानती हैं न मिसेज पुरोहित," अर्चना ने कहा, "कुछ दिनों पहले मिस जोन्स से इसकी कितनी बनती थी! मैं जानती हूं, जब मिस जोन्स एम० ए० की परीक्षा दे रही थीं तो यह अपना घर छोड़कर उसी के यहां रहने लगी। मुंह-अंधेरे उठकर चाय पिलाने से लेकर एक्जामिनेशन हॉल के बाहर खाना लेकर खड़े रहने तक का काम इसने किया था। जाहिर है मिस जोन्स भी इसे चाहती थीं। इसी गुड-फेथ में उस बेचारी ने अपने ब्वाय-फ्रेंड से परिचय भी करवा दिया और अपने भावनात्मक संबंधों की कुछ बातें भी बता दीं। अब बताइए, इसे क्या जरूरत थी कि उसके फ्रेंड को अलग से मिले-जुले, उसे बुलाए, खाना खिलाए, उसके लिए स्वेटर बुने और साथ में पिक्चर-विक्चर चलने की बात करे? जब मिस जोन्स ने यही बात कही तो उससे लड़ बैठी, लेकिन फिर रहा भी नहीं गया और खुद जाकर संधि कर आई।

भला क्यों ?"

'और क्यों ?' यह सब सुनकर मेरे मन में तब भी एक प्रश्न चुपचाप उभरा था, 'जिनके मन में इतनी-इतनी गांठें हों वे ताहिरा से जब अलग-अलग मिलती हैं तो उससे प्रेम और अपनापन क्यों जताती हैं ?'

उस छोटे-से आयोजन का यह रूप होगा, यह मैंने कभी नहीं सोचा था।

ताहिरा सारा दिन भागती फिरी। जाने कहां-कहां गई और क्या-क्या किया। उसके घर के सामने दो बार तांगा जाकर रुका और दोनों बार नौकरानी के साथ स्वयं भी बैठकर वह बाजार की ओर गई। किसी चीज की तलाश में दोपहर को वह फिर ऊपर आई तो मैंने कहा, "मिस फरहत, आप तो भाग-दौड़ में बड़ी परेशान हैं।"

"नहीं तो," अपने पपड़ाए होंठों पर जीभ फेरकर ताहिरा मुस्कराई, "यों ही एकाध बार बाजार की ओर गई थी। बात यह है कि बीच में पूरा महीना घर छोड़कर जो मिसेज सूद के यहां चली गई उसकी वजह से सारा सिलसिला बिगड़ गया था। सुबह तक मुझे खुद पता नहीं था कि घर में क्या है और क्या नहीं···अच्छा !"

व्यस्ततापूर्वक कहकर वह जल्दी से लौटने लगी; पर नरेन्दर के कमरे के पास से गुजरते हुए सहसा रुक गई।

"आपने नरेन्दर से कह दिया था न ?"

"हां"···मैंने सुबह की बात याद करते हुए कहा, "पर वह शायद फ्री न हो। कह रहा था कि दोस्तों ने कोई प्रोग्राम हफ्तों पहले बना रखा है···।"

बाद में, मैं आश्चर्य करने लगी कि कितनी सफाई से मैं झूठ बोल गई। और सच बोलने पर क्या होता ? क्या मैं कह सकती थी कि नरेन्दर उसके पास बैठने से ऊबता है ? और यदि विवशता-औपचारिकता का सवाल न हो तो नरेन्दर या स्टाफ के दूसरे लोगों की बात तो दूर, क्या मैं स्वयं पंद्रह-बीस मिनट से अधिक उसे बर्दाश्त कर सकती हूं ? मन से बात करते रहने के बावजूद लगता है जैसे किसी भी क्षण वह कोई ऐसी बात निकाल बैठेगी कि मुझे ऊबना पड़ जाएगा।

उसके जबलपुर के दिनों की, अपने उस कजिन की जो बड़ा अफसर है और जो (ताहिरा के अनुसार) अपनी सभी बहनों से भी अधिक उसे चाहता है; पाकिस्तान जाकर बसे अपने उस संबंधी की जो वहां बड़ा अधिकारी है··· और कितनी ही इस तरह की असंबंधित रूखी-फीकी और बेमानी चर्चाएं···।

ताहिरा के चले जाने के बाद अकारण सारी दोपहरी उदास और भारी-

भारी लगने लगी। नरेन्दर सुबह से कहीं चला गया था और बाई (नौकरानी) के आने में देर थी। बड़ी देर निष्क्रियता में उसी तरह जकड़े रहने के बाद अचानक मुझे लगा कि सात-आठ कमरों के उस मकान में मैं अकेली हूं—निपट अकेली! ऐसा अकेलापन, जिसका एहसास ग्वालियर की तीन बरस की जिंदगी में कभी नहीं हुआ था। तब भी नहीं, जब नरेन्दर साथ नहीं था और उस सारे घर में मैं बिलकुल अकेली रहा करती थी। क्या मेरे नए वर्ष का नया दिन ऐसी ही मनहूसियत में गुजरेगा?

छह बजते-न बजते मैं ताहिरा की दहलीज पर खड़ी थी। एक क्षण भी न सोचा कि जिस घर पर कुछ मौकों के अलावा वैसे मैं कभी नहीं पहुंची, वहां निमंत्रण के दिन समय से इतने पहले पहुंचना कैसा लगेगा? बिलकुल सधे कदमों से जाकर खड़ी हो गई, दरवाजा खटखटाया और बेहिचक अंदर हो गई।

मेरा ख्याल था कि ताहिरा को जरूर आश्चर्य होगा? अतः स्वयं अपनी ओर से मैंने कहा, "आप सात बजे आने को कह आई थीं न? देखिए, मैं एक घंटा पहले ही आ गई।"

ताहिरा सिर से पांव तक किचन में डूबी थी। अपना गड़ा हुआ सिर उठा कर वह मुस्कराई, फिर किचन में ही मेरे बैठने की जगह करती हुई बोली, "यहां बैठना आप माइंड तो नहीं करेंगी? बस यह थोड़ा-सा रह गया है फिर···"

इन्हीं सबकी वजह से लोग ताहिरा को 'फसी' समझते हैं, मुझे नरेन्दर की बात याद आ गई। सुविधा और आराम की छोटी से छोटी चीज का वह इतना अधिक ध्यान रखने लगती है कि खामखाह असुविधा हो जाती है।

"सिर्फ बैठूंगी नहीं", मैंने कहा, "मेरे करने के लिए कोई काम हो तो बताइए!"

कृतज्ञता के भाव से ताहिरा हंसी, फिर प्यार से बोली, "जरूर! लेकिन अब तो सब-कुछ निबट गया। यह आखिरी 'आइटम' रह गया है, जैसे-तैसे करके अभी उठती हूं···"

पत्थर के कोयलों वाली सिगड़ी की दप-दप करती आंच के सामने ठीक हिंदुस्तानी गृहणी की तरह ताहिरा बैठी थी—आग से तमतमाया चेहरा, साड़ी का पल्ला लौटाकर कमर में खोंसा हुआ, सीने का एक आंचल कहीं, दूसरा कहीं और चूल्हा चढ़ी कढ़ाई में व्यस्त घरेलू-घरेलू-सी आंखें। वैसे में ताहिरा के कटे हुए बाल कितने बेमेल और भद्दे लग रहे थे! एक बार फिर मेरा मन हुआ कि ताहिरा को उसके कटे हुए बालों के लिए टोक दूं, लेकिन साहस नहीं बन पाया। उसकी अनुपस्थिति में केवल बालों को लेकर लोग जैसी बातें करते हैं,

क्या मैं ज्यों-की-त्यों उससे कह सकती थी ?

"कभी-कभी जी करता है कि ढेर से पकवान बनाऊं," किचन से ड्राइंग-रूम में आकर बैठे तो उसने कहा, "और कॉलेज के उन सारे लोगों को बुलाऊं, जो अक्सर ऐसी-वैसी बातें करती रहती हैं। खासकर मिसेज पुरोहित-जैसी औरतों को, जो अपने सब्जेक्ट को ही सब कुछ बताकर दूसरों को हेय समझती हैं। आप तो जानती हैं न, वह कैसे विचारों की है ?...और वही क्या, वह पूरे-का-पूरा ग्रुप..."

कहते-कहते उसने बीच ही में बात तोड़ दी; पर मैं एकाएक चौंककर ताहिरा को अर्थभरी दृष्टि से देखने लगी। उसका संकेत कहीं उस घटना की ओर तो नहीं था, जिसने कई दिनों से मुझे अपराधी बना रखा है ?

दो-एक सप्ताह पहले प्रिंसिपल मिसेज सूद के यहां डिनर था। ताहिरा सुबह से वहीं थी और शायद दूसरे दिन लौटी। अपने स्वभाव के अनुसार सारा दिन वह काम में जुटी रही और उतने बड़े डिनर का इंतजाम उसने अकेले किया। दिन-भर तो वह बिल्कुल ठीक थी; पर रात में ऐन डिनर के वक्त सारे मेहमानों के बीच उसने एक दृश्य उपस्थित कर दिया। पहले तो वह उदास मूड में सबों को परोसती रही, फिर अचानक उसने अपनी तबीयत खराब होने की सूचना दी और डाइनिंग टेबल पर उल्टी-सीधी होने लगी।

स्वभावतः मिसेज सूद को अच्छा नहीं लगा, सो उन्होंने भीतर जाकर लेट रहने को कह दिया। उस समय तो वह मेज पर से उठी, भीतर जाकर लेट भी गई; पर जैसे-तैसे रात गुजारकर सुबह वह मिसेज सूद से लड़ आई कि वही सबके लिए मरी जाती है, उसका ख्याल कोई भी नहीं करता।

"और आप मरी क्यों जाती हैं ?" दूसरे दिन कॉलेज में उसी घटना की चर्चा करते हुए, सबों को सुनाकर मिसेज पुरोहित ने कहा। ताहिरा नहीं थी। अर्चना, मिस जेजुरीकर तथा और भी कई लेक्चरर स्टाफ-रूम में बैठी उस घटना का आनंद ले रही थी।

"अव्वल तो आपको करना नहीं चाहिए और जब करती हैं तो उससे उम्मीदें क्यों बांध लेती है ?"

"अरे ऐसी भी क्या खुशामद कि अपने-आपको..."

"खुशामद नहीं जी," किसी ने कहा, "मिस फरहत और मिसेज सूद के पुराने संबंध हैं। उस समय यह प्रिंसिपल भी नहीं थीं और दोनों एक ही मकान में रहा करती थीं। मिसेज सूद के दोनों बच्चों की बचपन से इसी ने देखभाल की है और उनकी हारी-बीमारी में इसने हमेशा साथ दिया है, इसी-लिए तो इतनी लिबर्टी भी ले लेती हैं..."

अर्चना हंसने लगी—"और इसी लिबर्टी लेने में कई बार उनकी स्थिति

दयनीय जो हो जाती है ! आपको याद है मिसेज पुरोहित, उस दिन मिसेज फरहत का चेहरा कैसा हो गया था ?"

और उसने वताया कि कैसे मिस ताहिरा फरहत का वच्चे भी मजाक उड़ा जाते हैं। ठीक है मिसेज सूद के वच्चों—पप्पू-गप्पू—की उसने अपने वच्चों की तरह वरसों देखभाल की है। वे दोनों तव इसे चाहते भी थे; लेकिन अव वे वड़े हो गए हैं, इस वात का तो ध्यान रखना चाहिए। नतीजा यही होता है कि वे भी इसे सीरियसली नहीं लेते, जैसा कि उस दिन हुआ। अर्चना और मिसेज पुरोहित मिसेज सूद के यहां वैठी थीं, पप्पू भी था और ताहिरा भी। वड़ी देर से वह वार-वार चलने-चलने की वात कह रही थी; लेकिन उठना नहीं हो रहा था। अंत में एक वार जव घड़ी की ओर उसकी निगाह गई तो घवराकर खड़ी हो गई, "साढ़े पांच ! गुड गॉड, छह वजे तो डॉक्टर सहाय आने वाले हैं।"

"आंटी !" सहसा पप्पू ने कहा, "डॉक्टर सहाय क्यों आने वाले हैं ? क्या आपके वाल कतरने के लिए ?"

उस क्षण ताहिरा की मनःस्थिति कैसी हो गई होगी, यह मैं नहीं जानती; लेकिन उस घटना की सारी चर्चा और हंसी-ठहाकों के वाद जव स्टाफ-रूम खाली हो गया और सव वाहर आई तो सहसा ताहिरा को देखकर मैं स्वयं सूख गई। किसी ने नहीं देखा कि ताहिरा गई नहीं थी, स्टाफ-रूम के कपड़े वाले पार्टीशन के उस पार लाइब्रेरी में देर से वैठी है !

उस रात ताहिरा को दो वार अस्थामा के दौरे पड़े और हमेशा की तरह दोनों वार मैं ही वुलायी गई; पर उस वात को हम दोनों में से किसी ने नहीं छेड़ा। ऊपर से भूली-भूली दोनों वीमारी पर विचार करती रहीं। ताहिरा घवरा गई थी। उसने वैसी ही वहकी-वहकी वातें कीं कि मौत से वह नहीं डरती; लेकिन ऐसा दौरा पड़ते ही उसे अजीव-सी दहशत होती है। अकेलापन चारों ओर से आकर उसे राक्षस की तरह निगलना चाहता है और लगता है कि उसकी सांस रुक जाएगी।

यद्यपि उस दिन कॉलेज की उस सामूहिक निंदा में मैंने भाग नहीं लिया था, शुरू से आखीर तक मौन वनी रही; लेकिन ताहिरा द्वारा अपने देखे जाने के वाद यह वात मन से मैं कभी निकाल नहीं पायी कि कहीं न कहीं मेरा भी अपराध है। शायद यही अपराध-भाव था कि उसके वाद एक-दो दिन मैं उससे कतराती रही। आज उसी वात को परोक्ष रूप से उठाकर ताहिरा किस ओर संकेत करना चाहती है ?···

"आप वहुत थकी दिखाई देती हैं।" कुछ देर वाद अपने को संयत करने के लिए मैंने ड्राइंग-रूम सुलभ अनावश्यक-सी वात शुरू कर दी।

"अच्छा !" ताहिरा चौंककर बोली, "मुमकिन है, आप ठीक कह रही हों, लेकिन मैं समझती हूं कि थकावट से ज्यादा मैं बीमार हूं। और सच्ची बात यह है कि दो-तीन दिनों से मेरी तबीयत बिल्कुल अच्छी नहीं। इतना सब आयोजन करने की ताकत तो मुझमें कतई नहीं थी और उसे भी मैं नहीं करती लेकिन फिर सोचा कि नये साल के नये दिन को कम-से-कम उस मनहूसियत से बचाऊं जिससे मैं साल-भर घिरी रहती हूं···शायद आप विश्वास न करें, कुछ मामलों में मैं घोर अंधविश्वासी हूं और···"

तभी बाहर कार रुकने की आवाज आई। बात को सहसा वहीं छोड़कर ताहिरा एक झटके से उठी और झपटती हुई खिड़की तक चली गई। परदा सरकाकर एक क्षण वह बाहर देखती रही फिर लौटती हुई बोली, "अपने यहां नहीं, कोई बगलवाले मकान में आया है। कितने बज गए ? मैं समझती हूं, टेबिल पर खाना तो लगा ही दिया जाए, क्यों ?···"

कभी-कभी कितने संयोग एक साथ इकट्ठे हो जाते हैं ! अभी एक की चोट से मन सम्हल ही नहीं पाता कि दूसरा आकर खड़ा हो जाता है।

खाने के बाद हम लोग फिर से आकर ड्राइंग रूम में बैठीं, तो मैं यही सोच रही थी। मिस जोन्स को किसी वजह से जल्दी थी—थोड़ी देर बैठने के बाद सौंफ-सुपारी लेकर वह उठ खड़ी हुई। दस बज रहे थे। जाना मैं भी चाहती थी, लेकिन ताहिरा की मनःस्थिति को देखते हुए एकाएक मन नहीं हो रहा था। लग रहा था जैसे उसे मेरा संग अभी और चाहिए और जैसे अकेली पाते ही वह मुझसे बहुत कुछ कहने वाली है।

"अच्छा मिस फरहत···"

खाने की ढेर-सी औपचारिक प्रशंसा के बाद मिस जोन्स बाहर निकलीं। उसे गेट तक छोड़ने के लिए ताहिरा भी उठी तो उसके शरीर को देखकर मैं देखती रह गई। सचमुच ताहिरा ठीक कहती है। वैसे देखने पर साज-सिंगार और मेक-अप के कारण कुछ मालूम नहीं पड़ता; लेकिन वास्तविकता यही है कि उसके जिस्म-जान में कुछ है नहीं।

क्षण-भर बाद ताहिरा के साथ के अकेलेपन को किसी तरह बांटना होगा ? मैं सोचने लगी—क्या मैं भी खाने की प्रशंसा करूं कि बिरयानी यों थी, कोफ्ते और शामी-कबाब ऐसे थे या मटर की कचौड़ियां···? मैं तय नहीं कर पा रही थी कि खाने के प्रसंग पर मुझे क्या कहना चाहिए। क्या बिल्कुल चुप लगा जाऊं ?

और वह स्थिति इससे भी कितनी कठिन थी जब मेज पर खाना लग जाने

के वाद अंतिम क्षणों में यह मालूम पड़ा कि खाने पर न तो मिसेज सूद आ रही हैं और न डॉक्टर सहाय !

टेविल पर आकर वैठ जाने के वाद भी हम लोगों ने डेढ़ घंटे प्रतीक्षा की थी। पहले अकेली दो जन, फिर मिस जोन्स भी आ गईं। सड़क से गुजरने वाली हर कार या जीने की आहट पर हम लोग चौंक उठतीं। उत्सुकता और परेशानी की मारी ताहिरा तो कई वार खिड़की तक चली जाती। जव यह लटके रहने की स्थिति असह्य और कठिन लगने लगी और मिस जोन्स ऊवी-ऊवी-सी दिखाई दी, तो ताहिरा अपना पुराना अलवम उठा लायी और उसे माध्यम वनाकर हम लोग समय काटने लगीं।

अलवम के सारे चित्र पुराने थे, प्रायः उन वीते हुए दिनों के, जिन्हें ताहिरा कभी जवलपुर में गुजार आई थी। अलवम की तीन-चौथाई तस्वीरें कॉलेज के दिनों से लेकर उस काल तक की थीं जव वह जवलपुर में लेक्चरर हो गई। अजीव वात कि उसमें एक भी चित्र ताहिरा के परिवार का न था। न मां, न भाई-वहन और न ही कोई निकट संवंधी। सारे पृष्ठों पर या तो ताहिरा थी या उसकी उन दिनों की सहेलियां अथवा कोई एक युवा तथा अजनवी-सा व्यक्ति···।

"और ये कौन हैं, वताया नहीं ?" मिस जोन्स ने अलवम के उसी पृष्ठ को खोलकर अचानक पूछ लिया।

तस्वीर पर नजर डालते हुए एक क्षण के लिए ताहिरा चुप हो गई थी, फिर कुछ हकलाकर उसने वताया कि उसके दूर के एक संवंधी थे।

"थे···यानी ?" मेरे मुंह से निकला।

"यानी अव यहां नहीं रहे। अरसा हुआ पाकिस्तान चले गए।"

"ओह !"

"वे तो नहीं, मिस फरहत, जिनके वारे में तुम अक्सर वताया करती थीं···?" मिस जोन्स ने पूछा।

"नहीं, वे तो दूसरे हैं···"

फिर वह पृष्ठ पलट दिया गया; क्योंकि हम दोनों ने देखा, ताहिरा के चेहरे का रंग और हुआ जा रहा था। उसी क्षण या उसके आसपास मिसेज सहाय का फोन आया कि डॉक्टर साहव को किसी काम से अचानक दिल्ली चले जाना पड़ा सो उन्होंने माफी मांगी है और थोड़ी देर वाद मिसेज सूद का संदेशा कि 'अम्माजी की छतरी' में जो सांस्कृतिक कार्यक्रम चल रहा है उसके व्यवस्थापक आकर अनिच्छापूर्वक खींचे लिए जा रहे हैं···।

"आप वोर तो नहीं हो गईं ?" मिस जोन्स को छोड़कर लौटते हुए ताहिरा ने दरवाजे से ही कहा और भरसक मुस्कराने का प्रयास करती हुई मेरे पास आकर वैठ गई।"

"क्यों ? नहीं तो···"

"मुझे शायद एकाध मिनट की देर हो गई। ताहिरा ने बुझे हुए स्वर में खेद-सहित कहा, "मिस जोन्स कह रही थीं कि डॉक्टर सहाय की दिल्ली जाने वाली बात झूठ है, ठीक वैसे ही जैसे मिसेज सूद का कार्यक्रम वाला वहाना। उसने तो घंटा भर पहले दोनों को 'शॉपिंग' करते हुए देखा था।"

कमरे में जैसे यकवयक सन्नाटा खिंच आया। कई पल मेरी जवान पर फालिज-सा पड़ा रहा। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करना चाहिए। फिर मैंने ठहर-ठहर कर ताहिरा को समझाने की कोशिश की कि संभव है, मिस जोन्स ने गलत देखा हो। भला इसमें वहाने की क्या बात है ? न आना होता तो वे सुवह भी मना कर सकते थे।

पर ताहिरा को विलकुल तसल्ली नहीं हुई। वह यही कहती रही कि क्या मैं ग्वालियर के लोगों को नहीं जानती। यहां जहर फैलाने वाले लोग भी हैं और अमृत समझकर उसे पीने वाले भी···

"और इसमें ताज्जुव की क्या बात है ?" ताहिरा ने मेज पर पड़ा हुआ अलवम उठा लिया और उसका एक पन्ना खोलकर फीकी-सी हंसी के साथ वोली, "दिस हैज आलवेज वीन माई लाट···मेरे हिस्से का नसीवा यही है। वह तो मेरी ही मूर्खता है, वर्ना कायदे से मुझे अव तक आदी हो जाना चाहिए था।"

किचन में उसी समय कोई थाली झनझनाकर गिरी और एक पल के लिए सारे सुनसान घर में उसकी आवाज गूंज कर रह गई। शायद किचन में विल्ली घुस गई थी। आंगन में अलग एक कुत्ता जोर-जोर से हड्डियां चवा रहा था।

थोड़ी देर ताहिरा अलवम के खुले हुए पन्ने को डूवी हुई-सी देखती रही फिर उसने सांस भरकर उसे वंद कर दिया। क्षण-भर वाद अलवम को मेज पर रखती हुई वोली, "कभी-कभी सोचती हूं मिस सेठी, कि कोई एक भूल कैसे सारी जिंदगी पर छा जाती है। उसे कहीं से सुधारो, किसी भी तरह भुलाना चाहो, पीछा ही नही छोड़ती। आपको पता है, जवलपुर में एक भूल करने के वाद मैंने स्वयं कोशिश करके अपना ट्रांसफर ग्वालियर करवा लिया था। पहले-पहल यहां आकर लगा कि मैं वहुत सुखी हूं और जिंदगी के वाकी दिन आराम से कट जाएंगे; पर अव लगता है कि मैं कितनी मूर्ख थी ! यहां आकर तो मैं कहीं की नहीं रही···"

मुझे लगा कि धीरे-धीरे ताहिरा की आवाज डूवती जा रही है और आंखों की कोरें छलछला रही हैं। मैं कुछ और संकट में पड़ूं, इससे पहले ही उसने लंबे ने स्वर में 'खैर' कहकर अपने को संयत किया और वोली—

"आपको जल्दी तो नहीं है ? मिसेज सूद के वहाने से मुझे एक वात याद आ गई। आप कभी यहां की छतरियों में गई हैं ? पहले-पहल तो मैं जानती

तीसरे पहर की धूप

इंदरगंज के बस-स्टाप पर कांजीवरम की साड़ी वाली महिला भी उतरने लगी। प्रभाकरजी उस समय अपने बगल में बैठे चेट्टी से बात कर रहे थे, आधी बात रोककर वह सहसा उधर देखने लगे, फिर खिड़की के बाहर सिर निकाल लिया।

कैसे-कैसे रूप और शरीर परमात्मा ने गढ़े हैं!—उस महिला के दूर खिसकते हुए और डग के साथ कांपते पृष्ठभाग पर आंखें जमाकर उन्होंने सोचा। दरअसल, उनके मन पर जमी पहले की खिन्नता गाढ़ी होकर अब उदासी में बदलने लगी थी और प्रभाकरजी को लग रहा था कि घर पहुंचते न पहुंचते वह बेहद उदास हो जाएंगे।

"गई!" तभी एकाएक उनकी दाहिनी जांघ पर धीरे से हाथ पटककर चेट्टी ने कहा, जिसका अर्थ यह था कि प्रभाकरजी को अब उनकी ओर मुखातिब होना चाहिए।

प्रभाकरजी चौंके जरूर थे, पर उसे प्रकट होने देना उन्हें ठीक नहीं लगा। धीरे-धीरे मुस्कराते हुए वह चेट्टी की ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देखने लगे।

"कौन थी, जानते हो ?" चेट्टी ने पूछा ।

प्रभाकर ने अस्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया ।

"मेजर चौहान की पत्नी हैं," चेट्टी ने राजभरे शब्दों में बताया, "कमबख्त को जब भी देखो बुढ़ापा याद ही नहीं रहता । क्यों ?"

प्रभाकरजी धीरे से मुस्कराए और चेट्टी की ओर मुग्ध भाव से देखने लगे । स्वयं उनके मन में यही बात थी, लेकिन वह कह नहीं पाए थे और यह कोई पहला अवसर न था । हर बार यही होता है । कोई-न-कोई बात निहायत शिद्दत से वह भी महसूस करते होते हैं, कहना भी चाहते हैं, लेकिन उनसे पहले चेट्टी ही उसे स्वर दे देता है और चूक जाने का खेद-भाव लिए वह ताकते रह जाते हैं । जितनी बेपरवाही और ईमानदारी से चेट्टी कह जाता है, वह क्यों नहीं कह पाते ? उन्होंने सोचा—क्या कहीं उम्र की गंभीरता···लेकिन नहीं, देखा जाए तो उम्र के लिहाज से भी वह छोटे पड़ते हैं । चेट्टी कुछ नहीं तो कम-से-कम दस वर्ष उनसे बड़ा होगा । सरकारी नौकरी से रिटायर हुए उसे बरसों बीत गए, दांत एक भी साबित नहीं बचा, लेकिन शरीर का गठन ही ऐसा है कि वह प्रभाकर जी से भी छोटा लगता है ।

"क्यों भाई, कहां हो ?" सहसा उनके कंधे को हिलाकर चेट्टी ने कहा और तौलती हुई दृष्टि से उन्हें घूरने लगा । ऐसे अवसरों पर प्रभाकरजी पहले हड़बड़ा जाया करते थे, लेकिन इधर उन्होंने अपनी आदत बदल ली है । मुस्कराकर संयत स्वर में बोले, "कहीं नहीं, बिल्कुल यहीं हूं, आपके पास !"

"अच्छा !" मैंने सोचा कि मेजर चौहान की बीबी तुम्हें अपने साथ ले उड़ी ।"

कहकर चेट्टी 'हो-हो' करता हुआ हंसने लगा । प्रभाकरजी सीधे उसके मुंह की ओर देख रहे थे और फासला भी अधिक न था, अतः चेट्टी के दंत-विहीन मसूड़े को एक क्षण से अधिक वह नहीं देख सके । एक अजीब-सी वितृष्णा उनके मन में भर गई । बात चाहे सच ही क्यों न हो, कई बार चेट्टी का हंसना उन्हें बिल्कुल नहीं सुहाता । ऐसे हर अवसर पर वह निश्चय करने लगते हैं कि भविष्य में इस आदमी से दूर का संबंध रखेंगे, यह जानते भी कि अपना प्रण स्वयं उनसे नहीं निभता । अपनी ओर से वह चाहे लाख प्रयत्न करें, और कुछ भले टल जाए, चेट्टी और उनकी रोज की मुलाकात कभी नहीं टलती । बाड़े के बस-स्टाप पर जब नं० २ वाली बस की प्रतीक्षा करते वह खड़े होते हैं, प्रायः दो-चार मिनट के आसले-फासले से चेट्टी भी आ जाता है और फिर अपनी मर्जी कुछ नहीं रह जाती । मिलना भी पड़ता है, खुलकर बात भी करनी होती है और साथ-साथ बस पकड़कर मुरार तक का सारा सफर भी···

पैंसठ-सत्तर के बाद भी आदमी क्या इतना युवा और उमंगपूर्ण रह सकता

है ? चेट्टी की बातें सुनकर अक्सर प्रभाकरजी सोचने लगते हैं—हर समय प्रसन्न व चंचल, हर घड़ी निश्चित और नयी-नयी उम्र की-सी बातें···

"उस शलवार वाली को देखा ?" बस में चढ़ रही किसी लड़की की ओर संकेत कर चेट्टी कहता। स्वभावतः पलटकर प्रभाकरजी चोरी से उस लड़की की ओर देखते, एक-दो क्षण देखते भी रहते, फिर जैसे चेट्टी का मन रखने के लिए मुस्कराते। चेट्टी उनसे अपने सौंदर्य-बोध की दाद की अपेक्षा करने लगता। पहले कौतूहलवश, मन रखने के लिए और बाद में आदतन प्रभाकरजी मुस्कराते। कभी-कभी एकाध शब्द ऊपरी मन से कह भी देते। लेकिन धीरे-धीरे उन्हें लगा कि वह भी थोड़ी रुचि लेने लगे हैं। बस में चढ़ती हुई महिलाओं की ओर वैसे तो पहले भी उनका ध्यान खिंच जाता था; पर उस निगाह में यह बात न थी। कहीं-न-कहीं झिझक बनी रहती थी और आंखों में लिहाज का वह परदा चढ़ा रहता था जो जन्म से संस्कारवश उन्हें मिला था। चेट्टी ने जैसे वह परदा अपने हाथों खींचकर अलग कर दिया और प्रभाकरजी की ढंकी हुई कमजोरी को अनावृत होकर उभर आने का एक बहाना मिल गया।

"अब तो अपने दिन लद गए चेट्टी साहब !" एक दिन उन्होंने हंसते हुए कहा था। संभवतः उस बहाने को वह अच्छी तरह ठोक-बजाकर देख लेना चाहते थे।

"कौन कहता है ?" चेटी ने तत्काल जवाब दिया, "यह तो साहब, अपने ऊपर निर्भर करता है कि दिनों को कितनी दूर तक खींच ले जाया जा सकता है। आदमी शरीर से नहीं, मन से बूढ़ा या जवान होता है।"

"और देखकर ही क्या बनता है चेट्टी साहब ? जिन्हें आप देखते हैं, वे तो आपकी ओर देखते ही मुंह फेर लेती हैं।"

इस पर चेट्टी कहकहा मारकर हंस पड़ा था और कुछ इस तरह की बात कही थी कि चाहे कुछ न बने, लेकिन बिगड़ता क्या है। उसे अपने देखने से मतलब है, दूसरों से नहीं।

और उस दिन प्रभाकरजी के कानों में रह-रहकर चेट्टी की यह बात गूंजती रही थी। उन्होंने जो धारणा चेट्टी के विषय में बना रखी थी, वह बहुत अच्छी न थी। चेट्टी प्रारंभ के कई बरसों तक मिलिटरी में रहा, फिर सरकारी नौकरी में आ गया और इधर रिटायरमेंट के बाद किसी प्राइवेट कंपनी को अपनी सेवाएं दिए है। यों परिवार छोटा नहीं, बीवी है, तीन-तीन लड़के हैं। जवान-जवान दो-दो बेटे नौकरी करते हैं और उनकी बहुएं भी आ गई हैं। पर बहुओं के आ जाने के बाद भी चेट्टी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मिजाज की जिंदादिली और स्वभाव में मस्ती ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। अब भी रात को वह खाने के पहले सबके सामने बेझिझक पीता है और यह बात किसी से नहीं छिपाता।

साला, खुशनसीब है सो इतराता है—प्रभाकरजी मन-ही-मन तिलमिलाकर कहते—कहीं जीने-खाने की समस्या लगी होती, बुढ़ापे की दो-चार औलाद होतीं या सीने पर कोई जवान बेटी ब्याहने को बैठी होती तब पता चलता कि जिंदगी वाकई कैसी है···

बस अब किले के नीचे से गुजर रही थी। दाहिनी ओर विशाल अहाते वाला फूलबाग पड़ता था। नित्य की शामों की तरह फूलबाग में सैकड़ों स्त्री-पुरुष सैर-सपाटा करते हुए नजर आ रहे थे। चेट्टी ने खिड़की के बाहर अपना सिर निकाल लिया था और चौगड्डे पर गन्ने का रस पीती हुई दो एंग्लो-इंडियन लड़कियों की ओर देख रहा था।

प्रभाकरजी ने धीरे से अपना सिर टेक दिया और आंखें मूंदकर थकावट दूर करने लगे।

अब वह शाम को लौटते में सचमुच थक जाते हैं। पैंतीस बरस की हिंदी-पत्रकारिता ने जैसे चुसी हुई गंडेरी की तरह व्यर्थ करके उन्हें फेंक दिया है। जैसे-तैसे एक दैनिक पत्र में वह आज भी खिच रहे हैं, पर न वह पहले-जैसा उत्साह है, न उमंग और न शरीर में वह शक्ति ही जिसके बल पर कभी वह अभिमान किया करते थे। इसी अभिमान ने किसी एक जगह लंबे समय तक टिककर उन्हें रहने न दिया। यौवन की दहलीज चढ़ने से लेकर इस घड़ी तक उनके भाग्य में सिवाय संघर्ष करने के जब और कुछ नहीं बदा तो कोई क्या करे ?

"क्या हुआ ?"

तभी पीछे की सीट से दो-तीन लोगों ने सामने झुककर इतने जोरों से पूछा कि वह सहसा चौंक गए। अजीब अहमक लोग हैं, सामने अत्यंत बेपरवाही से देख-दाखकर उन्होंने सोचा। उसमें चिल्लाने-जैसी बात ही क्या थी ! नियम के अनुसार बस पड़ाव वाले चौगड्डे पर रुकी थी। कंडक्टर ने पहले ही कह दिया था कि बस ठाठीपुर होती हुई सीधे मुरार जाएगी, अतः जे०सी० मिल्स, ग्वालियर या हजीरे की सवारियां न बैठें। कुछ लोगों ने बात मानी नहीं, जबरन चढ़ दौड़े थे सो गाड़ी रुकवाकर कंडक्टर उन्हें उतरवा रहा था, बस !

एक हल्की खीझ के बाद उन्होंने फिर से अपनी पीठ टेक दी और आराम से अधलेटे होने का प्रयास करने लगे। चेट्टी अनमने भाव से बैठा अब भी बाहर देख रहा था। यों भी बस के भीतर दिलचस्पी ली जाए, ऐसा वक्त न था। ढंग की सवारियां या देखने जैसे लोग पड़ाव तक आकर उतर जाते हैं और प्रायः वहां से मुरार तक का रास्ता, बिना किसी अच्छी महिला सवारी के

बंजर जैसा लगता है। चाहकर भी प्रभाकर जी ने चेट्टी की ओर नहीं देखा। उन्हें आशंका थी कि कहीं चेट्टी ने बात शुरू कर दी तो लगातार बोलता ही चला जाएगा। वह बेहद थक गए थे, अतः बिल्कुल चुप रहना चाहते थे—कतई खामोश और निढाल!

लेकिन क्या वह थकावट से अधिक उदासी नहीं थी? ईमानदारी से सोचने पर स्वयं उन्हें लगा—अकेलेपन की ऐसी उदासी, जो पत्नी के गुजर जाने के बाद इधर साल-भर से उनकी परिचित संगिनी-सी हो गई है। साल-भर पहले उन्हें गुमान भी न था कि यूं अधबीच में पत्नी दगा दे जाएगी और वह अकेले छूट जाएंगे। मानो सिर्फ इसी बात को अनुभव करने के लिए कि बुढ़ापे में जोड़े का टूटना वास्तव में कितना दुखदायी होता है! पहले-पहल तो वह भौचक्के से रह गए थे। फिर किसी अनजान-सी घबराहट ने जैसे उन्हें जकड़ लिया। जब तक पत्नी थी, बावजूद उसके बार-बार कहने और याद दिलाने के कि बेटी की चिंता उन्हें अभी से करनी चाहिए, वह कभी परेशान नहीं हुए। पता नहीं वह कौन-सा आधार था जिसके बिना पर आश्वस्त हुए बैठे थे कि समय पर सब ठीक हो जाएगा; हालांकि उनके पास न कमाया हुआ धन था और न जवान बेटा। शायद पत्नी की उपस्थिति के कारण मन अपना सारा भार उन्हीं पर डालकर जैसे निश्चित या अर्द्ध-निश्चित हो गया था और शायद इसीलिए वह आघात भी गहरा लगा।

कुछ दिनों जो अकेलापन उन्हें खलता रहा, उसे नये घाव का परिणाम समझकर वह सह गए—इस आशा पर कि वक्त मरहम लगा ही देगा, लेकिन अजीब बात थी कि जैसे-जैसे वक्त गुजरता गया पत्नी के न होने का दर्द भले कम हो गया हो, अपने अकेलेपन का अहसास कई गुना बढ़ गया और बढ़ता ही चला गया। यहां तक कि बाद में उन्हें अपनी स्थिति स्वयं निरीह लगने लगी। साल-भर पहले जिस बुढ़ापे को दुनिया-दिखावे के लिए ऊपरी तौर पर उन्होंने महसूस किया था, वह जाने कैसे वक्त इतने थोड़े अरसे में चुपचाप उनके भीतर बैठ गया और वह अंदर-ही-अंदर चटकते चले गए। पिछले पांच-सात बरसों से उन्होंने आईना देखना छोड़ रखा था। वजह कोई नहीं थी सिवाय इसके कि अपने-आपको देखकर कोफ्त होती थी। पत्नी ने मरते-मरते जैसे उनके हाथों में शीशा पकड़ा दिया और उनके सामने जिस प्रभाकर की तस्वीर उभरी उसका सिर गंजा था, खोपड़ी खल्वाट थी, दांतों के न होने के कारण गाल पिचके हुए हुए थे और आंखों का रंग धुआं-धुआं हो रहा था···

और फिर लगा कि नाहक सुबह होती है और नाहक शाम, क्योंकि दोनों

में से किसी में भी जान नहीं रह गई थी। सुबह का वक्त इस तैयारी में काटते कि उन्हें तैयारी करके दफ्तर जाना है, कुछ थोड़े उत्साह के साथ वह कट भी जाता, लेकिन गहराती शाम का सूनापन उन्हें काटने को दौड़ता। घर में अनिमा विटिया होती, उससे छोटे-छोटे दो वेटे भी, लेकिन थोड़ा-सा दिखावा करने और मन रखने वाले प्रेम के वाद वाकी सारे समय वह कांटों की सूखी वाड़ के पास वैठे या लेटे होते। आंखें खुली हों या वंद, मन पर जमा वही चिर-परिचित दर्द पिघलता और कई वार उनकी आंखें छलछला आतीं।

गयी-रात के अंधेरे में जव कॉलोनी ऊंघने लगती और वड़ की लटकती-झूलती जड़ें सन्नाटे को स्थिर होकर ताकतीं तो अनायास उन्हें लगता जैसे कांटों की सूखी वाड़ के पास पत्नी की आकृति आकर ठिठक गई है।

"मैं न चाहती थी कि···"

कानों में ऐसी ही कोई दूर से आती और वहनी-वहती-सी आवाज गूंजती। वह हड़वड़ाकर आंखें खोल देते या घवराकर उठ वैठते। कहां? कहीं कुछ नहीं होता। भ्रम, सिर्फ भ्रम! वह लेट जाते।

"अव तो कुछ शर्म करो," अंतिम दिनों में पत्नी प्राय: यही वात हर वार कहा करती थी, "उम्र का नहीं तो कम-से-कम वच्चों का ही सही।"

और कहकर वह इस कदर दुष्टतापूर्वक मुस्कराती कि प्रभाकर जी पहले से कई गुना अधिक लाड़ तथा उत्तेजना में कांपने लगते। वड़ की लंवी-लंवी और वूढ़ी जड़ों में धीरे-धीरे कंपन होता, सूखी वाड़ के आसपास के साये में कोई गिलहरी झब्वेदार दुम उठाकर भागती और उनकी दीवार पर चढ़ी दीमक की पतली परतें विना किसी आवाज के चुपचाप झड़ जातीं।

"कुछ तो शर्म करो···"

पत्नी का यह उलाहना भरा जुमला पहले वस की सवारी के दौरान भी गूंजा करता था। विशेषकर तव जव वह किसी महिला की सीट के पीछे वैठ जाते और सामने की साफ खुली गर्दन तथा कसी हुई पीठ उनकी आंखों में चुभने लगती। शायद क्षण के लघुतम अंश के लिए वह सहमते, फिर जी अनायास डूवकर उदास हो जाता। कुछ ही दिनों वाद सहमना जाता रहा, सिर्फ उदासी रह गई और उदासी का वह वारीक गिलाफ भी चेट्टी के संग के कारण कव, कहां और कैसे उतर गया, इसकी याद उन्हें नहीं है।

कठिनाई से गुजरते दिनों के वीच अचानक एक दिन उन्होंने महसूस किया कि सुवह दफ्तर जाने की तैयारी वे उत्साहपूर्वक करने लगे हैं और उससे भी अधिक उत्साह तथा वेचैनी से प्रतीक्षा होने लगी है वस की··· (क्या सिर्फ वस की? वह वस रुकते ही सवसे पहले क्यों दौड़ पड़ते थे? दाखिल होने के वाद, पीछे चाहे सारी सीट खाली ही क्यों न पड़ी हो, अगली सीटों के आसपास ही

वह क्यों अड़े रहना चाहते थे ?)

"भई बूढ़ा शरीर है, सो धक्के से डर लगता है, क्यों प्रभाकर जी ?" चेट्टी ने एक दिन हंसकर उनकी ओर देखा और रहस्यपूर्ण स्वर में कहा था और प्रभाकर जी सब-कुछ जानते-समझते हुए भी निरुत्तर से रह गए थे, मानो मन-ही-मन उस तर्क के वजन को तौल रहे हों।

और क्या यही बुढ़ापे का तर्क उनके मन में उस दिन भी नहीं उभरा था जब फालके बाजार में तंग शलवार-फ्रॉक और खुली बांहों वाली वह लड़की आकर खड़ी हो गई थी।

उस दिन किसी कारणवश वह घर से आध घंटा पहले निकल आए थे। बस में बेहद भीड़ थी। लोग फुट-बोर्ड तक ठसे हुए थे और दाखिल होना या निकलना तक बेहद कठिन था। ऐसे में अगली सीटों के आसपास भीड़ में फंसे हुए थे कि कोई सीट खाली हो तो राहत मिले; पर हाईकोर्ट तक उन्हें खड़े-खड़े ही आना पड़ा। अच्छा हुआ उस दिन चेट्टी नहीं था, अन्यथा दो महिलाओं के बीच में उन्हें फंसा हुआ देखकर कोई-न-कोई फब्ती वह जरूर कसता। उनका अजब हाल था। सामने एक गदराये शरीर की पंजाबी महिला खड़ी थी और पीछे वह लड़की। जब बस झोंके देती हुई सहसा रुकती या चलती तो एक क्षण के लिए उनका शरीर सामने वाली महिला के शरीर से बिल्कुल सट जाता और उसी छोटे-से क्षण में उनके शरीर के पृष्ठभाग में एक मांसल और गर्म-गर्म दबाव महसूस होता (चेट्टी होता तो क्या कहता—क्यों प्रभाकरजी, दोनों हाथ में लड्डू !)

पर वह सुखद स्थिति दो-चार मिनट से अधिक नहीं चली। अगले बस-स्टाप पर बाजू की दो सीटें एक साथ खाली हो गईं और सामने वाली महिला सीट घेरने के लिए सरकी। इस सरकने-हटने और जगह छोड़ने की कोशिश में कई लोग इधर-उधर हुए और प्रभाकरजी के अड़े हुए अगले शरीर पर अपने युवा-अवयवों का तपिश-भरा और गहरा दबाव छोड़ती हुई वह महिला सीट पर जा बैठी।

पीछे रह गई वह लड़की। प्रभाकरजी को सीट पहले मिली और थोड़ी देर बाद अपने बगल की सीट खाली होते ही उन्होंने उस लड़की को आग्रहपूर्वक बुलाकर अपने पास बैठा लिया···

बस, सूत्र केवल इतना ही था। लेकिन क्या उतना ही ? अजीब बात है कि उस युवा लड़की को उतनी बेपरवाही से बुलाते, बैठाते और कोंच-कोंचकर बातें करते हुए एक क्षण के लिए भी उन्हें झिझक नहीं हुई। क्या उस समय भी उनके मन में यही बुढ़ापे का तर्क था ? लड़की के० आर० जी० कॉलेज के थर्ड-इयर में पढ़ती थी, किसी हैसियतदार बाप की बेटी थी और उसे कंपू जाना

था। वाड़े तक पहुंचने के पहले उस दिन प्रभाकर जी ने वैठने के कई आसन वदले। कई वार उनकी एक वांह सीट की पुश्त पर लंवी-लंवी चली गई और देर तक वहां पड़ी रही। दो-तीन मर्तवा से ज्यादा उन्होंने खिड़की के वाहर किसी वहाने से मुंह निकाला और यह करने में···

'हो गया!' वाड़े पर उतरकर वस की ओर देखते हुए वे गद्‌गद कंठ से वुदवुदाए—'आज तो फैसला हो गया।'

उस दिन फूल की तरह हलके होकर वह दफ्तर पहुंचे थे। सारा दिन उत्साहपूर्वक काम करते रहे और हालांकि प्रकट देखने-सुनने में कोई आवाज न थी; लेकिन लगा जैसे उनके होंठ दिन-भर गुनगुनाते रहे हों। उसी रात उनींदे-पन से उपजा हुआ एक प्रश्न उनके मन में उभरा था—किसका फैसला हो गया? कैसे? कहां? पर जवाब के लिए परेशान होना स्वयं व्यर्थ लगा।

और दूसरे दिन से चुपचाप ही उनका क्रम वदल गया। पहले ग्यारह के पहले वह वस-स्टॉप नहीं पहुंच पाते थे, लेकिन अव वह आध घंटा पहले ही चले आते। वस जव तक फालके वाजार नहीं पहुंच जाती वह उद्विग्न और अनमने भाव से वैठे होते। निश्चित समय और स्थान पर वह लड़की वस में आ जाती, प्रभाकर जी आतुरतापूर्वक देखते तो वह वहुत शालीनतापूर्वक परि-चित भाव से मुस्कराती। कई वार ऐसे संयोग भी होते कि वह प्रभाकर जी की वगल वाली सीट पर बैठ जाती, नित्य-प्रति फालके वाजार से वाड़े तक का साथ भी होता, लेकिन उसके वाद?···

इतने दिनों कहां थे, भाई? अभी दो-एक रोज पहले चेट्टी ने लपकते हुए पूछा था और प्रभाकर जी क्षण-भर के लिए सकपका गए थे। उन्हें सूझा ही नहीं कि क्या जवाव देना चाहिए। दरअसल, अव फिर वह पुरानी स्थिति में लौट आए थे। चेट्टी को वह किस तरह वताते कि वह कहां थे? क्या वह वात कही जाने जैसी थी? उन्हें सहसा फिर पत्नी का वाक्य याद आ गया। सच-मुच कोई सुने तो क्या कहे कि देखने में तो यह उम्र आ गई और··

"था तो यहीं चेट्टी साहव," संभलकर मुस्कराते हुए उन्होंने जवाव दिया, "लेकिन मुलाकात नहीं हुई। वात यह है कि मेरे आने-जाने का वक्त थोड़ा-सा वदल गया था, शायद इसलिए···"

उस पर चेट्टी ने क्या कहा यह उन्होंने नहीं सुना। वह अपनी मूर्खता की वात सोचने लगे थे और उसी वार क्यों इधर दो-तीन दिनों से लगातार वह यही सव सोच रहे थे। आदमी चाहे जितना प्रवुद्ध या होशियार हो जाए कहीं-न-कहीं मूर्खता चिपकी ही रह जाती है? क्या भावुकता उम्र के साथ भी नष्ट नहीं होती और उसका कुछ-न-कुछ अंश वरावर रहा आता है?

आज भी उन दिनों की तस्वीर आंखों में आती है तो अजीव ग्लानि-सी

होती है। कैसे उनकी हालत किशोर वय की-सी हो गई थी। उन्हें क्या हो गया था ? इतनी जरा और साफ-सी वात उनकी समझ में क्यों नहीं आई कि सुबह और तीसरे पहर का कहीं कोई मेल नहीं होता। उन्हें उस दिन की अपनी मनःस्थिति याद हो आई जब कई हफ्तों के क्रम में अचानक व्यवधान पड़ा। फालके बाजार छोड़कर बस बाड़े तक भी आ गई, लेकिन कोई नहीं आया। फिर यह व्यवधान अक्सर पड़ने लगा। फिर एक दिन उसमें अंतर पड़ा। वह बस में आई, लेकिन उसके साथ एक स्वस्थ और सुंदर युवक था, जिसके साथ मिश्री की डली की तरह वह घुली जा रही थी। प्रभाकर जी उस दिन भी बस में आतुरतापूर्वक बैठे हुए थे और सीट खाली थी; पर अंत तक वह खाली ही रही…और कुछ ही दिनों में प्रभाकर जी ने जाना कि उनकी बगल वाली सीट कभी नहीं भरेगी; क्योंकि एकाधिक बार उसी युवक के साथ स्कूटर पर बैठकर वह जाती दिखाई दी और उसने बस की ओर मुड़कर भी नहीं देखा था…

"ऐ हरामी ऽ ऽ ऽ ऽ…!"

अचानक कॉलोनी के आखिरी सिरे वाले क्वार्टर से यह लंबी गाली सीधे आकर प्रभाकर जी को चौंका गई। वह स्वर किसी महिला का था और कुछ-कुछ परिचित भी। जब तक कि प्रभाकर जी पलटें या लौटकर पहचानने की कोशिश करें, उस गाली के क्रम में कई इतनी भद्दी, गंदी और फूहड़ गालियां धड़ाधड़ जुड़ गईं कि सन्न-से होकर वह देखते रह गए। क्या किसी युवा महिला के मुंह से वैसी गालियां उन्होंने इससे पहले कभी सुनी थीं ? क्या औरतें भी वैसी बातें अपनी जबान से कह सकती हैं ? और वह सब सुनकर प्रभाकर जी को कैसा लगा था ? एक क्षण को उनके मन में वह कैसी इच्छा जग आई कि काश, शाम के धुंधलके या पेड़-पौधों की आड़ के कारण वह महिला उन्हें न देख पाए और उसके मुंह से कुछ और कच्ची गालियां सुनने को मिलें—कुछ और जो पिछली गालियों से भी नंगी, फहश और बुरी हों ! और यह कित[illegible] विचित्र बात है उन्होंने सोचा, कि जो चीजें एकांत में अच्छी लगती हैं, वे [illegible] दो लोगों के सामने बुरी लगने लगती हैं या जो सबके सामने बुरी लगती हैं ही एकांत में प्रिय तथा आनंददायिनी लगती हैं ! जैसे स्वयं उनका कभी-क[illegible] दोपहर के समय दूर-दूर निकल जाना और विशेषकर तालाब या जलाशय किनारे-किनारे अनजान भाव से चलना—केवल इसी आशा से कि नहाती कपड़े बदलती हुई कोई स्त्री वहां नग्न या अर्धनग्न दीख जाए ! ऐसे [illegible] पर जितने साहस के साथ वह घूरते थे, वह अकेले में ही संभव था। कोई उनके साथ होता तो कभी नहीं, कतई नहीं…

काफी धीरे-धीरे और थकित भाव से चलकर वह घर आए और थोड़ी-सी कर्त्तव्यपूर्ति के बाद सूखी बाड़ के किनारे आंखें मूंद कर लेट गए। भीतर उनकी सयानी बिटिया अनीमा अपने छोटे-छोटे भाइयों को सुलाकर चौका सहेजने में लगी थी। सारे काम-काज से निबटकर सोने में उसे रोज ही दस-ग्यारह बज जाते हैं और शायद थकावट के ही कारण वह बेहद बेहोश सोती है। कुछ भी हो, थोड़ी देर बाद प्रभाकर जी ने सोचा, लोग उनकी लड़की के बारे में चाहे जैसी बातें करें, इस या उस लड़के के साथ चाहे जितनी बदनामी करें और भले ही एकाध वास्तविकता का पता स्वयं उन्हें भी हो, लेकिन उससे क्या? भूल-चूक किससे नहीं होती रहती? और उससे अनिमा के शालीन तथा संयत स्वभाव या मिजाज में कहां अंतर पड़ा? उन्हें लगा कि अनिमा के साथ सचमुच ज्यादती होती रही है और अनिमा ही क्यों अपने किसी भी बच्चे को, बाप का जितना प्यार मिलना चाहिए, उन्होंने शायद नहीं दिया। न वह अच्छे पति हो सके और न पिता। लेकिन वह क्यों नहीं हो सके? और यह न होकर फिर क्या हुए···क्या बने?

बड़ी देर बाद, शायद एकाध नींद या झपकी लेकर वह बाड़ के पास से उठे। जाने कितनी रात जा चुकी थी। सारी कॉलोनी अंधेरे में मुंह ढांके सो रही थी और पड़ोसी क्वार्टरों से खर्राटों की आवाज आ रही थी। और कोई दिन होता और वह इतनी रात गए उठे होते तो अंधेरे में उसी जगह वह देर तक खड़े पड़ोसियों की छतों, खिड़कियों या तार की जालियों की ओर ऐसे ताकते मानो किसी भी क्षण कहीं चमत्कार हो जाएगा या जैसे कहीं चल रहे चमत्कार का रहस्य अचानक खुल जाएगा।

पर आज अत्यंत संयत भाव से उठकर वह भीतर की ओर चले। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि वह अपने को कैसे बदला-बदला महसूस कर रहे हैं। शाम की वह उदासी कहां गई? अकेलेपन के उस एहसास का क्या हुआ? भीतर तक न कोई उलझन थी और न कुंठा। कहां गई बंद तालाब की वह पुरानी काई और बदबूदार लद्दी जिसके बोझ व भार से कभी-कभी वह स्वयं डर जाया करते थे? जैसे पहाड़ी नदी का आर-पार दीखने वाला सतही और आर्द्र किनारा हो—रेतीला तथा निर्मल!

और भीतर की दहलीज पार करते हुए उन्हें लगा जैसे बहुत दिनों के भटकाव के बाद वे घर लौट रहे हों। अंदर के कमरे में अनिमा दोनों छोटे भाइयों को अगल-बगल लेकर गहरी नींद सो रही थी। हमेशा की तरह थकी और बेखबर! प्रभाकर जी के मन का अपराध-भाव एक बार फिर घना हो गया।

—मुझ-सा स्वार्थी और कमीना भला कौन होगा?

बिना किसी स्वर के जैसे उन्होंने अपने-आपसे कहा फिर प्रेम में उमड़कर

होती है। कैसे उनकी हालत किशोर वय की-सी हो गई थी। उन्हें क्या हो गया था ? इतनी जरा और साफ-सी बात उनकी समझ में क्यों नहीं आई कि सुबह और तीसरे पहर का कहीं कोई मेल नहीं होता। उन्हें उस दिन की अपनी मनः-स्थिति याद हो आई जब कई हफ्तों के क्रम में अचानक व्यवधान पड़ा। फालके बाजार छोड़कर बस बाड़े तक भी आ गई, लेकिन कोई नहीं आया। फिर यह व्यवधान अक्सर पड़ने लगा। फिर एक दिन उसमें अंतर पड़ा। वह बस में आई, लेकिन उसके साथ एक स्वस्थ और सुंदर युवक था, जिसके साथ मिश्री की डली की तरह वह घुली जा रही थी। प्रभाकर जी उस दिन भी बस में आतुरता-पूर्वक बैठे हुए थे और सीट खाली थी; पर अंत तक वह खाली ही रही···और कुछ ही दिनों में प्रभाकर जी ने जाना कि उनकी बगल वाली सीट कभी नहीं भरेगी; क्योंकि एकाधिक बार उसी युवक के साथ स्कूटर पर बैठकर वह जाती दिखाई दी और उसने बस की ओर मुड़कर भी नहीं देखा था···

"ऐ हरामी ऽ ऽ ऽ ऽ···!"

अचानक कॉलोनी के आखिरी सिरे वाले क्वार्टर से यह लंबी गाली सीधे आकर प्रभाकर जी को चौंका गई। वह स्वर किसी महिला का था और कुछ-कुछ परिचित भी। जब तक कि प्रभाकर जी पलटें या लौटकर पहचानने की कोशिश करें, उस गाली के क्रम में कई इतनी भद्दी, गंदी और फूहड़ गालियां धड़ाधड़ जुड़ गईं कि सन्न-से होकर वह देखते रह गए। क्या किसी युवा महिला के मुंह से वैसी गालियां उन्होंने इससे पहले कभी सुनी थीं ? क्या औरतें भी वैसी बातें अपनी जबान से कह सकती हैं ? और वह सब सुनकर प्रभाकर जी को कैसा लगा था ? एक क्षण को उनके मन में वह कैसी इच्छा जग आई कि काश, शाम के धुंधलके या पेड़-पौधों की आड़ के कारण वह महिला उन्हें न देख पाए और उसके मुंह से कुछ और कच्ची गालियां सुनने को मिलें—कुछ और जो पिछली गालियों से भी नंगी, फहश और बुरी हों ! और यह कितनी विचित्र बात है उन्होंने सोचा, कि जो चीजें एकांत में अच्छी लगती हैं, वे ही दो लोगों के सामने बुरी लगने लगती हैं या जो सबके सामने बुरी लगती हैं वे ही एकांत में प्रिय तथा आनंददायिनी लगती हैं ! जैसे स्वयं उनका कभी-कभी दोपहर के समय दूर-दूर निकल जाना और विशेषकर तालाब या जलाशय के किनारे-किनारे अनजान भाव से चलना—केवल इसी आशा से कि नहाती या कपड़े बदलती हुई कोई स्त्री वहां नग्न या अर्धनग्न दीख जाए ! ऐसे अवसरों पर जितने साहस के साथ वह घूरते थे, वह अकेले में ही संभव था। कोई और उनके साथ होता तो कभी नहीं, कतई नहीं···

काफी धीरे-धीरे और थकित भाव से चलकर वह घर आए और थोड़ी-सी कर्त्तव्यपूर्ति के बाद सूखी बाड़ के किनारे आंखें मूंद कर लेट गए। भीतर उनकी सयानी बिटिया अनीमा अपने छोटे-छोटे भाइयों को सुलाकर चौका सहेजने में लगी थी। सारे काम-काज से निबटकर सोने में उसे रोज ही दस-ग्यारह बज जाते हैं और शायद थकावट के ही कारण वह बेहद बेहोश सोती है। कुछ भी हो, थोड़ी देर बाद प्रभाकर जी ने सोचा, लोग उनकी लड़की के बारे में चाहे जैसी बातें करें, इस या उस लड़के के साथ चाहे जितनी बदनामी करें और भले ही एकाध वास्तविकता का पता स्वयं उन्हें भी हो, लेकिन उससे क्या? भूल-चूक किससे नहीं होती रहती? और उससे अनिमा के शालीन तथा संयत स्वभाव या मिजाज में कहां अंतर पड़ा? उन्हें लगा कि अनिमा के साथ सचमुच ज्यादती होती रही है और अनिमा ही क्यों अपने किसी भी बच्चे को, बाप का जितना प्यार मिलना चाहिए, उन्होंने शायद नहीं दिया। न वह अच्छे पति हो सके और न पिता। लेकिन वह क्यों नहीं हो सके? और यह न होकर फिर क्या हुए···क्या बने?

बड़ी देर बाद, शायद एकाध नींद या झपकी लेकर वह बाड़ के पास से उठे। जाने कितनी रात जा चुकी थी। सारी कॉलोनी अंधेरे में मुंह ढांके सो रही थी और पड़ोसी क्वार्टरों से खर्राटों की आवाज आ रही थी। और कोई दिन होता और वह इतनी रात गए उठे होते तो अंधेरे में उसी जगह वह देर तक खड़े पड़ोसियों की छतों, खिड़कियों या तार की जालियों की ओर ऐसे ताकते मानो किसी भी क्षण कहीं चमत्कार हो जाएगा या जैसे कहीं चल रहे चमत्कार का रहस्य अचानक खुल जाएगा।

पर आज अत्यंत संयत भाव से उठकर वह भीतर की ओर चले। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि वह अपने को कैसे बदला-बदला महसूस कर रहे हैं। शाम की वह उदासी कहां गई? अकेलेपन के उस एहसास का क्या हुआ? भीतर तक न कोई उलझन थी और न कुंठा। कहां गई बंद तालाब की वह पुरानी काई और बदबूदार लद्दी जिसके बोझ व भार से कभी-कभी वह स्वयं डर जाया करते थे? जैसे पहाड़ी नदी का आर-पार दीखने वाला सतही और आर्द्र किनारा हो—रेतीला तथा निर्मल!

और भीतर की दहलीज पार करते हुए उन्हें लगा जैसे बहुत दिनों के भटकाव के बाद वे घर लौट रहे हों। अंदर के कमरे में अनिमा दोनों छोटे भाइयों को अगल-बगल लेकर गहरी नींद सो रही थी। हमेशा की तरह थकी और बेखबर! प्रभाकर जी के मन का अपराध-भाव एक बार फिर घना हो गया।

—मुझ-सा स्वार्थी और कमीना भला कौन होगा?

बिना किसी स्वर के जैसे उन्होंने अपने-आपसे कहा फिर प्रेम में उमड़कर

अनिमा के बिस्तर तक चले गए और बेड-लैंप की धुंधली रोशनी में उसे लाड़-भरी आंखों से देखने लगे। कुछ क्षणों बाद उसे चादर ओढ़ाने के लिए जैसे ही वह पायताने की ओर झुके बेतरह चौंककर रह गए। अनिमा के एक पांव की साड़ी घुटने तक सरक गई थी और पूरी-की-पूरी पिंडली साफ दिखाई दे रही थी। जैसे सांप पर पांव पड़ गया हो, इस तरह आंखें हटाकर प्रभाकर जी ने अपना मुंह फेर लिया और चाहा कि बिना उस ओर देखे ही चादर खींचकर उढ़ा दें; पर कई बार की कोशिश के बावजूद वह भी न कर सके और अकारण पसीने से सारा शरीर भीग गया। उन्हें लगा जैसे मुद्दत से भीतर बैठी मौन व मृत-सी किसी चीज ने सहसा बिच्छू की तरह अपने डंक उठा लिए हैं। घबराकर वह अनिमा के सोए हुए चेहरे को देखने लगे मानो दृष्टि को इधर-उधर बहकने से रोकने के लिए वहां बांध देना चाहते हों। पर अजीब बात है कि कम होने के बदले भय और बढ़ गया। वहां अनिमा के बालों में टंके रिबनों को देखकर एकाएक उन्हें बस वाली उस लड़की की याद आ गई। वह कई क्षण उसी तरह देखते रहे। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि अनिमा का चेहरा पत्नी से कितना मिलता-जुलता है—वही आंखें, वही होंठ और वही छोटी-सी ठुड्डी··· जब वह ब्याह होकर आई तो ऐसी ही थी, हुबहू ऐसी !

और उसी क्षण उन्हें लगा कि भीतर किसी ने अपने उठे हुए डंक सहसा खोंप दिए हैं। उस दंशन की तिलमिलाहट से अकबकाकर वह उठ जाना चाहते थे, भाग जाना चाहते थे; पर लगा जैसे उससे भी बड़ी शक्ति के हाथों उनका शरीर निष्क्रिय हो गया है—बिल्कुल जड़ ! △

एक हमाम में सब नंगे

…हां, आवाज़ बिल्कुल पहचानी हुई थी। एक खास तरह से सांकल बजाने का वही आक्रामक अंदाज जो केवल राव का ही हो सकता था।

"कौन साहब ?" हाथ का मनीप्लांट ज्यों-का-त्यों छोड़ उसने वहीं से पुकारा, आदतन। एक पल को हमेशा की तरह उसे अपनी सांस जमती-सी लगी थी। यों बाहर से जवाब की प्रतीक्षा थी, लेकिन उससे ज्यादा अपने को तैयार करने की। इधर राव के नाम से ही उसे घबराहट होती थी। भीतर-ही-भीतर एक अजीब-सी कंपकंपी। यह अहसास बहुत पहले परीक्षा के दिनों में हुआ करता था। अपने से चुस्त-दुरुस्त साथियों के आमने-सामने पड़ जाना तब इससे कम तकलीफदेह नहीं था। वह अक्सर कतराया करता था।

"अरे अब्बास, तुम !" ड्राइंग-रूम में आते ही बेसाख्ता उसके मुंह से निकला। वह सचमुच खुश हुआ था। उसने राहत की सांस ली और बैठ गया, "सुनाओ…"

"अमां सुनाएं क्या ?" अब्बास जैसे पहले से तैयार बैठा था, "हां, नयी खबर यह जरूर है कि यूनिवर्सिटी से जो कमीशन आने वाला था वह आया

भी और लौट भी गया।"

कोई अंतर नहीं हुआ, उसने सोचा। राव नहीं अब्बास सही। लेकिन कितनी अजीब बात है कि जिस कालेज से उसका भाग्य जुड़ा है उसी की चर्चा से उसे वहसत हो! खासकर तब जब कि सब-कुछ अरसे से अनिर्णय में पड़ा हो और हर दिन इसी से शुरू हो कि बात कहां तक पहुंची।

"बड़ी जल्दी निबटा दिया।" उसने अत्यंत फीके और अनमने ढंग से कहा। मानो आगे विषय बदल ही जाएगा।

"अजी निबटाना ही क्या था।" अब्बास पर प्रतिक्रिया उल्टी हुई—"आंसू पोंछने के लिए कमीशन भेजना था, भेज दिया। आकर उसने मैनेजमेंट से पूछताछ की, सेक्रेटरी के साथ दोपहर को लंच लिया और रात की गाड़ी से चला गया। अब कोई यूनिवर्सिटी से पूछे, कि भाई यह कैसी एकतरफा जांच है। जिनमें शिकायत करने वाले से कुछ पूछा ही नहीं जाता और जांच खत्म हो जाती है..."

उस वक्त ही नहीं, उसके बाद भी वह सुनने से ज्यादा अब्बास को देख रहा था। जैसे बरसों की दोस्ती के बावजूद कोई कोना अनपहचाना रह गया हो! यों अब्बास ऊपर से वही था—बेहद साबिर और शांत। हमेशा की तरह धुला-धुला और क्रीज्ड। बदन पर वही कुवैत से इंपोर्टेड कपड़े और सोने की घड़ी। उसका केवल शरीर देशी था और चेहरा आम हिंदुस्तानियों की तरह मैला। लेकिन यह आवाज की तुर्शी? सहसा राव याद आ गया था।

"रुक जाओ, मैं भीतर से पान ले आऊं।"

कहकर दो क्षणों बाद वह अकेला हो चुका था। भीतर। भीतर ही नहीं, मनीप्लांट के पास। हैरत है कि अब्बास के व्यक्तित्व से अब राव की बू आए और वह भी यक-ब-यक। उसका यह कोण तो तब भी नजर नहीं आया था जब कालेज में अचानक धमाका हुआ और बड़े-बड़े सूरमा ढेर हो गए थे।

आम तौर पर ऐसा होता नहीं है, लेकिन उस दिन हुआ था। शायद यह संयोग ही था कि चपरासी नोटिस लेकर आया, वे सब लोग एक ही जगह जमा थे। स्टाफ में काफी सीनियर सरदार गरचा और उसके अलावा बाकी सब नये थे। माहौल स्टाफ-रूम का रोज जैसा ही था। वही एक-दूसरे पर फब्तियां, टांग-खींचू बातें और किसी-न-किसी गैर-हाजिर साथी की सामूहिक छीछालेदर। फिर लतीफागोई होने लगी थी और वे लोग बड़ी देर से हंस रहे थे। वह सिलसिला शायद देर तक चलता, लेकिन तभी चपरासी ने नोटिस थमा दिया था। गरचा के अलावा और सबको। केवल पल-भर लगा था और हंसी कमरे से अचानक यूं गायब हो गई थी जैसे किसी ने फूले हुए गुब्बारे में आलपीन चुभो दी हो, जैसे सामने किसी साथी ने हंसते-हंसते अचानक दम

तोड़ दिया हो और देखते-देखते उसकी लाश सबकी बांहों में झूल आई हो। बिल्कुल साफ और दो-टूक भाषा थी नोटिस की। न कोई भूमिका और न कोई तकल्लुफात। स्टाफ के पंद्रह लोग नौकरी से सीधे-सीधे बरतरफ कर दिए गए थे।

"अंधेर है!" बड़ी देर बाद जब हड़बोंग मचकर खत्म हो गया तो वाडिया ने कहा था, "प्रायवेट सही, हम इसे अब तक कालेज समझते थे। आज मालूम हुआ कि यह तो बनिए की दूकान है।"

"दूकान यह कब नहीं थी।" गरचा की आवाज में वाडिया से ज्यादा क्रोध था।"

"शायद पहले नहीं थी," वाडिया बोला था, "यह अपने ही साथियों की मेहरबानी है जो···"

"थी, हमेशा से थी। सिर्फ हमें-तुम्हें पता नहीं था।"

"कुछ भी सही यार, लेकिन सोचो तो, यह मैनेजमेंट कैसे कर सकता है। जो स्टाफ बरसों से चला आ रहा हो उसमें कुछ लोग अचानक कैसे सरप्लस हो सकते हैं।'

कुछ दिनों से अफवाह जरूर थी कि कुछ लोग कम किए जाएंगे, लेकिन उस खबर को किसी ने गंभीरतापूर्वक नहीं लिया था। शायद हर आदमी ने सोचा था कि ऐसी ज्यादती उस पर कम-से-कम नहीं हो सकती। हर एक के अपने संबंध थे और अपना जोर। फिर जब एजुकेशन का नया सेट-अप मंजूर किया गया था, शासन ने साफ आश्वासन दिया था कि किसी को नुकसान नहीं होगा।

"मुझे तो पहले ही पता था," गरचा ने कहा था, "और वैसे भी इसमें ताज्जुब की क्या बात है। जब मिनिस्ट्री बदलती है और नया मिनिस्टर आता है तो ऐसे ही शोशे छोड़े जाते हैं। सवाल एजुकेशन का नहीं, अपनी-अपनी दूकानदारी का है। राज्य-भर के सारे हाईस्कूल रातों-रात जूनियर कॉलेज में बदल जाएं और डिग्री कॉलेजों की गाहकी कम हो जाए तो दूकानदार नौकरी की छंटनी नहीं करेगा?"

"मादरचोद, कुत्ते···!"

सबकी खामोशी के बीच राव दांत पीसकर चिल्लाया था और गुस्से से कुरसी पटकता हुआ बाहर निकल गया था। उस दिन भी अब्बास का चेहरा मैला था—शांत या दूसरे शब्दों में भावविहीन। मानो कहीं कुछ घटा ही न हो और अगर कुछ घटा भी हो तो जैसे वह उसकी जद में न आता हो। सारा वक्त अब्बास नोटिस पर नजर गड़ाए खामोश बैठा था—घड़ी की चेन को यूं फिराते हुए जैसे वह चूड़ी हो। और वह? क्या उसने कोई अलग तरह से

रिएक्ट किया था ? खामोश बैठा नोटिस को वह भी घूर रहा था। उस पढ़ी हुई इबारत को यूं बार-बार पढ़ रहा था मानो सबकी नजर बचाकर वह पंक्तियों के बीच की अनखिली इबारत भांपने की कोशिश कर रहा हो। किसी अन्याय के विरुद्ध उपजे क्रोध को दबाना उसे भी आता था, लेकिन अब्बास के आगे वह पराजित था। अक्सर उसे लगता था कि अब्बास के धीरज के आगे उसका सब्र बिलकुल बौना और अर्थहीन है···

"राव मिला था ?" पान लेकर लौटते ही उसने पूछा।

"हां, सुबह मीटिंग में मिला था। क्यों ?"

"कुछ नहीं, वैसे ही पूछा।"

"तुम मीटिंग में क्यों नहीं आए ?"

"यार, देख तो रहे हो, मेरी तबीयत खराब चल रही है···वैसे मैंने खबर भिजवा दी थी जो भी फैसला हो, मैं हमेशा साथ हूं। क्या तय हुआ ?"

"कुछ नहीं। बिना किसी नतीजे पर पहुंचे ही मीटिंग बरखास्त हो गई। सारा वक्त तू-तू मैं-मैं होती रही और गनीमत है कि हाथापाई नहीं हुई।"

"असल में हर आदमी दूसरे पर शक करता है और कोई किसी से सहमत नहीं होता। दो-एक को छोड़कर लोग जैसे शरमा-शरमी मिलते हैं। पता नहीं अब डर किस बात का है। मैनेजमेंट ज्यादा से ज्यादा नौकरी ही तो ले सकता था सो उसने ले ही ली। अब क्या फांसी पर लटका देगा ? तुम तो उस दिन भी नहीं थे जब कुछ लोगों का डेपुटेशन शिक्षा-मंत्री के पास गया था। उस दिन भी ऐसा तमाशा हुआ था कि सोचते ही शर्म आती है। हम लोग बंगले पर अपने बुलाए जाने का इंतजार कर रहे थे कि इतने में अपने सेक्रेटरी साहब की कार आकर रुकी। उन्होंने हम लोगों को एक बार घूरकर देखा था और सीधे मिनिस्टर के कमरे में घुस गए थे। क्या तुम्हें इस बात में यकीन आएगा कि सेक्रेटरी को देखते ही बहुतों की रूह फना हो गई थी ? दो मिनट बाद वाडिया वहां से खिसक चुका था और उसकी देखा-देखी एक-दो लोग और···अब अगर राव गालियां देता है और कहता है कि मास्टरों की कौम ही साली नामर्द होती है तो क्या गलत है। भाई साहब, आपको बुरा क्यों लगता है···"

"कल राव यहां भी आया था।" उसने धीरे से जोड़ दिया।

"अच्छा !"

"कह रहा था कि नये सेट-अप का तो बहाना है। दरअसल सेक्रेटरी की चाल दूसरी है। कहने लगा, मैं तो अदालत में रिट दायर कर रहा हूं और यूनिवर्सिटी को भी पार्टी बनाऊंगा। असल में राव की दिक्कत यह है कि वह अपनी तरह की लड़ाई सबको लड़वाना चाहता है। मुझसे भी यही तवक्को रखना है कि···अब्बास, तुम्हीं बताओ, मेरी स्थिति तुम लोगों से अलग है या

नहीं ? मैं पार्ट-टाइमर या छह महीने की सर्विसवाला तो हूं नहीं। अपने सात-आठ साल मैंने इस कॉलेज को दिए हैं और उस वक्त उखड़ गया हूं जबकि···"

आगे उसने अपने को एकदम रोक लिया। देखा था कि अब्बास वहां होते हुए भी जैसे नहीं था। वह कमरे के बाहर दूर कहीं देख रहा था। जाहिर था कि उसकी बात या तो सुन नहीं रहा था या अगर सुन भी रहा हो तो निहायत बेध्यानी के साथ। फिर इसके अलावा उसने बीच में एक बार घड़ी भी देखी थी। बैठने की उसकी मुद्रा भी बदल चुकी थी और साफ लग रहा था कि वह पर तोल रहा है।

"तुम्हें जल्दी तो नहीं है ?" उसने बुझे हुए स्वर में पूछा।

"ऊंअ···बहुत ज्यादा तो नहीं, लेकिन हां जाना है। डाक का वक्त हो गया है। देखूं क्या आया है।"

यह मर्ज काफी पुराना हो चुका है। बरस-दो बरस पुराना। एक अरसे से अब्बास को जिस ख़त का इंतजार है वह आज तक नहीं आया, लेकिन इंतजार की शिद्दत में रत्ती-भर कमी नहीं आई बल्कि नोटिस मिलने के बाद इधर और बढ़ गई है। शहर राजधानी है। दिन में दो दफा डाक बंटती है और जिस समय डाकिए के आने का वक्त होता है एक अजीब और तकलीफदेह बेचैनी उसे जकड़ लेती है। चाहे वह जहां हो, घर पहुंचने की बेचैनी और जल्दी। मानो किसी भी डिलीवरी से वह ख़त आ सकता है, किसी भी···"

"कोई खास बात तो नहीं थी ?" अब्बास को बाहर छोड़ते हुए उसने पूछा।

"नहीं, खास क्या। बस यों ही चला आया था।··· लेकिन नहीं, सोचता हूं कि कह दूं दोस्त, तुमने मीटिंग में न आकर अच्छा नहीं किया। कुछ हो या न हो, बेहद बुरा लगता है जब लोग अंट-शंट बातें करते हैं···"

ड्राइंग-रूम बंद कर भीतर आते हुए उसे लगा कि तबीयत फिर अचानक गिर गई है। दिन उसी तरह डूबने लगा था। सांस पहले की तरह जम रही थी। भीतर कहीं बहुत तेज-तेज धड़कन हो रही थी। इतनी तेज कि अंदर की 'पट-पट' करती एक-एक आवाज वह गिन सकता था। फिर वह कंपकंपी और दमघोटू घबराहट का दौरा—जिसके जद में आते ही वह बेहद असहाय, बेहद कमजोर और अकेला महसूस करता था।

"हैं, हैं···यह क्या कर डाला ?"

कहती हुई आपा तेजी से आई थीं, लगभग झपटती हुई। फिर पौधे के पास यक-ब-यक ठिठककर घूरती रह गई थीं—आहत, रंग-उड़ी और खामोश।

वह बहुत छोटा था और उसकी समझ में सब-कुछ नहीं आया था।

"क्यों, क्या हो गया ?" वह इतना घबरा गया था कि बड़ी मुश्किल से बोल फूटे थे। मानो किसी की जान लेते हुए पकड़ा गया हो।

"यह पौधा किसने नोच फेंका ?" वह आहत स्वर में पूछ रही थीं।

"नोचा नहीं, उखाड़कर एक तरफ कर दिया है।"

"क्यों, वह तेरा क्या लेता था ?"

"मैं अपना घर बना रहा था। यह बीच में आता था, मैंने अलग कर दिया।"

"तेरा घर कहीं और नहीं बन सकता था ?"

"यह कहीं और नहीं लग सकता ?"

"अपनी मिट्टी से उखड़कर ?" आपा रुंआसी होकर पौधे के पास बैठ गई, "फिर यह जाने कब से पड़ा कुम्हला रहा है। हाय, अब यह क्या जिएगा···"

छोटा-सा घर था, कच्चा-कच्चा आंगन था, ज़रा-सा। बगिया की बात तो दूर वह रिहाइश के लिए ही नाकाफी था। फिर भी आपा ने वहां बड़ी उमंगों से पौधे लगाए थे। गेंदे से लेकर मनीप्लांट तक और दीवार-किनारों की खाली पट्टी से लेकर मिट्टी के फूटे कुंडों तक बागबानी हुई थी। खूब जतन से उनकी पत्ती-पत्ती की वह देखभाल करती थीं बिना किसी की यह सुने कि वह तो पराया घर था और वहां से किसी भी दिन चले जाना था। फिर हुआ भी वही था। दूसरे या तीसरे दिन जब वह घर छूटा था तो उनके साथ सिवाय मनीप्लांट के कुछ भी नहीं गया था। आपा सारा वक्त उस पौधे का ही मातम करती रही थीं। कहती रहीं, वह कोई मनीप्लांट तो है नहीं कि कहीं भी लग जाए, किसी भी तरह···

बेशरम का झाड़ कैसा होता है ? मनीप्लांट की एक नयी कोंपल को अगली डोरी पर चढ़ाते हुए उसने सोचा। उंह, होगा।

वह एकदम खाली हो गया था। फालतू आदमी की तरह। बेकारी में बागबानी और भली लगती है लेकिन उसे भी कितनी देर तक किया जा सकता है ? कुछ देर वह यूं बैठा रहा जैसे किसी जरूरी काम से फारिग हुआ हो। फिर वह टहलने लगा। भाई साहब कहीं शाम तक लौटेंगे। पत्नी के आने में भी घंटे-भर की देर है। भाभी किचन में जुटी हैं। चलो, बाहर ड्राइंग-रूम में ही बैठें। कंबख्त बंद है। कौन खोले। फिर वहां बैठकर भी कोफ्त होती थी। बाहर का सब-कुछ नजर आता था। बच्चे स्कूल-कालेजों को जा रहे होते हैं। लोग अपने-अपने दफ्तरों को। गली में ठेले और खोंचे वाले गुजरते हैं। स्कूटर और मोटर-साइकिलें चीखती हुई निकल जाती हैं। हर किसी को कहीं-न-

कहीं पहुंचने की जल्दी है। सिर्फ उसे ही कोई जल्दी नहीं और कहीं नहीं जाना है।

जब सुबह होती है घर के अंदर भी हर रोज यही होता है। पत्नी जल्दी बिस्तर छोड़ती है—सुबह वक्त पर स्कूल पहुंचना होता है। इस वक्त भाई साहब कोई बात नहीं करते—दफ्तर पहुंचने की हड़बड़ी होती है। भाभी किचन में नाश्ता सरका देती हैं—उनके सामने दिन-भर का काम पड़ा होता है। उस वक्त उसे अपना आप टीन के उस पुराने और जंग खाए डिब्बे की तरह फालतू लगता है जो कभी आंगन के इस कोने पड़ा रहता है, कभी उस कोने।

"रेशमी कप्प···!" सहसा निचाट सूनी दोपहरी को चीरती हुई किसी फेरी वाले की आवाज भीतर लांघ आई, "कपड़ा··· रेशमी ईईईई···"

आवाज यह बरसों पुरानी और परिचित है। गली में रोज इसी वक्त गुजरने वाली। लेकिन आज वह कुछ अजीब-सी कैफियत पैदा कर गई थी। जैसे उस आवाज के डैने चढ़कर मुट्ठी-भर सूनापन आया हो और उतरकर अंदर कहीं अटका रह गया हो—कांटे में फंसे चिथड़े की तरह।

"भाई साहब कुछ कह रहे थे ?" कहते हुए एकाएक वह भाभी के पास पहुंच गया था।

"कब ?"

"कभी भी। रात या सुबह। रात मैं बड़ी देर तक उन्हें देखता रहा लेकिन वे शायद देर से आए।"

"कुछ कह तो रहे थे रात को। मैं आधी नींद में थी। शायद यह कि किसी बड़े अफसर से सेक्रेटरी को कहलाया है।"

"और कुछ ?"

भाभी ने सिर हिला दिया। फिर कुछ याद कर बोलीं, "हां, कह रहे थे कि कुछ बाहर भी टहला-फिरा करे। कुछ तो हाथ-पांव हिलाना चाहिए। घर पड़े-पड़े तो तबीयत और खराब होती है।"

क्या सचमुच भाई साहब ने यह कहा होगा ? अपने में लौटते हुए उसे लगा जैसे अंदर के ठहरे हुए जल में कंकड़ पड़ गया है। मुसलसिल दायरे और दायरे पैदा करने के लिए। क्या वह किसी को विश्वास नहीं दिला सकता कि वह सचमुच बीमार है ? और हाथ-पांव किस तरह हिलाया जाता है ? क्या वह व्यर्थ ही भाग-दौड़ करता फिरे, लेकिन कहां और किस तरह ? और उससे होगा भी क्या ? दो ही रास्ते हो सकते हैं। संसार की सारी क्रूरता को झेलते हुए या तो कुटिलतापूर्वक लड़ना आए या फिर दया का पात्र होना। पहले के लिए वह अपने को अशक्त पाता था और दूसरे की कल्पना भी तकलीफदेह थी। बीच का रास्ता क्या है—भाग्य ? इस शब्द से उसे डर लगता था। क्या

वह इस पर विश्वास या अविश्वास करता था ? पता नहीं।

फिर अब्बास या उसकी मिसाल क्या है ? क्या वह निरंतर इसी शब्द से नहीं लड़ रहा है ? लेकिन अगर बरसों पहले उसका भाई कुवैत पहुंचकर न जम गया होता और वहां से पैसे, जरूरत की दूसरी चीजें और कपड़े-लत्ते तक न आ रहे होते तो वह लड़ाई कितने दिन चली होती ? क्या वह इस सड़े-से कालेज में साल-साल-भर उम्मीदवारी कर सकता था—बिना पैसों की उम्मीदवारी। फिर आखिर रो-धोकर मिली सौ रुपए की पार्ट-टाइमरी ही में क्या दम था। क्या वह अब्बास, बूढ़ी मां और दो जवान बहनों के परिवार को यहां रोकने के लिए काफी था ? लेकिन अब्बास यहां सचमुच क्योंकर रुका हुआ था ? लड़ाई के नतीजे के लिए या उस डाकिए के लिए जो किसी दिन किसी भी डाक से एक खत लाकर देगा और बरसों से उस खत का मुंतजिर सारा परिवार पाएगा कि…

"आज राव तो इधर नहीं आया था ?" शाम को लौटते ही भाई साहब ने सबसे पहला सवाल यही किया।

"नहीं तो। क्यों ?"

"वह यहां न आए यही बेहतर है। जानते तो हो, सेक्रेटरी के पास आजकल छोटी-से-छोटी खबर तक पहुंच रही है। तुम्हारा गरचा इस सारे मामले में जिस तरह पेश-पेश है तुम क्या समझते हो कि सेक्रेटरी से छिपा हुआ है ? उन्हें तो यह भी पता है कि राव को वकील के पास कौन ले गया था। और भई, बस राव ने भी खूब तमाशा मचा रखा है। पहले तो सिर्फ गालियां बका करता था, अब खुले आम नंगई पर उतर आया है। तुमने आज का अखबार नहीं देखा ? कैसे जलील बयान जारी किए हैं। चलो, मान लिया कि सेक्रेटरी चोर है, कालेज के नाम से उसने अपनी दूकानदारी चला रखी है और लाखों रुपयों का अता-पता नहीं, लेकिन आप क्या कर लेंगे ? मिनिस्टर के पास जाएंगे ? जाइए, आपकी सुनेगा या सेक्रेटरी की, जिसकी मदद से उसे अगला चुनाव जीतना है।"

"अब्बास आया था," उसने धीरे से कहा, "कहने लगा, मीटिंग में आना चाहिए था।"

"कौन-सी मीटिंग ?"

"वही जो आज सुबह हुई। यह तय करने को कि अगला कौन-सा कदम उठाना चाहिए। यूनिवर्सिटी ने जो स्टे-आर्डर भेजा था वह भी बेअसर रहा है न, लिहाजा…"

"क्या तय हुआ ?"

"पता नहीं," हिचकते हुए वह शब्द टटोलने लगा, "शायद वो···"

"सब ढकोसला है," भाई साहब ने चिल्लाकर कहा, "दिखावा करते हैं साले ! है कोई माई का लाल जो यह कह सके कि भीतर ही भीतर वह अलग से कोशिश नहीं कर रहा ? नाइंसाफी कहां नहीं होती और कौन नहीं करता। क्या हम या तुम यह कह सकते हैं कि आज तक हमने कोई नाइंसाफी नहीं की। तुम्हारे इन मीटिंग वाले दोस्तों में से दो की सिफारिश तो मिनिस्टर ने मेरे सामने की है। अरे मियां, यहां एक हमाम में सब नंगे बैठे हैं। कौन किसे उंगली उठाएगा।

"बहरहाल, क्या हुआ अब्बास का ?" कुछ देर बाद शांत होकर उन्होंने पूछा।

"उसके अकेले का क्या होगा। जो भी होना है···"

"वो नहीं, उसके कुवैत जाने का।"

"जब तक एन० ओ० सी० न आ जाए क्या हो सकता है। उसके भाई वहां कोशिश तो कर रहे हैं।"

"अब्बास लड़का अच्छा है, लेकिन है बदकिस्मत।"

भाई साहब का संकेत अब्बास की पिछली असफलताओं की ओर था। बात एक हद तक सच थी। एक लंबे अरसे तक पब्लिक सर्विस कमीशन से उसके सब्जेक्ट की कोई पोस्ट ही नहीं निकली थी। फिर जब निकली भी तो बावजूद फर्स्ट क्लास, तजुर्बे और सिफारिशों के वह एक लड़की से हार गया था। दूसरी दफा की कोशिश और भागदौड़ भी बेकार साबित हुई थी क्योंकि चेयरमैन ने अपना डिस्क्रीशन इस्तेमाल किया था।

"भाई साहब," एक क्षण रुककर वह अपने लिए शब्द टटोलने लगा, "वो आपकी सेक्रेटरी से मुलाकात हुई क्या ?"

भाई साहब ने विश्वासपूर्वक सिर हिलाया, बोले, "बात भी हो गई है। कह रहे थे, किसी से कहलाने की जरूरत ही क्या थी। वह मेरे यहां का सबसे सीनियर आदमी है और मुझे खुद उसका ख्याल है, जरा यह हंगामा थम जाने दो, मैं कुछ न कुछ कर दूंगा।"

"कैसा हंगामा ?"

"यही राव और तुम्हारे साथियों का। बदकिस्मती से यह वक्त ही गलत पड़ गया है। इस मिनिस्ट्री का ही कुछ नहीं। अजीब आपाधापी मची है। कोई नहीं कह सकता कि यह कितने दिन चलेगी।"

फिर सहसा उठते हुए वे बोले, "भई, तुम लोग कुछ भी कहो। सेक्रेटरी मुझे आदमी शरीफ लगा। थोड़ा जिद्दी जरूर है, लेकिन जिद वह नहीं करेगा

तो क्या हम-आप करेंगे ? मियां, आप किसी का टेंटुआ दबाकर नौकरी हर-गिज नहीं ले सकते।"

गली में स्कूटर की आवाज आकर रुकी। ठीक घर के सामने। गरचा के स्कूटर की आवाज वह अलग से पहचान सकता था। विस्तर छोड़कर वह पहले ही ड्राइंग-रूम में आ बैठा। रविवार का दिन, भाई साहब सुबह से अख़-बार पढ़ते वहां बैठे थे।

"कैसी तबीयत है ?" औपचारिकता के बाद गरचा ने सबसे पहला सवाल यही किया।

"अब तो ये काफी ठीक हैं," प्रश्न को भाई साहब ने ही झेल लिया था, "पिछले तीन-चार रोज बहुत परेशान रहे।"

"किसी कायदे के डॉक्टर को क्यों नहीं दिखा लेते ?"

उस मशविरे पर दोनों खामोश रहे। चुप्पी यक-ब-यक पड़ गई थी, उसे आखिर गरचा ने ही तोड़ा। विनोदपूर्ण स्वर में उसने हंसकर कहा, "कुछ अंडे-शंडे खाओ जी। थोड़ी ब्रांडी-शांडी···ऐसी सेहत से लड़ाई नहीं होती।"

"लड़ाई यहां कौन लड़ रहा है गरचा साहब !" भाई साहब ने बेपरवाही से कहा।

"यही तो रोना है जी। वे भी हथियार डाल बैठे जिन्होंने पहले जोर-जोर से ताल ठोंकी थी।"

"क्यों ?" भाई साहब हंसने लगे।

"बस थोड़ी-सी उछल-कूद हुई और अब सब-के-सब यूं बैठ गए जैसे कहीं कुछ न हुआ हो। मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त। फजीहत मुझ जैसे आदमी की ही हुई। अजीब बात है कि मैं जिन लोगों की हिमायत कर रहा था, जिन लोगों को लेकर मैं वकीलों के पास मारा-मारा फिरा था उन्हीं लोगों ने सेक्रेटरी को खबर दी है कि मैं लीडरी कर रहा हूं या उन्हें भड़का रहा हूं। सुना है सेक्रेटरी मुझ पर बेहद नाराज है। हुआ करे, यहां तो पहले ही तैयार बैठे हैं।"

"आप लोग तो कोई रेजोलूशन पास करने वाले थे न ?"

"हो चुका पास," गरचा हंसने लगा, "वह भी एक ही दिलचस्प किस्सा है। कई दिनों तक स्टाफ-रूम में ड्राफ्टिंग होती रही। इबारत पर इबारत बदली गई, लेकिन आखिर में टांय-टांय फिस्स। हर आदमी दस्तखत करने से कन्नी काट गया। किसी ने सवाल उठाया जो लोग निकाले गए हैं वे ही खामोश हैं तो हम क्या करें।···जरा-सी मॉरल-सपोर्ट की बात थी लेकिन उसी में लोगों की जान निकल गई। कोई नहीं सोचता कि आज वे निकाले गए कल हमारी बारी आ सकती है। उस हड़ताल में सेक्रेटरी तो समझ ही चुका है कि हम लोगों में कितना दम है···"

पिछले दिनों एक और तमाशा हुआ था। ऐन इम्तहान के चार दिन पहले स्टाफ ने हड़ताल कर दी थी। मांग थी कि स्टाफ को सरकारी कालेजों के बराबर महंगाई भत्ता मंजूर किया जाए, वरना वे इम्तहान का बायकाट कर देंगे। शुरुआत बहुत अच्छी थी, लेकिन बड़े-बड़े और जोशीले भाषणों से शुरू हुई स्ट्राइक चार दिनों से आगे नहीं बढ़ पाई थी। पता नहीं, लोग एक-एक करके कैसे फूट गए थे। जिन साहब ने सबसे जोशीला भाषण देकर हड़ताल की रहनुमाई की थी वे सचमुच एक ही थे। जब सेक्रेटरी ने उन्हें अलग से बुलाकर डांटा था तो वे साफ मुकर गए थे। कहा था, मुझे किसी से क्या लेना-देना है। वो तो मेरी एक चाल थी। मैं लोगों को अपनी तरफ खींचकर फिर आपकी ओर धकेलने वाला था।

सहसा भाई साहब हंसकर उठ खड़े हुए। जब वह चाय भेजने की कहकर भीतर चले गए तो पल-भर को उसे अजीब-सा लगा। जैसे गरचा उसका नहीं, भाई साहब का परिचित हो या जैसे खून के मुकदमे में वह बिना वकील के खड़ा रह गया हो। खामोशी बहुत थोड़ी देर की थी, लेकिन लगा था जैसे वह दोनों के बीच अधमरी तितली की तरह पड़ी हो—चित-पट, चित-पट···

"गरचा साहब, आप कह सकते हैं कि आखिर क्या होगा ?"

"हां,"' मुस्कराहट भरा जवाब मिला, "होगा यह कि कुछ भी नहीं होगा। सेक्रेटरी कुछ लोगों के आगे एक-एक बोटी फेंक देगा और बस रही-सही जबानें भी बंद हो जाएंगी।···खैर, छोड़ो इस पचड़े को।"

कहकर गरचा ने अपने स्कूटर की चाबी संभाली और स्वर बदलकर बोला, "एक बात तो बताओ। क्या यह सच है कि मुगलपुरे में अब्बास का मकान बिक रहा है ?"

वह हैरत से ताकता रह गया।

"मैंने सोचा वह तुम्हारा दोस्त है, शायद मालूम हो। असल में, आज सुबह मेरे यहां कुछ लोग आए थे। कहने लगे वह मकान हमें दिखवा दो···"

उसी समय भीतर किसी ने कसकर ठोकर मारी। वह आंगन में बड़ा टीन का जंग-खाया डिब्बा था !

कई दिन हो गए शहर में अजीब हंगामा है। कई तरह की सरगर्मी और अफवाहें चारों ओर फैली हैं। सुबह से लेकर रात तक माथे पर लाल रोशनी वाली कारें भागती रहती हैं। लगता है राजधानी सांस रोके लटकी हुई है। कुछ-न-कुछ घटने को है। लेकिन कब ?

हंगामे से बचने के लिए उसने वह रास्ता पकड़ा जो छोटा होकर कालेज को जाता था। जेबें टटोलीं, आर्डर पड़ा था। पिछली शाम भाई साहब लौटे तो उनके हाथ में यही पुर्जा था। वे खुश थे।

"जी छोटा मत करना," उन्होंने कहा था, "यह सिर्फ थोड़े से वक्त की बात है। सेक्रेटरी ने वादा किया है कि जैसे हालात नार्मल हुए वे तुम्हें होल-टाइमर कर देंगे। देखो न, मुझे तो यह गनीमत लगता है कि औरों की तरह तुम्हें जूनियर कालेज में नहीं फेंक दिया···"

वह वहीं पहुंच गया था जहां सात साल पहले शुरुआत हुई थी। उस आर्डर को संभालते हुए उसे न तो गम हुई थी और न खुशी। शायद क्रोध भी नहीं आया था। सहसा गरचा की बात याद आ गई थी और लगा था कि सेक्रेटरी ने जो चंद बोटियां फेंकी हैं कहीं···। राव इनमें नहीं था और अब्बास इन सबसे दूर निकल चुका था। अच्छा, पुश्तों से रहे आए मुल्क से हमेशा के लिए उखड़ते हुए कैसा लगता होगा? उसने सोचा, अब्बास ने कुछ नहीं कहा था, आखिर तक कुछ नहीं। बड़ी देर तक वे दोनों खामोश बैठे थे। फिर चलने के पहले जब अब्बास ने उसकी ओर देखा तो वहां आंख-भर आंसू थे···

वह गली मुगलपुरा से गुजर रहा था। फिर उस घर के सामने जहां कल तक अब्बास रहता था। मकान वही था, लेकिन उसमें रहने वाले दूसरे आ गए थे। सहसा वह चौंककर रुक गया। सामने की भी धूल-भरी जमीन पर कई पौधे उखड़े हुए पड़े थे। ये वही पौधे थे जिन्हें उसने कभी अब्बास के सहन में देखा था। भरे-पूरे सहन में।

बरसों पहले एक बार वह और पकड़ा गया था। उस दिन भी वह इसी तरह घबरा गया था। उस दिन ऐसे ही एक पौधे के पास आपा रुंआसी होकर बैठ गई थीं। वह बहुत छोटा था और उसकी समझ में कुछ नहीं आया था। तब अपना अपराध-भार कम करने के लिए उसने आपा का साथ दिया था, गरमा-गरमी। अपनी मिट्टी से उखड़ा वह पौधा किसी और जगह लगा दिया गया था। 'हाय, यह क्या जिएगा।' आपा बार-बार और आखिर तक यही कहती रहीं। सचमुच क्या हुआ, यह देखने को कोई उस मकान में नहीं रह पाया था, हालांकि जिज्ञासा तब भी होती थी और आज भी होती है। क्या आपा ने ठीक कहा था?

पता नहीं△

एक नाव के यात्री

कीर्ति मारे उत्सुकता के फिर खड़ी हो गई। यह पांचवीं मरतवा था, लेकिन इस वार लगा कि सीटी की आवाज सचमुच दूर से काफी नजदीक होती आ रही है और गाड़ी प्लेटफार्म में प्रवेश करे, इसमें अधिक देर नहीं···

घवराहट से चेहरे का पसीना पोंछने के लिए उसने रूमाल टटोला। नहीं था। वेंच पर छूटने की भी कोई संभावना नहीं थी। जल्दी-जल्दी यही होता है, उसने सोचा। वह साड़ी से ही मुंह पोंछना चाहती थी, लेकिन तभी यक-व-यक सारे प्लेटफार्म में मुसाफिरों तथा सामान लदे कुलियों की भगदड़ मच गई—

"हलो!" सहसा उसी समय अपने कंधे पर पड़े स्पर्श से कीर्ति चौंकी। चौंकी ही नहीं, धक्-सी रह गई। क्षण के छोटे से खंड में लगा था कि कहीं रञ्जन ही न हो, पर थीं वे मिसेज मित्तल। रॉ-सिल्क की आसमानी साड़ी में अच्छी तरह कसी-कसाई और चुस्त। किसी विदेशी सेंट की वहुत भीनी खुशवू एक क्षण के लिए हवा में ठहर गई थी।

"अरे!" कीर्ति ने जल्दी से हाथ जोड़े, "कहां जा रही हैं?"

"भोपाल," मिसेज मित्तल ने इतने सहज भाव से कहा जैसे उनका भोपाल

जाना रोज-रोज की बात हो, "और तुम !" उनकी आंखें बार-बार कंपार्टमेंट की ओर बढ़ते अपने कुली की ओर लगी हुई थीं।

"रज्जन आ रहा है!" मिसेज मित्तल के नये रूप वाले प्रभाव से मुक्त होने के लिए कीर्ति एक सांस में कह गई। वैसे पिछले कई घंटे से यह वाक्य उसे भीतर-भीतर तंग जरूर कर रहा था, लेकिन इस पल मिसेज मित्तल के अतिरिक्त वह और कोई बात नहीं सोच रही थी। बरसों बाद उन्हें इतना सिंगार-पटार किए कीर्ति देखे और खुद उनकी जवानी भोपाल जाने की बात सुने तो फिर अविश्वास की कहां गुंजाइश रह जाती है !

"अच्छा !" रज्जन की बात सुनकर एक पांव से जमी और दूसरे से उखड़ती हुई मिसेज मित्तल ने अपनी आंखों को और फैला लिया, पूछ रही थीं, "इसी गाड़ी से ?"

"हां।"

"लेकिन रज्जन को लैंड किए तो कई दिन हो गए न, जाने कौन कह रहा था कि···"

"उसे दिल्ली रुकना पड़ गया।" आगे कुछ अप्रिय न सुनना पड़े, सोचकर कीर्ति ने जल्दी से कह दिया। फिर उन्हें देखती हुई जबरन मुस्कराई। गाड़ी तब बेतरह चिंघाड़ती और धड़धड़ाती हुई प्लेटफार्म में प्रवेश कर रही थी।

"अच्छा ! लौटकर मिलेंगे···" कहकर मिसेज मित्तल कब बढ़ गईं, यह कीर्ति ने गाड़ी की हड़बड़ी में नहीं देखा। उसकी घबराहट अब पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गई थी—पसीना, गले का सूखना और हलक में चुभने वाले कांटे। उसे अपनी स्थिति उस दिन जैसी लग रही थी जब अंतिम परीक्षा का परिणाम आने वाला था और उसे अखबार की प्रतीक्षा थी। उत्सुकता की मारी वह उस दिन भी स्टेशन आ गई थी।

वह आगे चली जाए ? क्या भीड़ या धकापेल की परवाह किए बिना निकल जाए ? एक बार कीर्ति ने सोचा, लेकिन एक सिरे से दूसरे सिरे तक उमड़ते लोगों के सैलाब को देखकर हिम्मत छूट गई। वहां भी एक जगह खड़े रहने के बावजूद वह नाहक कई धक्के खा चुकी थी।

और रज्जन को वह पहचान भी सकेगी ? पिछले कई दिनों की तरह आज फिर आशंका उठी—अथवा क्या उसे दूर से ही देखकर रज्जन पहचान लेगा ? सात साल का अरसा कम नहीं होता—इतने में कल तक की बच्ची जवान हो जाती है, जवान के पांव ढलवान तक पहुंच जाते हैं और बूढ़े···

वह कई दिनों के चुने हुए उस स्थान पर खड़ी थी जहां से ट्रेन के लोग और बाहर जाने का रास्ता, दोनों ठीक-ठीक दिखाई दे सकें।

भीड़ रोज जैसी थी, गए साल जैसी या शायद गुजरे हुए उन सातों बरस

जैसी। कोई भी मौसम हो, चाहे जैसा दिन या घड़ी, यात्राओं का क्रम कभी नहीं टूटता। जब भी स्टेशन आओ, भीड़ का एक ही रूप दिखाई देता है—अपने-अपने सामान, मित्र या परिवार से लदे-फंदे लोग, जो जाने कब से चढ़ या उतर रहे हैं। प्लेटफॉर्म में प्रतीक्षा करते वही आत्मीय और प्रियजन, जिनमें से कुछ तो खिल उठते हैं और अनेक···

"रज्ज ऽऽऽ न !" फर्स्ट क्लास के एक कंपार्टमेंट से किसी स्वस्थ-से युवक को उतरते देख कीर्ति के मुंह से न केवल यह आवाज निकली, बल्कि वह झपटती हुई उधर भी बढ़ गई थी, पर झेंपकर दूसरी ओर देखना पड़ा।···और भला कुली के पीछे-पीछे कौन जा रहा है ? वह ग्रे-कलर के सूट वाला···ठेले के पास खड़ी स्कर्टवाली लड़की के पीछे···व्वो···व्वो ? और फिर हर गुजरने वाले चेहरे को जल्दी-जल्दी झांकती आंखों से पकड़ने की कोशिश और पीछा···

क्या आज फिर अकेले लौटना होगा ! अंत में गेट के पास खड़े आखिरी समूह को देखते हुए कीर्ति ने सोचा, फिर पापा की उन्हीं आंखों का सामना, जिनसे कीर्ति को दहशत होती है···फिर मां का वही बिसूरना जिसे सुनकर उसकी आंखें गीली होती हैं, फिर वही तनाव···

"क्यों ?"

थोड़ी देर बाद जब गाड़ी रेंगने लगी तो बावजूद भीड़-भाड़ के जाने कैसे मिसेज मित्तल ने उसे देख लिया था। खिड़की के बाहर सिर निकालकर वह हाथ के इशारे से पूछ रही थी, "क्यों ?" अर्थात्—रज्जन नहीं आया ?

कीर्ति कई पल निरुत्तर-सी खड़ी मिसेज मित्तल को देखती रही। फिर जब कुछ नहीं सूझा तो हिलते सैंकड़ों रूमालों के बीच एक हाथ अपना भी उठाकर वह यों हिलाने लगी जैसे मित्तल को ही छोड़ने स्टेशन आई हो···गुड लक—गुड लक···

और कीर्ति ही नहीं, पिछले कई दिनों से सारा घर इसी तनाव में लटका हुआ जी रहा है। तेरह दिन पहले मंगलवार को रज्जन ने बंबई में लैंड किया था और उस दिन यहां घर की बेचैनी सीमा पर पहुंच चुकी थी।

"बेटी, कितने बजे हैं ?" पापा ने उस दिन कीर्ति के कमरे में तीसरी बार आकर पूछा था।

"चार।"

"बस नौ घंटे और हैं," पापा ने अपनी ज्योतिहीन आंखों से एक ओर ताकते हुए कहा था, "छह बजे रज्जन का जहाज किनारे आ लगेगा।"

"तो कौन तुमसे वह तुरंत आ मिलेगा ?" यही बात जब उन्होंने फिर

आध घंटे के बाद और सातवीं बार दुहरायी तो मां एकाएक झल्ला पड़ी थीं, क्योंकि पापा की बेचैनी उनसे सही नहीं जा रही थी। अपने नगर से सात सौ मील दूर रज्जन बंबई में उतर रहा था। चाहने पर भी उसके लिए इस भौगोलिक दूरी को लांघकर फौरन आ मिलना संभव नहीं था, लेकिन घर में ऐसी व्याकुलता समाई हुई थी मानो छह बजे की ट्रेन से वह सीधे यहीं पहुंच रहा हो। यों रोज सुबह सबसे पहले पापा ही उठते थे, लेकिन उस दिन उन्होंने अपने साथ-साथ सभी को जल्दी जगा दिया था—पहले मां, कीर्ति, फिर शोभा और यहां तक कि छड़ी टेकते-टेकते जाकर आउट हाउस में रहने वाले श्यामलाल को भी उन्होंने सोने नहीं दिया था।

"आज रज्जन पहुंच रहा है।" इस वाक्य से वह दिन शुरू हुआ था और सारा दिन घिसे हुए रेकार्ड की तरह घर के कोने-कोने में यह वाक्य बजता रहा था। फिर इस रेकार्ड से छूटने के बाद पति-पत्नी के बीच रज्जन की पुरानी स्मृतियां दुहरायी गई थीं, उसकी कुछ आदतों, विशेषताओं और गुणों आदि के चर्चे हुए थे और रात कीर्ति को बड़ी देर तक पापा के जागने की आहट मिलती रही थी।

सात वर्ष पहले जब रज्जन इंजीनियरिंग के एक डिप्लोमा के लिए इंग्लैंड जाने लगा था तो किसी को कल्पना भी न थी कि वह इतने अरसे के लिए वहां रह जाएगा। केवल दो-ढाई वर्ष में लौट आने की बात थी। तब ब्याह हुए सिर्फ छह माह गुजरे थे। रत्ना को उसने इसीलिए साथ कर लिया था कि विदेश के अकेलेपन से डर लगता था। फिर अध्ययन के दौरान इधर या उधर का कोई तनाव न रहे और पति-पत्नी दोनों मिलकर वह समय काट आएं; एक उद्देश्य शायद यह भी था।

लेकिन ढाई के बदले तीन वर्ष हो गए और रज्जन अभी नहीं लौटा। एक पत्र आया कि उसे कोई टेम्प्रेरी जॉब मिल गया है। सोचा, क्यों न कर लें? कुछ नहीं तो यात्रा का खर्च ही निकल आएगा और अगर संभव हुआ तो थोड़े-बहुत पैसे भी बच जाएंगे ··फिर यह सूचना आयी कि रत्ना को भी वहां रेडियो में नौकरी मिल गई है और दोनों मिलकर काफी कमा लेते हैं। रज्जन के शुरू-शुरू के पत्रों से अवश्य लगता था कि उसे कहीं-न-कहीं वापस लौटने की उत्सुकता है, पर बाद में वह इस टर्म में सोचने लगा था कि भारत में अगर वैसी अच्छी नौकरी न मिली तो?

और इस बीच कई बड़ी-बड़ी और अप्रत्याशित घटनाएं हो गई थीं। शोभा के बाद वाला भाई जाता रहा था। कीर्ति से बड़ी बहन नलिनी ब्याह कर बनारस चली गई थी, पापा सरकारी नौकरी से रिटायर होकर घर बैठ गए थे, और इनमें सबसे बड़ा हादसा यह हुआ था कि पापा की आंखें अकस्मात

जाती रहीं।

"मुझसे बड़ा अभागा और कौन होगा," इस खबर के मिलते ही रज्जन ने बेहद दुखे स्वर में लिखा था, "कि इतनी बड़ी बात हो जाए और मैं आपके पास न होऊं। सचमुच मैं नराधम हूं या यह मेरे पूर्व-जन्म के पापों का फल है कि इतना सब होने के बाद भी मैं आपसे हजारों मील दूर पड़ा हूं···लेकिन पापा, आप चिंता मत करें—मैं आज-कल में यहां के आई-स्पेशलिस्ट से कन्सल्ट कर रहा हूं और मुझे विश्वास है जिस दिन आपको यहां ले आऊंगा, सब ठीक हो जाएगा।"

खत सुनकर पापा रो पड़े थे। कीर्ति से पत्र लेकर कुछ देर वे उस पर यों हाथ फेरते रहे थे मानो उंगलियों में आंखें उतर आई हों, फिर भर्राए कंठ से उन्होंने इतना ही कहा था, "कीर्ति की मां, ईश्वर की सौगंध! अब मुझे आंखों का अफसोस नहीं रहा···"

और उस दिन कई महीनों के बाद समूचे घर के लोग पापा के पास इकट्ठा हुए थे। उन्हें घेरकर कीर्ति, शोभा और मां सभी बैठ गई थीं और पापा ने आदत के अनुसार नौकरी के दिनों वाले बरसों पुराने किस्से सुनाए थे—वे किस्से जिन्हें इससे पहले भी कई बार उन्होंने सारे घर को सुनाया था।

गेट के बाहर ही कीर्ति ठिठक गई।

तीन-चार दिनों से यही हो रहा था। स्टेशन से लौटने में पैदल तय करने वाला रास्ता चाहे जल्दी से कट जाए, घर आते-आते अक्सर कदम धीरे पड़ जाते थे। गेट में से गुजरते वक्त लगता जैसे किसी ने पांवों में पत्थर बांध दिए हों और···

बात बिल्कुल नयी न थी, लेकिन आज से पहले कीर्ति ने अपने को इतना अवश कभी भी महसूस नहीं किया था। उसे लगा कि और दिन भले ही भ्रम होता रहा हो, आज की स्थिति दूसरी है। आधारहीन ही सही, जाने क्यों वह बहुत जोर से महसूस कर रही थी कि रज्जन जरूर आ गया है और भीतर प्रवेश करते ही वह देखेगी कि वह पापा के पास बैठा हुआ है। बहुत मुमकिन है कि स्टेशन की भीड़-भाड़ में वह मिस कर गई हो, या उसने पहचाना ही न हो और रज्जन निकल आया हो!

मटियाले अंधेरे से घिरी हुई शाम···हवा में हल्की-सी खुनकी थी। छिट-पुट या इक्का-दुक्का घरों की बत्तियां मुहल्ले के सभी अंधेरे और निर्जन कोनों को घूर रही थीं। ऐसे में बेहद मद्धिम रोशनी में डूबा हुआ अपना मकान एक क्षण के लिए कीर्ति को ही भुतहा और रहस्यमय-सा लगा!···यह सारे घर

में अंधेरा क्यों कर रखा है ? वह मन-ही-मन झल्लाई, इतने दिनों बाद रज्जन आए और फिर भी उजाला न हो तो और कब होगा ?···और आज श्याम-लाल बेवक्त कैसे ? वह चौंकी, साइकिल लेकर दूसरे गेट से जल्दी-जल्दी वह कहां निकल गया ?

कीर्ति का जी अचानक जोर-जोर से धड़कने लगा। लंबे-लंबे डग से धड़-धड़ाती हुई वह अहाते का भीतर वाला मैदान, छोटा बगीचा और दालान पार करती हुई भीतर चली गई। पर कहीं कोई न था। न कोई होलडाल-सूटकेस और न किसी की विदेशी स्लिपों वाली अटैची···वही रोज का मद्धिम रोशनी वाला बड़ा मकान, जिसमें तीन-चार लोग ऐसे खो जाते थे कि पता ही नहीं लगता था।

"कीर्ति !"

लंबा और संकरा गलियारा पार करके वह दूसरे छोर वाले कमरे की ओर जाना चाहती थी कि चौंक गई। अंधेरे गलियारे में मां प्रेत की तरह खड़ी थीं।

"कौन ?" उसी समय पापा के कमरे से अधीर-सी आवाज आई, "क्या कीर्ति आ गई ? कीर्ति···"

"हां, कीर्ति आ गई !" दो क्षणों की चुप्पी के बाद भी मां ने घसीटते हुए शब्दों में जवाब दिया। इसी बीच केवल एक बार उन्होंने कीर्ति की ओर देखा था, फिर हट गईं।

और बस। किसी ने न कुछ कहा, और न कुछ सुना। जैसे न अब तक कीर्ति की प्रतीक्षा थी और न उसके साथ बंधी हुई कोई आशा थी।

पिछले बारह दिनों से इस समय सारा घर कंठ में प्राण लिए बैठा रहता था। पल-पल कीर्ति की बाट देखी जाती थी। पहले दो दिन पापा स्वयं स्टेशन तक चले गए थे। बम्बई से आने वाली कई गाड़ियां उन्होंने देखी थीं। वह तो बाद में पता चला था कि रज्जन यहां आने के बदले सीधे दिल्ली चला गया था—रत्ना के घर। और कई बार बदले हुए तथा स्वयं निर्धारित किये कार्यक्रम के बावजूद आज तेरहवें दिन भी रज्जन का पता नहीं।

अपने कमरे में पहुंचकर बड़ी देर तक कीर्ति को लगता रहा कि आज भी मां जरूर दबे पांव आयेंगी। शायद और दिनों की तरह पापा के कान बचा-कर धीरे से कहें, "कीर्ति, जा, रज्जन को एक तार कर आ···इसने तो खेल बना रखा है। अरे, अगर यहां न आना था तो न आता। लिख-लिखकर सबको परेशान करने की क्या जरूरत थी !"

पिछले दो तार ऐसे ही हुए थे और गए दिन जो 'ट्रंक' लगाया जा रहा था, उसके पीछे भी यही था।

पर सचमुच मां नहीं आईं, खाने की सूचना लेकर भी शोभा पहुंची थी।

"आज मिसेज मित्तल मिल गई थीं!"

खाने की मेज पर भी जब वही तनाव गिद्ध के डैनों की तरह मंडराता रहा तो कीर्ति ने केवल बात करने के लिए सप्रयास बात शुरू की।

"कहां?" उदासीन भाव से मां ने पूछा।

"स्टेशन पर।"

"अच्छा!"

"वे भोपाल जा रही थीं।" कहकर कीर्ति ने तत्काल मां की ओर देखा। उसका अनुमान ठीक था। मिसेज मित्तल के साथ भोपाल का नाम सुनते ही मां बेतरह चौंकीं, मुंह की तरफ बढ़ता उनका हाथ सहसा रुक गया, जैसे किसी अचरज भरी घटना की खबर दी गई हो। साश्चर्य पूछा, "किसने कहा?"

"वे खुद कह रही थीं।"

विश्वास करने के प्रयास में मां कीर्ति को घूरती रहीं। एक क्षण के लिए उनकी आंखों में अजीब-सा भाव तैर आया। जाने वह छोटी-सी खुशी का था या अचानक लगे हल्के-से धक्के का। कीर्ति से आंखें हटाकर, ठिठका हुआ जूठा हाथ लिए दो-एक पल वे एक अंधेरे कोने को घूरती रहीं, फिर "यही होता है" का भाव लिए चुपचाप खाने लगीं।

उस दिन मिसेज मित्तल का उतना दृढ़ स्वरूप देखा हो, उसके लिए सच-सचमुच यह विश्वास करना कठिन है कि आखिर वह उसी बिंदु पर आ गईं, जिसका बरसों से वे अकेले दम पर विरोध करती रही हैं।

यों पड़ोसी जैसी पड़ोसी मिसेज मित्तल नहीं थीं। एक तो घर उनका दूर था और दूसरे स्वभाव से रूखी और घमंडी लगती थीं। शायद इसीलिए, आने के बाद भी काफी अरसे तक सभी से अपरिचय बना रहा। लेकिन जब कीर्ति से परिचय हुआ तो सारी दूरी तो जाती रही, वह रहस्य भी नहीं रह गया जो उनके बारे में पहले दिन से, मुहल्ले ही नहीं सारे नगर में बना हुआ था। विवाहिता और पराये शहर की होते हुए भी उन्होंने इस नयी जगह में आकर नौकरी कर ली थी। यहां उनका न कोई रिश्तेदार था और न कोई परिचित। बहुत सीधे-सादे ढंग से एक कमरा लेकर वे अकेली रहती थीं—अकेली ही नहीं, अलग-अलग और सभी से कटी हुई। शायद इसीलिए लोगों में कानाफूसियां थीं कि क्या कोई भी जवान औरत किसी नये शहर में अकेली-जान रह सकती है? मिसेज मित्तल अगर सचमुच विवाहिता या सुहागन हैं तो कभी उनका पति उनके पास क्यों नहीं आता, अथवा पिछले तीन बरसों में एक बार भी वे अपने पति के पास भोपाल क्यों नहीं गईं?

"मेरी समझ में नहीं आता कि लोगों को दूसरों की जिंदगी में इतनी

दिलचस्पी क्यों होनी चाहिए ?" कीर्ति से पहली या दूसरी भेंट पर ही अत्यंत दुःखी होकर मिसेज मित्तल ने कहा था, "क्या मैं हर किसी से यह बताती फिरूं कि मैं ब्याहता या सुहागन हूं···कि पति-पत्नी में कितना प्यार था··· महेश ने अचानक कैसे मेरे साथ धोखा करना शुरू कर दिया और कैसे अलग होकर मैं इसी बात पर आज तक उससे लड़ रही हूं ?"

और उसी दिन कीर्ति ने पहली बार जाना था कि इस दुख-भरी दुनिया में आज भी ऐसे लोग हैं जो टूट भले ही जाएं, झुकना या समझौता करना नहीं जानते। अगर प्रेम-विवाह के साल-दो साल बाद ही महेश किसी रूप-जाल में उलझकर नये 'अफेयर' में फंस जाए तो मिसेज मित्तल जैसी कोई भी स्वाभिमानी औरत और क्या कर सकती !···

कीर्ति को लगा जैसे वह अकेली नहीं। चुपचाप कौर उठाती हुई मां भी आज उसी दिन की बात सोच रही हैं—उस दिन जब शोभा के बर्थडे के बाद मिसेज मित्तल आई थीं। घर में बीते हुए एक छोटे-से उत्सव के अवशेषों के बीच उस दिन मां को जाने क्या सूझी कि ट्रंकों में एक जमाने से बंद ढेर-से पुराने और कीमती कपड़े वह निकाल लायी थीं। फिर उन्हें मिसेज मित्तल के सामने फैलाकर बैठते हुए पूछा था, "तुम्हें रफू करना आता है ?"

मिसेज मित्तल ने हंसकर नाहीं कर दी थी।

"ये कपड़े मेरी शादी के हैं," मां बोली थीं, "कुछ शायद उससे भी पहले के। रखे-रखे फटते देख जी दुखता है, तो जानती हो क्या करती हूं ? रफू करके फिर सहेज देती हूं। मेरी तो अब पहनने की उम्र नहीं रही, कीर्ति-नलिनी से पहनने को कहती हूं तो ये लोग हंसती हैं।"

मिसेज मित्तल एक-एक साड़ी का पल्ला लेकर उन पर किया हुआ सोने-चांदी का काम देखने लगी थीं।

"तुम भोपाल कब जा रही हो ?" और बीच में बिलकुल अचानक, बिना किसी प्रसंग के मां ने पूछ लिया तो कीर्ति ने स्पष्ट देखा कि मिसेज मित्तल का चेहरा एकदम उतर गया है। अपने को जैसे-तैसे संभालकर उन्होंने सूखे होंठों से जवाब दिया था, "अभी तो ऐसी बात नहीं···क्यों ?"

"क्यों क्या ?" मां बोली थीं, "दुनिया में यह सब तो चलता ही रहता है, तुम अकेली कहां तक लड़ोगी ?···किसी चीज से अगर सचमुच प्यार हो या वह कीमती हो तो टूट-फूट जाने पर भी उसका मोह नहीं जाता। मुझे देखो···"

और फिर पुराने कपड़ों वाले उदाहरण के अतिरिक्त उनकी ढेरों दुनियादारी की बातें, जिनमें से हर एक का इशारा बस एक ही ओर जाता था। यहां तक कि अंत में मिसेज मित्तल घबराकर किसी बहाने से कीर्ति के कमरे

में उठ आई थीं। एकांत में कीर्ति के सामने उन्होंने आंसू पोंछ थे। क्रोध और अपमान से तमतमाया चेहरा लिए वे बड़ी देर तक चुप रही थीं और जब मां के ही स्वर में कीर्ति ने तसल्लियां देनी चाही थीं तो आवेश में आकर उन्होंने अपने जूड़े में खुंसा फूल निकाल लिया था। कुछ देर वे उसकी पंखुरियों को सहलाती रही थीं, मानो कोई गहरा-सा जवाब देने के पहले अपने शब्दों को तोल रही हों। अंत में उसकी एक पंखुड़ी को नाखून से चीरकर भले गरे से पूछा, "इसे रफू कर सकती हो ?···"

और कीर्ति को हाथ खींचते हुए देखकर मां ने सहसा टोक दिया, "तूने तो कुछ खाया ही नहीं !"

"सोने से पहले बत्ती बुझा देना," जाती हुई कीर्ति को मां ने रोज की तरह हिदायत दी, "नाहक मुझे परेशान होना पड़ता है···और शोभा अगर जिद करे तो अपने पास ही सुला लेना, अच्छा ?"

रज्जन के बारे में कोई बात नहीं, एक भी शब्द नहीं···

रात कई बार कीर्ति को भ्रम होता रहा कि मां उसके कमरे में आई हैं। वह कई बार अचकचाकर उठी लेकिन रात के सन्नाटे में पापा के कमरे से खांसने और बार-बार बेचैन करवटें बदलने के अतिरिक्त और कोई आहट नहीं आ रही थी।

लेकिन तेरह दिनों से जिस रज्जन के आने की इतनी धूम थी, वह आया तो तब जब कि उसे लेने के लिए घर की दहलीज पर भी कोई नहीं था।

सुबह के तीन बजे थे और सारा घर सो रहा था। कीर्ति से खबर सुनते ही पापा हड़बड़ाकर उठ बैठे, अपनी छड़ी के लिए एक पल वे हवा में हाथ चलाते रहे, फिर केना के जवान पत्तों की तरह बांहें फैलाकर थरथराते हुए खड़े हो गए।

रज्जन ने आगे बढ़कर उनके पांव छुए। पीछे-पीछे रत्ना थी।

'तूने तो बड़ा इंतजार कराया', अपने चरण छुए जाने के बीच मां कहना चाहती थीं—'यहां तो कई दिनों से यह हाल है कि···' पर कहा नहीं गया। किसी ने कुछ नहीं कहा। तभी वहां शोभा आ गई और बरसों बाद हम-उम्र भाई-बहनों के मिलने का शोर सारे घर में गूंजता हुआ पास-पड़ोस तक जा पहुंचा !

"अरे शोभा ! तू इतनी बड़ी हो गई ?"

"और क्या उतनी ही बनी रहेगी ?" मां बोलीं।

"रत्ना, तुम्हें याद है," रज्जन ने कहा, "यह कितनी-सी थी। और कीर्ति को तो देखो, कमबख्त, अच्छी-खासी महिला बन गई है ?"

"और जो, मैंने एम० ए० पास कर लिया है, वो ?" कीर्ति बोली, "लेक्चरर

हो गई हूं, वो ? तुम लोगों के बराबर कमाने लगी हूं, वो ? इनमें से किसी की बधाई नहीं ? रज्जन, इस बार तो मुझे भी अपने साथ इंग्लैंड ले चल।"

"अच्छा ! अच्छा !!" रज्जन ने चिढ़ाया, "कभी आईने में अपनी शक्ल देखी है ?"

और उस धमाचौकड़ी में कीर्ति के अतिरिक्त किसी ने नहीं देखा कि पापा की उठी हुई बांहें कैसी नीचे गिरीं !

"देखो, मैं तुम सबके लिए क्या-क्या लेकर आया हूं।" फिर बीच में ही उठकर रज्जन ने ट्रंक खोला और मां के मना करने तथा यह कहने के बावजूद कि दिन में देख लेंगे, उसने एक-एक करके सारी चीजें उत्साहपूर्वक फैला दीं—पापा के लिए कार्डिगन, शोभा के लिए नये प्रकार के खिलौने और कीर्ति-नलिनी के लिए स्वेटर तथा स्कार्फ !

रत्ना यह बताती रही कि उन प्रेजेंट्स के एक-एक पीस के लिए उन्होंने लंदन की कितनी-कितनी दूकानें देखी थीं और कितने अम्बार में से पसंद किया था।

पापा ज्योतिविहीन आंखों से अपने ही परिवार को घूरते हुए अपरिचितों की तरह सुन रहे थे।

अगला दिन कीर्ति के घर ऐसे आया जैसे बरसों पहले कभी आया करता था। सुबह से मिलने-बैठने वालों का तांता लग गया—उनमें पापा के मित्र थे, मां की परिचित महिलाएं थीं, कीर्ति-शोभा की सहेलियां थीं और सबसे अधिक संख्या थी रज्जन के उन दोस्तों की, जिनके साथ उसने बचपन और स्कूल के दिन गुजारे थे।

"अब तो तुम्हारा साथ भी फिजूल है !" दोपहर को दिन-रात के संग-संग बैठनेवाले शर्माजी ने कहा तो पापा एकाएक चौंके, "क्यों ?"

"अरे भाई, अब तुम यहां हो ही कितने दिन !" दूसरे मित्र सक्सेना ने कहा, "चंद दिन ही तो न ? रज्जन आ गया है। तुम्हें अपने साथ ले जाए बगैर थोड़े ही मानेगा।"

"अच्छा वोह···" पापा सांस छोड़कर धीरे से राहत-भरी हंसी हंसने लगे, "देखो, क्या होता है ! पीछे तो वह बहुत दिनों से पड़ा है। मैं ही अब तक चुप बैठा रहा। कभी सोचता हूं कि रज्जन की बात मान लूं, कभी हिम्मत नहीं होती। इसी चक्कर में मैंने यहां किसी डॉक्टर को भी नहीं दिखाया···सच पूछिये तो शर्मा जी, अपना देश छोड़ने के नाम पर ही जी कचोटता है।'

"तो कौन आपको हमेशा के लिए जाना है !" शर्मा जी बोले, "आंखें वापस मिल जाएं, चले आना !"

पापा कुछ सोचने लगे, मानो उसी समय निर्णय कर रहे हों कि उन्हें

रञ्जन के साथ जाना है अथवा नहीं। निश्चय ही शर्मा जी, सक्सेना या सभी लोगों को लग रहा था कि रञ्जन के आने का अर्थ ही उनका जाना है। पत्नी-बच्चे ही नहीं, स्वयं उन्होंने यह बात कई लोगों से कह रखी थी। लेकिन आज जिस वास्तविकता का पता शर्मा जी, सक्सेना या बाहर वालों में से किसी को नहीं था, उसे याद कर उन्हें अजीब-सी व्याकुलता हो रही थी। मन की चिकनी और बेहद विछलन-भरी दीवार पर जो सांप की तरह चढ़ और गिर रहा था, वह भय था कि रञ्जन कहीं अपने पत्र की बात भूल तो नहीं गया! आने के बाद से आंखों के बारे में औपचारिक-सी पूछताछ के अलावा और कोई बात नहीं हुई थी। ऊंह, होगी···लड़का है। बरसों बाद आया है, पहले उसे दम मारने की फुरसत तो मिले!

रात को जब मां ने उनसे खाने के लिए कहा, "सैर-सपाटे को गए हैं। जाने कब तक आते हैं!"

"आखिर आएंगे तो," पापा बोले, "कीर्ति-शोभा को भूख लगी हो तो खिला दो।"

पर जाने क्यों, भूख किसी को नहीं थी। पिछली रात की तरह सभी उस रात भी ग्यारह बजे तक रञ्जन-रत्ना की प्रतीक्षा करते रहे। इस कोशिश में शोभा भूखी ही सो गई और तब भी उठाए नहीं उठी, जबकि वे लोग लौट आए।

पार्टियां और पिक्चरें···

पहली दोपहर को छोड़कर तीन दिनों में न कोई रात खाली गई और न कोई दिन। पार्टियों और पिक्चरों का सिलसिला मुतवातिर चला और रञ्जन को लगता रहा कि कुछ देर से घर आकर उसने सचमुच गलती की है। नगर में दोस्त या मिलने-जुलने वाले क्या एक-दो थे कि उन्हें आसानी से निबटा दिया जाता! यहां तो जिसके साथ कोताही करो उसे ही शिकायत हो रही थी।

"रञ्जन जाने की कह रहा था!" उस रात कीर्ति ने पापा के कमरे में मां को कहते सुना।

"किसके जाने की?" पापा ने चौंककर पूछा, "मेरे?"

"नहीं," दूसरी ओर देखकर मां धीरे से बोलीं, "उसके अपने ही जाने की बात थी। कह रहा था, उसे जल्दी लौटना है और दिल्ली में भी एक-दो दिन का काम है।"

बड़ी देर तक पापा ने कुछ नहीं कहा।

"ये लोग नलिनी के पास बनारस जा रहे थे न?"

"अब नहीं जा रहे।"

"क्यों?"

"वक्त नहीं है," मां बोलीं, "मामा के पास जयपुर जाने वाला प्रोग्राम भी मुना रद्द कर दिया है। रत्ना कह रही थी कि उनके प्रेजेंट्स भिजवा दें। देखते हो, इतने वर्षों बाद आया और बहन से मिले बिना चला जाना चाहता है। सोचो, नलिनी क्या कहेगी !"

कुछ देर पापा चुप रहे।

"रज्जन और कुछ कह रहा था ?"

"कब ?" कहकर मां ने पापा की ओर देखा तो, लेकिन दूसरे ही क्षण संभल भी गईं। अपने ही प्रश्न को समेटती हुई बोलीं, "अरे, उसे मेरे पास बैठने या बात करने की फुरसत कहां है। कल यह जरूर पूछ रहा था कि पापा को कोट पसंद आया !"

और तब चारपाई बजने की आवाज से कीर्ति ने अनुमान लगाया कि पापा ने फिर वही बेचैन करवट बदली है।

स्टेशन से बाहर आकर कीर्ति ने मुक्ति की सांस ली। उसे लग रहा था जैसे एक लंबे समय के बाद किसी भयंकर तनाव से छुटकारा मिला हो। अजीब बात है कि रज्जन और रत्ना को गाड़ी में बैठते देख उसे जरा भी कचोट महसूस नहीं हुई थी। उसे कुछ वैसे हल्केपन का एहसास हो रहा था जैसे किसी छोटी हैसियत के आदमी को बड़े मेहमानों के विदा करने पर होता है !

चलने से पहले रज्जन और रत्ना दोनों ने अलगाव और बिछोह के औपचारिक शब्द कहे थे, लेकिन कीर्ति से कुछ भी नहीं बना था। उसने लाख चाहा था कि रज्जन की बात रख ले। कई बार रत्ना के सामने उसने भूमिका भी बांधी थी, लेकिन लगा था जैसे भीतर कहीं से विद्रोह हो रहा है, और वह उसके सामने घुटने टेककर अवश हो गई है।

"कीर्ति, तू मेरी एक बात मानेगी ?" प्लेटफार्म पर रज्जन ने किसी बहाने उसे रत्ना से अलग ले जाकर कहा था।

"क्या ?"

"सच बात तो यह है कि यह मैं तुझी से कह सकता हूं, इसलिए कि तू बहन भी है और समझदार भी···ये मदर-फादर को क्या हो गया है ? हम लोग इतने-इतने बरसों बाद आए, लेकिन लगा जैसे किसी को खुशी ही नहीं हुई। सारा वक्त पापा उखड़ी-उखड़ी बातें करते रहे और मां का मुंह सूजा रहा। मैं तो खैर घर का हूं, शिकायत करके भी कहां जाऊंगा। रत्ना के दिल को इनसे बड़ा धक्का लगा है। कह रही थी कि इतनी भावना से लाये हुए प्रेजेंट्स किसी ने एप्रिशियेट तक नहीं किये। पापा ने तो कोट को छूकर भी

नहीं देखा। तू अगर उसे वातों ही वातों में यह विश्वास दिला दे कि उन प्रेजेंट्स से घर भर के लोगों को कितनी खुशी हुई है तो…"

उसे क्या हो गया था! कीर्ति ने सोचा—रज्जन का इतना-सा आग्रह रखते उससे क्यों नहीं वना? झूठ ही सही, क्या वह रत्ना से नहीं कह सकती थी कि…

"और भला क्या तुमसे कह गई थीं?" अचानक उसके कंधे पर हाथ रखकर रमा सेन पूछ रही थीं। कीर्ति सहम गई। उसे खीझ-सी हुई कि जो रमा सेन स्टेशन पर से उसके साथ-साथ टैक्सी में चली आ रही थीं, उनकी उपस्थिति वह इतनी देर से कैसे भुला वैठी थी! और क्या-क्या कह गई थीं? कौन…हां, मिसेज मित्तल…स्टेशन पर मिलने के वाद से वे लोग उन्हीं के वारे में वातें करती आ रही थीं। चाहे-अनचाहे, जगह-वेजगह मिसेज मित्तल का ही प्रसंग।

"मुझसे तो कहा था कि दो-चार रोज में आ जाएंगी।"

"उन्होंने सभी से यही कहा था," रमा सेन वोलीं, "मुझसे भी! लेकिन मैं तव भी जानती थी कि वे लौटकर नहीं आएंगी और इसी तरह एक दिन उनका इस्तीफा आ जाएगा। असल में, कीर्ति, जहां तक मैं जानती हूं अपने किसी प्रियजन से प्रेम करना जितना आसान है, चोट लगने के वाद भी उससे घृणा करके रह सकना उतना ही मुश्किल। जिस दिन मैंने मिसेज मित्तल जैसी पढ़ी-लिखी महिला को चूड़ियों वाले एक छोटे-से अपशकुन से घवराते देखा था उसी दिन मैं समझ गई थी कि उनके सारे वंद टूट गए हैं।"

घर के लिए और कितना रास्ता वाकी है? ऊवी हुई कीर्ति ने खिड़की के वाहर सिर निकालकर देखा। उसे कम-से-कम उस समय मिसेज मित्तल वाली चर्चा में जरा भी रुचि नहीं रह गई थी और रमा सेन की वातें वेतरह थका रही थीं।

फिर वही अपने ही घर में प्रवेश करने का भय…

गेट में से गुजरते हुए आज कीर्ति के पांव ठिठके नहीं, लेकिन कहीं अचेतन मन में वैठे हुए भय ने अपना सिर उठा लिया था। वही मटियाले अंधेरे से घिरी हुई शाम, छिटपुट या इक्का-दुक्का घरों की वत्तियां, मुहल्ले के सूने तथा निर्जन कोने…और वेहद मद्धिम रोशनी में डूवा हुआ मकान…

वरामदे में चोरों की तरह प्रवेश करते हुए कीर्ति को याद आया कि आज घर में शोभा भी नहीं है। रज्जन-रत्ना से मिलने आई मासी के साथ ही वह चली गई थी। घर और उजाड़ हो गया! वह जानती थी कि घर की क्या तस्वीर होगी। जो पापा रज्जन को छोड़ने के लिए दहलीज तक भी नहीं आए थे, उनसे चारपायी छोड़ उठने की उम्मीद करना फिजूल की वात थी…और

मां ? किसी अंधेरे कोने में चटाई डाले पड़ी होंगी।

कीर्ति थक गई थी। अच्छा हुआ कि आज शोभा भी नहीं थी। वह चाहती थी कि मां या पापा किसी का भी सामना किये वगैर सीधे अपने कमरे में भागे और विस्तर पर टूट पड़े। उसने अंधेरा गलियारा पार भी कर लिया था, लेकिन पापा के कमरे से फूटने वाली रोशनी ने उसे सहसा चौंका दिया।

गुजरते-गुजरते भी वह पापा के कमरे के पास ठहर गई।

"कौन ?" उसी समय भीतर से पापा की आवाज आई। कीर्ति भयभीत चोर की तरह दीवार से सटकर खड़ी हो गई।

"कोई नहीं है," एक क्षण बाद इधर की आहट लेकर मां ने आश्वस्त होते हुए कहा।

"अच्छा, मुझे लगा जैसे कीर्ति आ गई।"

सुनकर कीर्ति से बिल्कुल रहा नहीं गया। कोई पाप होता है तो हुआ करे, सोचकर चलते-चलते ही सही, उसने कमरे में झांककर देखा तो कई क्षण तक आश्चर्यचकित-सी देखती रह गई—पापा ने वही कोट पहन रखा था, जिसे रज्जन के रहते उन्होंने छुआ भी नहीं था ! सामने कार्डिगन पहने मां खड़ी थीं. और उन्हें कंधों से पकड़े, कार्डिगन के एक-एक हिस्से को उंगलियों से टटोलते हुए पापा पूछ रहे थे, "इसका रंग कैसा है, नीला ?" △

एक और मौत

'पिछली रात सपने में मैंने फिर रेवती जिज्जी को देखा था, वाहर आते ही मुझे याद आया। मैं भानु की प्रतीक्षा कर रहा था और किसी की आहट सुनकर भीतर से निकल आया था। कोई नहीं था। शायद कोई पड़ोस का वच्चा होगा जो शरारतन दरवाजे को वजाता हुआ निकल गया।

सपने भी कितने झूठे होते हैं। कहां का आदमी कहां पहुंच जाता है। देखा था कि कलकत्ते की किसी वहुत गंदी चाल में केवल दो-एक अदद जरूरी सामान के साथ वह अकेली रह रही हैं। चारों ओर अपरिचय तथा अजनवियत की खाइयां हैं—हर चेहरा नया और पराया, हर लम्हा भागता हुआ, हर क्षण अपनी वास्तविक लंवाई से भी छोटा, वातावरण में धुआं, हवा में घुटन का वोझ और हर दूसरे की सांस से लपकती हुई जहर की वू···

फिर देखा था कि अपने दोहरे वदन में मरहठी पल्लू की साड़ी वांधे, एक आंचल सिर और दूसरा सीने पर दिए वह चुपचाप नल पर खड़ी हैं। विल्कुल उसी अंदाज में जैसा कि मैंने दो वर्ष पूर्व उन्हें अपने घर पर पहली वार देखा था। अपने एक पांव पर शरीर के समूचे निचले अंगों का भार डालकर वह गर्दन

झुकाए खड़ी थीं। पहले तो वह नल की निरंतर चलती मोटी धार को घूरती रहती थीं, फिर सहमती हुई अपनी अंजलि बढ़ाकर धार को झेलने लगती थीं और फिर एकाएक चौंककर हाथ हटा लेतीं और अपने चारों ओर यूं देखने लगतीं जैसे चोरी कर रही हों। और उसके बाद के अनेक खंड-चित्र असंबद्ध और बेमानी थे, कुछ बेतुके और उनमें से एक तो इस कदर फूहड़ कि मैं किसी से भी नहीं कह सकता। भानु से भी नहीं।

यह आश्चर्य की बात है कि पिछले तीन दिनों से लगातार मैं यही सपना देख रहा था और हैरान था। सपने की शुरुआत चाहे जहां से हो, थोड़ी ही देर में मैं देखता कि मैं उसी टुकड़े पर पहुंच गया हूं जिसे फूहड़ और बुरा कहा है। उस वक्त मेरी हालत अजीब हो जाती। मैं डरता भी था और मुझे अच्छा भी लगता था। होंठ हम दोनों के हिलते, लेकिन अपनी बातें अपनी ही समझ में नहीं आतीं। थोड़े ही पलों बाद देखता कि मैं एक विचित्र-सी अनुभूति से कांपने लगा हूं। उसी तरह ऊपर के कमरे में मैंने भानु को कांपते हुए देखा था। भानु कहता था कि···और भानु अब तक क्यों नहीं आया? अब मुझे एक-एक पल पहाड़ लगने लगा। पिछले तीन-चार दिनों से यही हो रहा है। कालेज से लौटने के बाद दिन के घंटों साथ-साथ गुजारने वाले हम दोनों एक घंटे को भी नहीं मिल पाए हैं। हम लोगों का कालेज सवेरे लगता है और ग्यारह-बारह तक फ्री हो जाते हैं। फिर सारा दिन अपना होता है। चाहे जिस तरह बिताओ। थोड़ी-सी चिंता खाने की होती है जो काम की तरह लगता है, लेकिन जल्दी ही उसमें निबट कर हम दोनों एक-दूसरे से मिल जाते हैं। मैं भानु के घर चला जाता हूं या भानु मेरे यहां आ जाता है। अक्सर यह होता है कि भानु और मैं सारी दोपहरी अपने ही घर पर गुजारते हैं, क्योंकि दोपहर में हमारा सारा घर सिर्फ मेरा होता है। घर पर न तो लता होती है और न ममी। ममी स्कूल चली जाती है और लता का कालेज ग्यारह से चार तक लगता है। इस बीच घर का स्वामी बनते हुए कितना अच्छा लगता है। चाहे जहां बैठो, चाहे जहां लेटो, जो जी मे आए करो। कोई रोकने-टोकने वाला नहीं। घड़ी-घड़ी न तो ममी की पूछताछ और न लता की झल्लाहट कि ऊपर के कमरे में कौन गया था। जब तक लता होती है सारे घर को जैसे वही घेरे होती है। उसी की आवाज गूंजती है, उसी की बात चलती है और कई बार तो लगता है कि ममी भी उससे दबती हैं। मुझसे चार साल ही तो बड़ी है, ऐसी कौन-सी पुरखिन हो गई, लेकिन ममी हैं कि उसे अपने से ज्यादा होशियार समझती हैं। हम दोनों के झगड़े में गलती अगर लता की भी हो तो ममी उसे नहीं कहतीं, मैं ही डांटा जाता हूं। कभी इस बहाने कि बेटे वह तेरी बड़ी बहन है और कभी इस दलील के साथ कि वह कितने दिनों की है। दो-चार साल और फिर तो वह अपने

ा ही जाएगी । कई सालों से ममी यही दलील रख रही हैं । इस बीच
-चार साल निकल गए लेकिन लता अपने घर नहीं गई, इसे मैं भी
ा हूं, लता भी और ममी भी; लेकिन ममी ऐसी करुणा से वह बात कहती
मुझसे उनकी बात काटी नहीं जाती और कई अन्यायों के साथ एक अन्याय
और सह जाता हूं । वह अलग बात है कि मन-ही-मन में लता से और चिढ़
ता हूं । भानू से उसकी खूब बुराइयां करता हूं और अकेले में निरंतर योज-
ाएं बनाया करता हूं जिससे कि उसे ममी के सामने नीचा दिखा सकूं ।

"यह मेरे कमरे में जाता क्यों है ?" अभी पिछले ही दिनों इस बात को
लेकर लता ने तूफान खड़ा कर दिया था । ममी ने हमेशा की तरह उसका पक्ष
ले लिया और मैं कठघरे में खड़ा कर दिया गया । लता को कई शिकायतें थीं,
एक तो यह कि मेज पर पड़ी उसकी पेंसिल गायब थी, दूसरे यह कि उसके
सूटकेस को उलटा-पुलटा गया था और तीसरे यह कि उसके पलंगपोश को पांवों
समेत चढ़कर खराब कर दिया गया था ।

पेंसिल मैंने नहीं ली । मुझे उससे दिलचस्पी हो भी नहीं सकती थी, लेकिन
सूटकेस को मैंने लता की गैरहाजिरी में उलटा-पुलटा था, यह सच है । अजीब
बात है कि जितनी सख्ती से लता मुझे अपने कमरे में जाने से मना करती,
मेरी उत्सुकता उतनी ही बढ़ जाती । दिन-प्रतिदिन मेरा विश्वास बढ़ता जाता
और इधर तो मुझे पूरा यकीन हो गया था कि कमरे में कुछ निश्चय ही ऐसा
है जिसे वह मुझसे छिपाना चाहती थी । उसे नीचा दिखाने की अपनी योजना
के तहत, जैसे ही लता और ममी स्कूल-कालेज के लिए निकल जातीं मैं उसके
सारे कमरे को जासूस की तरह सूंघने लगता !

"तू उसके कमरे में जाता क्यों है ?" ममी ने भी इस बार सख्ती से कहा
था, "कौन-सा काम अटका पड़ा होता है जो तू वहां जाए बगैर नहीं मानता ।

"और खुद ही नहीं जाता अपने, दोस्तों को भी ले जाता है ।" लता ने चीख
कर कहा, "मैं कहती हूं न ममी कि मुझे अपने कमरे में ताला डालने दो । अ
तो मैं खुद ही जाकर बाजार से ताला ले आती हूं । यह ऐसे नहीं मानेगा ।

ममी ने लता को ही डांट दिया था । कहने लगीं कि अपने ही घर में
से बचने के लिए ताला डाला जाए, यह घटिया बात है । फिर मेरे पी
झाड़कर पड़ गईं कि आखिर मैं लता का कहना क्यों नहीं मान लेता ।

जब मेरे पास अपना खुद का कमरा है और पूरा घर मौजूद है तो
के कमरे में जाकर उनकी चीजों को क्यों छूता हूं । मैं सच्ची बातें म
कह सकता था । चूंकि मेरे पास कोई जवाब नहीं था, सो मैंने नाराज
चुप्पी साध ली और दो दिनों तक मैंने लता से बातचीत नहीं की
गुस्सा भी दो दिनों से ज्यादा नहीं चल पाया । केवल दो दिन ही

एक औ

में ताला डला और उसके बाद वह फिर अपने पुराने ढर्रे पर आ गया। शिकायतें अब भी होती हैं, लता कभी-कभी झल्लाती भी है लेकिन ममी ने इस मामले पर बोलना छोड़ दिया है और इसका लाभ उठाकर मैं और भानु फिर से ऊपर बैठने लगे हैं। हां, इतनी सावधानी अवश्य बरतते हैं कि लता को पता न चल पाए।

कौन—लता तो नहीं है? एकाएक सड़क के अंतिम छोर पर किसी लड़की को आते देखकर मैं चौंका। नहीं, वह कैसे हो सकती है। दुबारा गौर करते हुए मैंने अपने को इत्मीनान दिलाया। निश्चय ही इस वक्त उसके पीरियेड्स चल रहे होंगे। वैसे उसका कोई भरोसा नहीं। कालेज दूर ही पड़ता है और एक दफा कालेज से घर आने का अर्थ है एक घंटा जाया करना, लेकिन तो भी जाने बीच के पीरियेड्स खाली होते हैं या वह ही खाली कर आती है, कभी-कभी कमवख्त एकदम टपक पड़ती है। उस दिन यही हुआ था। यही दोपहर का वक्त था। मैं और भानु ऊपर लता के कमरे में थे। वह दिन और दिनों की तरह नहीं था कि केवल बातें कर रहे हों या खिड़की के पीछे चुपचाप खड़े हों। भानु एक बेहद दिलचस्प और फोटुओं वाली किताब ले आया था और हम लोग उसमें डूबे हुए थे। इस किताब का हल्ला हम दोस्तों के बीच कई दिनों से था। कालेज में यह हवा फैलाने वाला रशीद था। सबसे पहले वही एक बाजार से किताब ले आया था और हम सब ने बारी-बारी से उसे पढ़ा था।

"अरे इसमें क्या रखा है।" अंत में एक दिन रशीद ने घोषणा की थी—मेरे पास ऐसी किताबें हैं, ऐसी किताबें हैं कि बेटा, बस हाय करके रह जाओ। इबारत से दिलचस्प फोटो और फोटो से दिलचस्प इबारत, लेकिन मैं किसी को दिखाऊंगा नहीं। उसी दिन रशीद हम सबकी आंखों में चढ़ गया। सबने अपनी-अपनी तरह से उसकी बेहद खुशामद की थी।

"फोटो भी हैं?" भानु ने बेपरवाही से पूछा था।

"हां, फोटो भी!"

"कैसी? स्केचों वाली या सचमुच के फोटोग्राफ्स।"

"फोटो हैं और क्या!" रशीद ने हकलाते हुए जवाब दिया था। फिर उसने बहुत धीरे से राज की तरह बताया था—उसमें पूरा दिखाया गया है, सब साफ-साफ।

हम लोग दंग रह गए थे। सब चुप, सिर्फ भानु ही बेपरवाही के साथ उठ गया था यह कहकर कि स्केचों वाली ही होगी, वैसी किताब तो उसके पास भी है। बस, शुरुआत इतनी ही थी। उस दिन के बाद बहुत से दोस्त उस बात को भूल गए, लेकिन भानु चुपचाप इसी कोशिश में लगा रहा कि किसी तरह

वह किताब मिल जाए। आखिर कामयाब होकर ही उसने दम लिया और एक दिन उसने मुझे धीरे से बताया कि वह किताब रशीद के पास से उसके पास आ गई है।

"कहां है ?" मैंने आंखें फाड़कर पूछा।

"है। रखी है।"

"दिखाओ।"

"अभी नहीं। तुम्हारे घर पर देखेंगे। ऊपर के कमरे में।"

उस दिन जब एकाएक लता आ गई थी तो हम दोनों के सामने वही किताब खुली हुई थी। सचमुच वैसी किताब मैंने अपनी जिंदगी में कभी नहीं देखी थी। उन फोटुओं को देखकर मैं हैरत में आ गया था और मेरी सांस जोर-जोर से चलने लगी थी। कौन खींचता होगा ऐसी तस्वीरें और लोग खिंचवा कैसे लेते हैं, मैं अभी इसी आश्चर्य में पड़ा था कि नीचे जीने के पास से आवाज आई, "रम्मू !"

मेरी ऊपर की सांस ऊपर और तले की तले ही रह गई। लता थी। सामने के जंगल वाले दरवाजे में हाथ डालकर कब उसने खोल लिया और कब भीतर चली आई थी इसका पता हमें बिल्कुल नहीं चला। उस दिन मेरे ही नहीं भानु के भी होश उड़ चुके थे। जल्दी-जल्दी और घबराहट में वह किताब कैसे छिपाई गई, यह ईश्वर ही जानता है। शुक्र है कि वह सीधे ऊपर नहीं आ गई। जब हम दोनों नीचे उतरे तो उसने कुछ नहीं कहा। मुझे सिर से पांव तक सिर्फ एक बार घूरकर देखा और बिना कुछ कहे चुपचाप बाथरूम की ओर निकल गई। तब से बहुत डर लगता है। ऊपर के कमरे में रहते हुए बराबर आंख लगी रहती है, कि कहीं एकाएक लता न आ धमके।

लेकिन वह लड़की लता नहीं थी, इसका पूरा विश्वास मुझे तभी हुआ जब मैंने उसे पास से देखा। अनुमान पर विश्वास कर मैं धोखा खाना नहीं चाहता था। फिर भानु का और दिनों की अपेक्षा मुझे ज्यादा गहरा इंतजार था। एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात के सिलसिले में हम लोग मिलने वाले थे और मैं बिलकुल नहीं चाहता था कि कम-से-कम आज लता आ जाए। मैंने बुरी तरह ऊबकर उस सड़क की ओर देखा जिधर से भानु आया करता था। दरअसल अब मुझे गुस्सा आ रहा था।

दोपहर कभी की जवान हो चुकी थी—छोटे शहरों वाली सर्दियों की दोपहर जिसमें आम तौर से लोग बहुत धीरे और आलस्यपूर्ण ढंग से काम करते हैं। सुस्ती और आलस्य। रेवती जिज्जी के मकान के सामने वाले फाटक के पास उन्हीं के घर के दो नौजवान लड़के धूप सेंकते बैठे थे। बगल वाले सिंधी के घर के आगे चारपाई पड़ी थी और उस पर निहायत बेहूदगी के साथ बैठी

एक जवान औरत दूसरे के सिर से जूं बीन रही थी। सड़क पर इक्का-दुक्का या तो साइकलें गुजर रही थीं या नंगे-धड़ंगे बच्चे खेल रहे थे। कौन अकेला मैं ही आलसी या सुस्त हूं, सोचता हुआ मैं धूप में निकल जाना चाहता था कि अचानक चौंका और मेरे पांव रुक गए। सामने वाले अहाते की दीवार पर कोई साफ-सुथरी साड़ी डाली गई थी अर्थात् गुसलखाने में कोई नहा रहा था। दूसरे ही पल सम्मोहन में बंधे आदमी की तरह खिंचता हुआ न सिर्फ मैं ऊपर पहुंच चुका था, बल्कि खिड़की के बाहर सांस रोके हुए देखने की कोशिश कर रहा था।

"हद है।"

अभी पांच-सात मिनट ही गुजरे होंगे कि इस आवाज से मैं धक्-सा रह गया। भानु था। कम्बख्त ने मुझे किस बुरी तरह डरा दिया था। ऐसे दबे पांव चला आया था कि मेरे फरिश्ते भी नहीं जान पाए।

"है कुछ ?" उसने ऊपर आते हुए आंखें नचाकर पूछा।

"कोई खास नहीं," मैंने एक बार खिड़की के बाहर देखकर संकोचपूर्वक जवाब दिया। अजीब बात है कि जिस काम को दोनों मिलकर एक अरसे से करते आ रहे थे, उसे अकेला करता हुआ पकड़ा जाकर मैं शरमा रहा था। और वह भी किससे ? उस भानु से जिसने खुद ही खिड़की वाला सिलसिला ढूंढ़ निकाला था और जो हर बार स्वयं ही पहल किया करता था। तब ऊपर के कमरे का हम लोगों में कोई आकर्षण नहीं था। लता को भी कोई शिकायत नहीं होती थी। भानु नियमित रूप से आता भी नहीं था और अगर आता तो भी हम लोग या तो अपने कमरे में बैठते अथवा बाहर वाले दालान में। वह तो एक दिन यूं ही ऊबकर हम लोग लता के कमरे में पहुंच गए थे और भानु ने ही इस बात की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया था कि ऊपर वाली खिड़की से न सिर्फ सामने वाला पूरा भीतरी आंगन नजर आता था बल्कि गुसलखाना और वहां पड़े पट्टे तक को साफ-साफ देखा जा सकता था। उस दिन के बाद हम लोग नियमित रूप से ऊपर को बैठने लगे और भानु ने भी कभी नागा नहीं किया। सामने वाले मकान में बीसियों सदस्य रहते थे जिनमें तीन जवान औरतें और दो लड़कियां भी शामिल थीं। अक्सर यह होता कि गुसलखाना सवेरे दस बजे से लेकर दिन के तीन बजे तक घिरा रहता था। हम लोगों के ऊपर बैठने का समय भी लगभग यही था।

लेकिन आज पहली बार यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भानु ने खिड़की या उसके बाहर वाले दृश्य के प्रति कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। वह सीधे आकर लता के पलंग पर बैठ गया।

"मैं बहुत देर से तुम्हारी राह देख रहा हूं।" मैंने उसके पास बैठते हुए

"सुनाओ, उसका क्या हुआ ?" दो पल बाद मैंने भानु की गंभीरता से सहमते हुए पूछा। यों मुझे आभास हो चुका था कि भानु की उदासी ही मेरी बात का जवाब है, तो भी मैं जानना चाहता था कि इन तीन दिनों में उसने क्या किया है। एक लड़की का मामला था और वह भी ऐसी लड़की जिसमें सौ फीसदी सिर्फ भानु की ही दिलचस्पी थी।

"होना क्या था," उसने तल्खी और गुस्से से यूं कहा जैसे जो कुछ हुआ उसके लिए मैं ही जिम्मेवार हूं। साली ने साफ इनकार कर दिया कि वह मिलना नहीं चाहती। ठीक है, न सही। मुझे तो इस बात पर गुस्सा है कि उसने तीन दिनों से मुझे बेवकूफ क्यों बना रखा था। यही बात पहले कह देती। तुम्हें पता नहीं है कि उसने मुझे चार मील दूर मिलने की खबर भेजी और मैं पागलों की तरह भागा चला गया। संदेशा मिला कि रात सेकंड शो के बाद फलां-फलां जगह आकर मिलो, इतनी सर्दी में मैं घंटों उल्लू की तरह खड़ा रहा। फिर कहा गया कि घर आओ, फादर भी मिलना चाहते हैं। उस बुड्ढे ने मुझसे यूं बर्ताव किया जैसे मैं कोई उचक्का और बदमाश होऊं। लड़की ? नहीं, वह बिलकुल बाहर नहीं आई, आखिर तक नहीं।"

वह एकाएक चुप हो गया, मानो उस अपमान को पीने की कोशिश कर रहा हो। मैं निःशब्द उसे सहमी हुई आंखों से देख रहा था। हर पल यह सोचता हुआ कि मुझे क्या कहना चाहिए। कई मिनट तक हम दोनों के बीच खामोशी रही।

"तुम क्या सोचते हो कि मैं उसे छोड़ दूंगा ?" भानु ने एकाएक दांत पीसते हुए कहा, "मैं साली को वो मजा चखाऊंगा कि वह भी जिंदगी-भर याद रखेगी। उसकी सभी चिट्ठियां अभी भी मेरे पास रखी हैं। देखते जाओ, मैं क्या करता हूं। बुड्ढे को दोष देना बेकार है। दरअसल अगर किसी पर गुस्सा है तो वह है साली रेवती !"

"रेवती !" मैं चौंका, "कौन रेवती ?"

"और कौन !" उसने घृणापूर्वक कहा, "वही तुम्हारी रेवती जिज्जी !"

आखिरी शब्द भानु ने इतनी नफरत और व्यंग्य के साथ कहा था कि मैं आहत हो गया। तो भी मैं चुप रहा।

"मैं तो पहले से ही जानता था कि साली परले सिरे की बदमाश है। तू ही जिज्जी-जिज्जी कहकर घुसा रहता था और उसकी पारसाई का दावा किया करता था। अब बोल, खुल गई न कलई ! और फिर भागने के लिए साथी भी कौन मिला। घर का मरियल पंडित ? अरे क्या हम मर गए थे !"

भानु पूरी कड़वाहट के साथ हंस रहा था। मैं लहू-लुहान तो था ही, उसकी बात सुनकर सन्न रह गया। कई पल मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैं सिर्फ यह जानता था कि रेवती जिज्जी कहीं बाहर, शायद कलकत्ते गई हैं। यह सूचना चौंकाने वाली ही नहीं, एक तरह से दहला देने वाली थी। खास कर मुझे, क्योंकि मैं उनके घर के ही नहीं, स्वयं उनके सबसे पास था और इस बात को लेकर भानु मुझसे नाराज ही नहीं था, अक्सर मजाक उड़ाया करता था।

"तो उससे क्या हुआ ?" मैंने अपने को संभाल कर कहा। उसके सामने आश्चर्य करना या अनजान बनना बेकार था।

"हुआ कैसे नहीं ?" एक छोटे से शहर के एक मुहल्ले की लड़की भाग जाए और लोगों पर कोई असर न हो। जनाब, हर लड़की वाला घर इस घटना के बाद एकदम चौकन्ना हो गया है। मां-बाप की निगरानी सख्त हो गई है और जाहिर है कि लड़कियां कुछ अरसे के लिए तो बिदक ही गईं। साली ने काफी दिनों के लिए दाने-पानी से हाथ धुलवा दिया।"

क्या यह मुमकिन है ? क्या ऐसा भी हो सकता है ?

भानु के जाने के बाद रह-रहकर यही सवाल मुझे तंग करता रहा। मैं हरगिज विश्वास करने को तैयार नहीं था कि भानु ने रेवती जिज्जी के बारे में जो कुछ कहा वह सच हो सकता है। यह कैसे हो सकता है कि इतनी बड़ी घटना हो जाए और मुझे कानोंकान खबर न हो। जीवन में पहली बार मैंने भानु के बारे में ईमानदारी से सोचना शुरू किया और मुझे लगा कि न तो वह मेरा दोस्त है और न मैं उसका। आज ही नहीं, शायद एक अरसे से, शायद शुरू मे मैं उसे पसंद नहीं करता था। वह मुझसे उम्र में तो एकाध साल छोटा ही था, जहनी तौर से भी छोटा और ओछा था। लेकिन फिर हम लोग एक-दूसरे से क्यों मिलते रहे हैं या मैं उससे मिलने को क्यों आतुर रहा हूं ? शायद उसका प्रभाव, जिसने मुझे बुरी तरह बहा दिया था। मैं आंखें होते हुए भी अंधा और कान होते हुए भी बहरा हो गया था, वर्ना इस बात का फैसला तो कायदे से बहुत पहले हो जाना चाहिए था। तब जबकि हम लोगों में रेवती जिज्जी को लेकर आपस में नोक-झोंक शुरू हो गई थी या कम-से-कम उस दिन रेवती को ही लेकर हम दोनों में बाकायदा झगड़ा हो गया था। वह दोपहर भी और दिनों जैसी थी। रोज की तरह लता और मर्मी बाहर थीं और पूरा घर खाली था। रोज की तरह ही भानु आया था और पहले हम दोनों बाहर के दालान में बैठे हुए थे। फिर जैसा कि अक्सर हमारी नजरें ढूंढ़ा करती थीं, सामने वाले अहाते की दीवार पर अचानक कोई साफ-सुथरी साड़ी डाली गई अर्थात् कोई गुसलखाने में पहुंच चुका था। हम दोनों फौरन लपकते हुए ऊपर पहुंचे थे और खिड़की पर पहला अधिकार मेरा हुआ। लेकिन जैसे ही खिड़की

के बाहर मेरी नजर पड़ी थी, मैं तत्काल हट गया था।

"क्यों ?" भानु ने मेरी जगह लेने की कोशिश में आगे बढ़ते हुए पूछा था।

"रेवती जिज्जी हैं।" कहकर मैंने भानु को रोकने की कोशिश की, लेकिन वह अड़ गया और अड़ा ही नहीं, पूरी सख्ती से मुझे एक ओर धकेलकर उसने खिड़की पर अधिकार कर लिया। मैंने धकेले जाकर भी उसे याद दिलाया लेकिन उसने 'क्या हुआ' कहकर टाल दिया और मेरी बिल्कुल परवाह नहीं की कि मैं एक ओर खून के घूंट पीता खड़ा हूं। उसी दिन मैंने भानु को वहशी की तरह कांपते हुए देखा था और मुझे लगा था जैसे खिड़की के बाहर वाले दृश्य में रेवती जिज्जी नहीं, लता है, लता..."

उस दिन झगड़े के बाद हम दोनों में समझौता भी हो गया था, लेकिन मैं समझता था कि मैंने उसे माफ कर दिया है। आज मालूम हुआ कि मैंने न केवल उसे माफ नहीं किया था, बल्कि भीतर-ही-भीतर उससे बेहद नफरत करता था और साफ-साफ महसूस कर रहा हूं कि भानु दुनिया का सबसे बड़ा कमीना आदमी है और रूहानी तौर पर मर चुका है।

धीरे-धीरे शाम हो गई। छोटे शहरों वाली सर्दियों की शाम जिसमें अजब वीरान-सी उदासी होती है। न घर में जी लगता है और न बाहर। फिर मैं तो सारे समय छटपटाता रहा था। मेरी हालत उस परिंदे जैसी थी जिसे मारने के प्रयास में अधमरा करके छोड़ दिया गया हो। भानु के जाने के काफी देर तक मैं उसके-अपने संबंधों और ज्यादातर उसके ओछेपन की छोटी-छोटी मिसालों की याद करता रहा, लेकिन शाम होते-न-होते मेरा क्रोध रेवती की ओर मुड़ गया। उसके साथ बिताए एक-एक पल की मुझे याद थी और मुझे लग रहा था जैसे मैं ठगा गया हूं। सारा अतीत मेरे सामने था। हमारा इस नये घर में आना। महीनों रेवती जिज्जी और उसके परिवार के प्रति उपेक्षा। लता का ख्याल था कि वे लोग व्यवसायी वर्ग के पैसों वाले कुछ दकियानूस और जाहिल थे और हमारा-उनका कोई मेल नहीं हो सकता था। लेकिन इसके बावजूद रेवती अपने स्वभाव के कारण न सिर्फ हमारे परिवार में घुल-मिल गई, बल्कि मैंने देखा कि उनके परिवार की जिन दो लड़कियों के लोभ में मैं आने-जाने लगा था, वे तो दूर रह गईं और मैं रेवती जिज्जी के बहुत पास हो गया हूं, इतने पास कि लता ने साफ-साफ बुरा ही नहीं माना, बल्कि कह तक दिया था। फिर निकटता, और निकटता। पहले अपने और रेवती के संबंधों की बात मैं बिल्कुल तटस्थ भाव से भानु से कह दिया करता था, फिर छिपाने लगा। और फिर उनकी चर्चा ही बंद। क्यों ? क्यों ? ढोंग ? क्या भानु सच कहता है कि मैं थोड़ा-सा ढोंगी हूं। यही तो कहा था

कि मैं रम्मू, मैं जो कहता हूं वह करता हूं। जो करता हूं वह कहता हूं, जब कि तू करता भी है और न करने का ढोंग मचाता है। क्या सचमुच भानु और मुझमें कोई अंतर नहीं ?

रात को मैं लता के कमरे में धीरे से खिसक गया। ममी अपने कमरे में बंद हो चुकी थीं। सर्दियों की वजह से जैसे पूरे मुहल्ले पर फालिज पड़ गया था। असल में इसके लिए मैं बड़ी देर से साहस जुटा रहा था और इसी प्रतीक्षा में था कि ममी भी सो जाएं, ताकि अगर लता नाराज भी हो तो उन्हें कानों-कान खबर न लगे। बहाना एक किताब पहुंचाने का जरूर था, लेकिन मैं खुद भी जानता था कि वह बहाना किस कदर पोच था।

लता अपनी मेज पर झुकी कुछ पढ़ रही थी। मुझे बेवक्त देखकर चौंकी जरूर लेकिन चेहरे से प्रकट नहीं होने दिया। सिर उठाकर सिर्फ इतना बोली, "क्यों रम्मू ?"

मैंने धीरे से किताब उसकी ओर बढ़ा दी और लौटने का अभिनय करने लगा। फिर यूं रुका जैसे अनचाही हरकत कर रहा हूं। लता को क्या, किसी को पता नहीं था कि शाम को मैं कहां-कहां मारा-मारा फिरा था। सारे मुहल्ले को मैंने जासूसी कुत्ते की तरह सूंघने की कोशिश की थी। ऐसी-ऐसी जगहों में पहुंचा था जहां जाने की बात मैं कभी सोच भी नहीं सकता था। ऐसे लोगों से मिला था जिनसे आम हालात में मैं कभी मिलना पसंद नहीं करता। लेकिन कहीं से कोई सुराग नहीं लगा था और मुझे मायूस होकर लौटना पड़ा था। आखिर उम्मीद अब सिर्फ लता से ही थी।

"क्या बात है ?" आखिर लता से रहा नहीं गया और उसने मुस्कराकर पूछा। वह जानती थी कि जब उससे कुछ लेना होता है तो मैं इसी तरह खुशामदाना ढंग से जाकर खड़ा हो जाता हूं।

"नाराज न हो तो एक बात पूछूं," बिना किसी भूमिका के मैंने सीधे कहा, "तुम भानु को कैसा आदमी समझती हो ?"

"क्यों, इस वक्त जानने की कौन-सी जरूरत आन पड़ी ?"

"है," मैंने जल्दी से कहा, "आज और इसी वक्त जरूरत है।"

लता हैरान आंखों से मेरी ओर देखने लगी जैसे मुझे समझना चाहती हो।

"आज वह कह रहा था कि," मैंने पूरे साहस के साथ कहा, "कह रहा था कि वो रेवती है न···वह···तुम जानती हो, वह कहां गई है ?"

हालांकि मैंने बीच में ही बात बदलने की कोशिश की थी, लेकिन तब तक लता की मुखमुद्रा पूरी तरह बदल चुकी थी। गर्दन झुकाकर कुछ देर वह खामोश रही फिर अपने बड़प्पन का पूरा अधिकार लेकर उसने कहा, "तुझे क्या मतलब—वह कहां मरने-कटने गई है। देखती हूं यहां बैठकर तुम लोग

कि मैं रम्मू, मैं जो कहता हूं वह करता हूं। जो करता हूं वह कहता हूं; जब कि तू करता भी है और न करने का ढोंग मचाता है। क्या सचमुच भानु और मुझमें कोई अंतर नहीं ?

रात को मैं लता के कमरे में धीरे से खिसक गया। ममी अपने कमरे में बंद हो चुकी थीं। सर्दियों की वजह से जैसे पूरे मुहल्ले पर फालिज पड़ गया था। असल में इसके लिए मैं बड़ी देर से साहस जुटा रहा था और इसी प्रतीक्षा में था कि ममी भी सो जाएं, ताकि अगर लता नाराज भी हो तो उन्हें कानों-कान खबर न लगे। बहाना एक किताब पहुंचाने का जरूर था, लेकिन मैं खुद भी जानता था कि वह बहाना किस कदर पोच था।

लता अपनी मेज पर झुकी कुछ पढ़ रही थी। मुझे बेवक्त देखकर चौंकी जरूर लेकिन चेहरे से प्रकट नहीं होने दिया। सिर उठाकर सिर्फ इतना बोली, "क्यों रम्मू ?"

मैंने धीरे से किताब उसकी ओर बढ़ा दी और लौटने का अभिनय करने लगा। फिर यूं रुका जैसे अनचाही हरकत कर रहा हूं। लता को क्या, किसी को पता नहीं था कि शाम को मैं कहां-कहां मारा-मारा फिरा था। सारे मुहल्ले को मैंने जासूसी कुत्ते की तरह सूंघने की कोशिश की थी। ऐसी-ऐसी जगहों में पहुंचा था जहां जाने की बात मैं कभी सोच भी नहीं सकता था। ऐसे लोगों से मिला था जिनसे आम हालात में मैं कभी मिलना पसंद नहीं करता। लेकिन कहीं से कोई सुराग नहीं लगा था और मुझे मायूस होकर लौटना पड़ा था। आखिर उम्मीद अब सिर्फ लता से ही थी।

"क्या बात है ?" आखिर लता से रहा नहीं गया और उसने मुस्कराकर पूछा। वह जानती थी कि जब उससे कुछ लेना होता है तो मैं इसी तरह खुशामदाना ढंग से जाकर खड़ा हो जाता हूं।

"नाराज न हो तो एक बात पूछूं," बिना किसी भूमिका के मैंने सीधे कहा, "तुम भानु को कैसा आदमी समझती हो ?"

"क्यों, इस वक्त जानने की कौन-सी जरूरत आन पड़ी ?"

"है," मैंने जल्दी से कहा, "आज और इसी वक्त जरूरत है।"

लता हैरान आंखों से मेरी ओर देखने लगी जैसे मुझे समझना चाहती हो।

"आज वह कह रहा था कि," मैंने पूरे साहस के साथ कहा, "कह रहा था कि वो रेवती है न...वह...तुम जानती हो, वह कहां गई है ?"

हालांकि मैंने बीच में ही बात बदलने की कोशिश की थी, लेकिन तब तक लता की मुखमुद्रा पूरी तरह बदल चुकी थी। गर्दन झुकाकर कुछ देर वह खामोश रही फिर अपने बड़प्पन का पूरा अधिकार लेकर उसने कहा, "तुझे क्या मतलब—वह कहां मरने-कटने गई है। देखती हूं यहां बैठकर तुम लोग

एक कमरे का घर

कमरे की रोशनी लगभग एक घंटे से गुल थी। खिड़की-दरवाजे सभी बंद। उस घने अंधेरे में अपना ही हाथ सूझना कठिन था, फिर भी कुछ तो टटोलकर और कुछ अंदाज से एहसान अपनी बीवी की खाट तक पहुंच गया।

"बिब्बी !" एक क्षण बाद उसने मुंह दबाकर धीरे से आवाज दी और पूछा, "क्या सो गईं ?"

कोई उत्तर नहीं आया।

बिब्बी की खाट से चंद गज के फासले पर सबीहा का बिस्तर लगा था और वह मुन्नी को लेकर सो रही थी। उसी समय वहां चारपाई के चरमराने और करवट बदलने की आवाज हुई।

क्या सबीहा अभी भी जाग रही है ?—चौंककर एहसान ने उस ओर यूं देखा जैसे अंधेरे के बावजूद उसकी आंखें दृश्य को पकड़ लेंगी। झिझककर पहले वह रुक गया, कुछ पल वैसे ही गुजर जाने दिए, फिर अंधेरे में ही हाथ बढ़ाकर उसने बिब्बी के शरीर को जोर से पकड़ लिया।

"अं-अ···" बिब्बी के मुंह से बस कुछ उनींदी, अलसाई और उकताई-सी

आवाज निकली।

"सुनो !" एहसान ने उसके शरीर को धीरे-धीरे झकझोरते हुए फुसफुसाकर कहा, "क्या सचमुच सो गईं ?"

"आं !" विव्वी चौंकी। उसने वैसा ही उनींदा और संक्षिप्त-सा जवाब दिया, "नईं।"

"आ रही हो ?" एक पल सोचने के बाद एहसान ने पूछा।

फिर कुछ क्षणों का मौन। उसकी बाईं ओर गोद का वच्चा पप्पू सो रहा था। विव्वी ने एहसान का हाथ धीरे से अपने शरीर से हटा दिया। वोली नहीं, करवट लेकर उसने सवीहा की ओर मुंह कर लिया, मानो उधर की आहट लेकर पूरी तरह आश्वस्त हो जाना चाहती थी कि कहीं सवीहा जाग तो नहीं रही।

"वह सो चुकी है।" जल्दी और कुछ उतावले-से स्वर में एहसान ने कहा। स्पष्ट ही उसकी आवाज में झुंझलाहट भी थी, पर उसने उस ओर विल्कुल ध्यान ही नहीं दिया। झुककर उत्तेजनापूर्वक वह विव्वी के गालों पर हाथ फेरने लगा।

ऊउउउउ अ···ऊउउउउउ अ !

जीवाजीगंज के छोटे-से स्टेशन पर किसी मालगाड़ी ने तीखी और कर्कश सीटी दी। एक क्षण को रात का सारा ऊंघता हुआ माहौल कांपकर रह गया। वह आवाज एक ही पल में दूर-दूर निकल गई, लेकिन वड़ी देर तक लगता रहा जैसे गोल पहाड़ियों पर उसकी गूंज रवर की गेंद की तरह पटखनी खा रही है।

अंधेरे में मानो चोरों की तरह खड़े रहना और उल्लू की तरह ताकना। एहसान का जी हो रहा था कि वह वैठ जाए। सर्दी ऐसी न थी और वह शरीर से काफी स्वस्थ भी था, लेकिन जाने क्या वजह थी कि विव्वी की खाट पर झुकते ही घुटनों के नीचे उसकी टांगें धीरे-धीरे कांपने लगती थीं।

"क्यों ?" अंत में पत्नी की खाट पर वैठने की अपनी इच्छा पर वड़ी मुश्किल से कावू पाते हुए एहसान ने पूछा।

"चलो, आती हूं।"

आश्वासन से अधिक प्रार्थना-भरे स्वर में विव्वी वोली और कोहनियों के वल विस्तर पर उठकर, पप्पू को धीरे-धीरे थपकियां देने लगी।

वापसी में वाईं ओर की दीवार के पास वह ठिठक गया। पति-पत्नी दोनों ने मिलकर मनी-प्लांट की एक वेल लगा रखी थी। टैलकम पाउडर के खाली

एक कमरे का घर

कमरे की रोशनी लगभग एक घंटे से गुल थी। खिड़की-दरवाजे सभी बंद। उस घने अंधेरे में अपना ही हाथ सूझना कठिन था, फिर भी कुछ तो टटोलकर और कुछ अंदाज से एहसान अपनी बीवी की खाट तक पहुंच गया।

"बिब्बी!" एक क्षण बाद उसने मुंह दबाकर धीरे से आवाज दी और पूछा, "क्या सो गई?"

कोई उत्तर नहीं आया।

बिब्बी की खाट से चंद गज के फासले पर सबीहा का बिस्तर लगा था और वह मुन्नी को लेकर सो रही थी। उसी समय वहां चारपाई के चरमराने और करवट बदलने की आवाज हुई।

क्या सबीहा अभी भी जाग रही है?—चौंककर एहसान ने उस ओर यूं देखा जैसे अंधेरे के बावजूद उसकी आंखें दृश्य को पकड़ लेंगी। झिझककर पहले वह रुक गया, कुछ पल वैसे ही गुजर जाने दिए, फिर अंधेरे में ही हाथ बढ़ाकर उसने बिब्बी के शरीर को जोर से पकड़ लिया।

"अं-अ···" बिब्बी के मुंह से बस कुछ उनींदी, अलसाई और उकताई-सी

आवाज निकली।

"सुनो !" एहसान ने उसके शरीर को धीरे-धीरे झकझोरते हुए फुसफुसाकर कहा, "क्या सचमुच सो गईं ?"

"आं !" विव्वी चौंकी। उसने वैसा ही उनींदा और संक्षिप्त-सा जवाव दिया, "नईं।"

"आ रही हो ?" एक पल सोचने के वाद एहसान ने पूछा।

फिर कुछ क्षणों का मौन। उसकी वाईं ओर गोद का वच्चा पप्पू सो रहा था। विव्वी ने एहसान का हाथ धीरे से अपने शरीर से हटा दिया। वोली नहीं, करवट लेकर उसने सवीहा की ओर मुंह कर लिया, मानो उधर की आहट लेकर पूरी तरह आश्वस्त हो जाना चाहती थी कि कहीं सवीहा जाग तो नहीं रही।

"वह सो चुकी है।" जल्दी और कुछ उतावले-से स्वर में एहसान ने कहा। स्पष्ट ही उसकी आवाज में झुंझलाहट भी थी, पर उसने उस ओर विल्कुल ध्यान ही नहीं दिया। झुककर उत्तेजनापूर्वक वह विव्वी के गालों पर हाथ फेरने लगा।

ऊउउउउ अ···ऊउउउउ अ !

जीवाजीगंज के छोटे-से स्टेशन पर किसी मालगाड़ी ने तीखी और कर्कश सीटी दी। एक क्षण को रात का सारा ऊंघता हुआ माहौल कांपकर रह गया। वह आवाज एक ही पल में दूर-दूर निकल गई, लेकिन वड़ी देर तक लगता रहा जैसे गोल पहाड़ियों पर उसकी गूंज रवर की गेंद की तरह पटखनी खा रही है।

अंधेरे में मानो चोरों की तरह खड़े रहना और उल्लू की तरह ताकना। एहसान का जी हो रहा था कि वह बैठ जाए। सर्दी ऐसी न थी और वह शरीर से काफी स्वस्थ भी था, लेकिन जाने क्या वजह थी कि विव्वी की खाट पर झुकते ही घुटनों के नीचे उसकी टांगें धीरे-धीरे कांपने लगती थीं।

"क्यों ?" अंत में पत्नी की खाट पर वैठने की अपनी इच्छा पर वड़ी मुश्किल से कावू पाते हुए एहसान ने पूछा।

"चलो, आती हूं।"

आश्वासन से अधिक प्रार्थना-भरे स्वर में विव्वी वोली और कोहनियों के वल विस्तर पर उठकर, पप्पू को धीरे-धीरे थपकियां देने लगी।

वापसी में वाईं ओर की दीवार के पास वह ठिठक गया। पति-पत्नी मिलकर मनी-प्लांट की एक वेल लगा रखी थी। टैलकम पाउडर

डिब्बे में पानी भरकर फैलाई गई बेल कमरे को देखते हुए बेमेल लगती थी। अंधेरे में आते-जाते यह डर अलग बना रहता था कि उसके पॉट को धक्का न लगे या उसकी कोई नई पत्ती न टूट जाए···ऐसी चीजें तो बड़े या कुशादा घरों में ही सजती हैं, उसने सोचा और एहसान के मुंह से गाली निकली। निकली नहीं, केवल मन में घुमड़कर रह गई। झुंझलाहट में उसके दांत-होंठ भिंचे और अपनी चारपाई पर आकर बैठने के बावजूद उसे बड़ी देर तक बेचैनी महसूस होती रही।

पर गाली दी तो किसे? किस पर झुंझलाहट आई? क्या बिब्बी पर? (घंटे भर से प्रतीक्षा करवाने के बावजूद वह क्यों नहीं आ रही है?) सबीहा पर? वह सो क्यों नहीं जाती? मकान-मालिक पर? (साले ने दड़बानुमा मकान बनवाया है—ऐसा मकान जिसमें एक छोटा परिवार भी ठीक से गुजर नहीं कर सकता···)

और कंपनी—जी० एम० फार्मेसी लिमिटेड···

कंपनी के नाम पर वह ठहर गया। कुछ भी हो, इतनी अहसान-फरामोशी ठीक नहीं। पांच बरस से जिस फार्मेसी में नौकरी बनी हो और जो अस्तित्व बनाए रखने का माध्यम हो, उसके प्रति कृतज्ञता चाहे न दिखाई जाए, शिकायत तो नहीं ही करनी चाहिए।

"तुम्हें कंपनी बुलाने तो गई नहीं थी।" उसकी ऐसी ही शिकायत पर सक्सेना ने एक दिन दो-टूक कह दिया था, "जो प्रोफेशन तुमने खुद चुना है या जिस जिंदगी में तुम सोच-समझकर आए हो, या तो उसे ग्रेसफुली निभाओ या छोड़ दो। यह क्या है कि कंपनी के हो भी और नहीं भी हो। काम भी करते हो और झींकते भी हो, या झींकते भी हो और काम भी किए जाते हो···!"

तीन साल पुरानी सरकारी नौकरी छोड़कर जब वह स्कूल के एक कमरे से बाहर आया था, तो इसी प्रोफेशन के प्रति कितना उत्साह समाया हुआ था। ठीक वैसे ही जैसे कॉलेज के दिनों में उसे अध्यापन का पेशा लगा था। पढ़ाई समाप्त होने के पहले ही उसने निश्चय कर लिया था कि पेशे के रूप में वह अध्यापन ही अपनाएगा। लगता था, पैसे चाहे उसमें अच्छे न मिलें, ऊपर की खोखली प्रतिष्ठा भी उसमें भले ही न हो, ईमानदारी से काम करने का संतोष सबसे अधिक इसी पेशे में होता है···इसी कामना को लेकर वह छोटे-से कस्बे में रह गया था और जिंदगी के तीन बरस एक छोटे और घटिया किस्म के सरकारी स्कूल को दे दिए थे। लगातार तीन-तीन साल तक उस स्कूल के एक ही कमरे में अपनी जिंदगी को बांध देना और एक विषय के वही रटे-रटाए जुमले बोले जाना···और यह जानते हुए भी कि वह नौकरी

मुस्तकिल नहीं थी और गर्मी की छुट्टियों में हर साल उसे नोटिस मिल जाया करता था, पहले-पहल उसके उत्साह में कमी नहीं हुई थी। दूसरों की देखा-देखी भी उसने अपना रवैया नहीं बदला था और तीन साल उसी अवास्तविक धरातल पर रहते-रहते बीत गए थे।

वह तो महज इत्तफाक था या फिर जाने उसके पीछे क्या था कि अंतिम वर्ष की छुट्टियों में एक दिन सहसा उस पेशे का खोखलापन उसके सामने प्रकट हो गया और एकाएक उसका जी बिल्कुल उचट गया। फिर उस पेशे की एक हजार कुरूपताएं आंखों के आगे खड़ी हो गईं। पहली बार एहसान को लगा था कि बावजूद मानसिक परेशानियों के तीन बरस वह घोर आर्थिक अभाव और मानसिक यातना में जीता रहा है, जबकि देखते-देखते उसी का एक दोस्त 'फिलिप्स' में चला गया, दूसरा 'बर्मा शैल' में और तीसरा कैप्टन होकर मिलिट्री में···

सब आगे निकल गए। उस दिन अपना ही जायजा लेते हुए एहसान ने सोचा था—ब्रजभूषण और बालकृष्ण जैसे गधे, रमेश और सेठी जैसे खिलंडरे और यहां तक कि लक्ष्मीनारायण जैसे अहमक भी; सिर्फ वही इस दौड़ में पीछे छूट गया है—कहीं बहुत पीछे···बहुत···

और बिना किसी विशेष कारण के एहसान की मनःस्थिति अजीब हो गई थी। रात-दिन उसके भीतर बस एक ही वाक्य गूंजता हुआ लगता कि वह पीछे छूट गया है—पीछे। उसके जैसे ब्राइट स्टुडेंट की क्या यही जिंदगी होनी चाहिए थी? रहने के लिए धूल-धक्कड़-भरा छोटा-सा कस्बा, सांस लेने के लिए घटिया बातों से भरा हुआ स्कूल का माहौल और सुनने के लिए दिन-दिन भर पेंडकी की उदास और एकरस पुकार···

ऐसे ही एक दिन बाहर से आए हुए किसी मेडिकल फर्म के एक सेल्स मैनेजर कुरैशी से मैत्री हो गई थी और जरा निकट आते ही उसने देखा कि प्रथम कोटि का जीवन-स्तर निभाने वाला वह व्यक्ति बौद्धिकता की दृष्टि से कितना साधारण और सामान्य है!

"मेरी हालत तो आपसे भी गई-बीती थी!" उस रात कुरैशी ने बताया था। एहसान कुरैशी के साथ डिनर के लिए आमंत्रित था और कस्बे के एक-मात्र ऑफिसर्स क्लब से लौट रहे थे—उस क्लब से, जहां इससे पहले दाखिल होने की बात भी उसने नहीं सोची थी। नफीस से नफीस कारों, लक-दक करती सुंदर पत्नियों और आलीशान बंगलों वाले अधिकारियों के बीच एक हाईस्कूल का मास्टर कितना दयनीय और छोटा-सा प्राणी लगता है! जब तक कुरैशी कस्बे की बहुचर्चित सुंदरी मिसेज दत्ता के साथ बैडमिंटन खेलता रहा, एहसान हीनभाव से गठरी बना बैठा रहा। उस स्थिति से वह डाक-

बंगला लौट आने तक भी नहीं उबर पाया था।

फिर डिनर के पहले कुरैशी का चालीस-चालीस रुपये की शराब पी जाना और वे सारे किस्से कि कैसे बावजूद सारी योग्यता और बड़ी से बड़ी डिग्रियों के वह मामूली से मामूली सरकारी नौकरी के लिए धक्के खाता फिरता था…

"असल में इसकी जड़ कहीं और है," उसने एहसान को कॉन्फिडेंस में लेकर कहा था, "सिर्फ संविधान में लिखकर ही तो आप किसी मुल्क को सैक्युलर नहीं बना सकते। उस मनोवृत्ति का आप क्या करेंगे कि आपका 'एम' होना ही सबसे बड़ी अयोग्यता मान लिया जाए…?"

'एम !' जैसे ही इस अंग्रेजी अक्षर का संकेत खुला, एहसान चौंक गया था। समस्या का एक पहलू यह भी हो सकता है, यह उसने नहीं सोचा था। और सहसा उसे लगा था कि कुरैशी ने झूठ नहीं कहा और अपने आप ही उसका विश्वास जमने लगा कि वह आगे नहीं बढ़ पाया, उसका कारण यही है कि वह 'एम' है, वरना—

"क्या सरकारी नौकरी आपको बहुत प्यारी है ?" एक प्रश्न कुरैशी का यह भी था।

"प्यारी ! नहीं तो…सिवाय सिक्यूरिटी के इसमें होता ही क्या है ?"

'सिक्यूरिटी !' जवाब देने के बाद भी एहसान ने मन-ही-मन इस शब्द को कई बार दुहरा लिया। क्या सिर्फ नौकरी की सिक्यूरिटी के लिए वह इस पेशे में आया था ? उन स्वप्निल आदर्शों का क्या हुआ, जो अध्यापक बनने के पहले उसके मन में बुने हुए थे ? कहीं उस मोह-भंग के पीछे अपनी ही कोई दुर्बलता तो नहीं थी ? शायद दूर से हर वस्तु ऐसी ही आकर्षक लगती है और पास आने पर सहसा मोह-भंग हो जाता है। और सिक्यूरिटी भी वहां कहां थी ? खासकर एहसान की नौकरी में, जहां साल के आखिर में नोटिस मिल जाया करता था और नये सैशन के पहले एपाइंटमेंट आर्डर के लिए उसे हर बार भाग-दौड़ करनी पड़ती थी…

उस रात कुरैशी के पास से लौटते हुए एहसान का सिर बहुत भारी था। बड़ी देर तक वह अनिश्चय और अनिर्णय की स्थिति में पड़ा रहा। वह आनन-फानन निर्णय लेकर एक ओर क्यों नहीं हो लेता ? उसे झुंझलाहट हो रही थी—क्या उसका कारण केवल साहस का अभाव था या इसका क्रोधहीन शांत स्वभाव ? कितनी हैरानी की बात है, उसने सोचा। बचपन से अपने स्वभाव के लिए बड़े-बूढ़ों के बीच जो व्यक्ति प्रशंसित, आदृत हो, वही युवावस्था तक आते-आते नई उम्र के साथियों द्वारा अजीब या दया करने वाली दृष्टि से देखा जाए ? कुछ यों कि जो आदमी गुस्सा नहीं कर सकता वह ठंडा और डरपोक

होता है। भला ऐसे व्यक्ति में जूझने या कूद पड़ने की हिम्मत कहां से होगी? तब भी उसे लगता था कि क्रोध दुतरफा धार वाले शीशे की तरह होता है। दूसरे को तो काटता ही है, उस हाथ को भी नहीं छोड़ता, जिससे उसे गति और शक्ति मिलती है। सारी रात उसके मन में केवल वही वात गूंजती रही, जो कुरैशी ने कही थी कि उसके जैसे स्मार्ट व्यक्ति को तो ऐसी लाइन चुननी चाहिए जिसमें अपनी क्षमता दिखा सकने का अवसर हो। ऐसी कोई नौकरी, जिसका दायरा एक कमरा न हो, वाहर की असीम खुली हवा हो, जिसमें प्रगति का आधार जाति-भेद, खुशामद या भाई-भतीजावाद न होकर केवल योग्यता हो···और सिक्यूरिटी? इसकी आड़ तो वे लोग लिया करते हैं जिनमें साहस का अभाव होता है, आत्म-विश्वास नहीं होता और जो बुनियादी तौर पर अयोग्य होते हैं···

सुवह तक एहसान निर्णय ले चुका था। उस वार के नये सैशन के पहले एहसान ने कोई भाग-दौड़ नहीं की और न ही स्कूल खुलने के वाद वह अहाते में घुसा। लोगों ने देखा कि कुरता-पाजामा पहनने वाले एहसान की हुलिया एकाएक वदल गई है—शरीर पर अच्छी तरह सजने वाला खूबसूरत सूट, वढ़िया टाई और हाथ में एजेंटों वाला वैग! वह जी० एम० फार्मेसी लिमिटेड का मेडिकल रिप्रेजेंटेटिव वन गया था—

"अरे सवीहा, तुम!"

जैसे ही दरवाजा खुला, आश्चर्य-चकित और हतप्रभ एहसान के मुंह से वस इतना ही निकला था। हाथ की अटैची उसने रख दी थी। शायद नीचे छूट जाने दी। कहने लगा, "तुम यहां···!"

सवीहा वोली नहीं। उस आश्चर्य का आनंद लेती हुई धीरे-धीरे मुस्कराई और उसने आदाव किया।

"आपको शिकायत थी न?" भीतर आने पर सवीहा ने पुलकित-सी आवाज में कहा, "शिकायत थी न कि मैं आती नहीं या मां-वाप का घर ही मुझसे नहीं छूटता। सोचा, चलो हो ही आएं। छोटी आपा और भाईजान भी क्या याद करेंगे···"

"भई खूव! अच्छा किया···वहुत अच्छा किया···" रुक-रुककर शब्द पर पूरा जोर देकर एहसान ने कहा, "लेकिन एकाएक कैसे? न खत; न खवर। और इतनी दूर किसके साथ?"

"चचाजान दिल्ली गए हैं," दोनों के बीच में आकर विब्बी ने वताया था, "उन्हीं के साथ परसों सवीहा आई है। अम्मां ने सोचा होगा कि दो-चार

माह बाद तो यह पराई हो ही रही है, जब तक शादी नहीं होती, धूम-धाम ही आए वर्ना फिर कहां होता है···क्यों ?" और सहसा बात को मोड़ देकर उसने पूछा, "कहो तो हाथ-मुंह धोने के लिए पानी निकालें ?"

बहुत ही ठंडे ढंग से उठकर एहसान धूल-सने कपड़े बदलने लगा था।

जब तक वह खाना खाता रहा, बिब्बी तथा सबीहा दोनों बहनें और खासकर सबीहा एहसान से बातें करती रहीं। घर-परिवार, अम्मा-अब्बा सबकी चर्चा। फिर थोड़ी-सी मिजाजपुर्सी के बाद उसने कहा, "भाईजान, क्या इतना-सा घर आपको बस हो जाता है ?"

"कहां ?" कुछ चौंककर एहसान ने सहमा-सा जवाब दिया था, "बस ही होता तो फिर क्या था !"

उसे याद आया कि पिछली बार जब वह ससुराल गया था तो बिब्बी ने उसके सामने ही घरवालों से अकारण झूठ बोल दिया था। कहा था कि उन्हें ग्वालियर में एक बहुत उम्दा मकान मिल गया है और सत्तर रुपए किराया देते हैं। वास्तविकता तब भी यही थी कि वे लोग इसी एक कमरे वाले घर में रहते थे और किराया अठारह रुपए से ज्यादा न था।

और लम्हे-भर को लगा जैसे सबीहा के सामने पिछला झूठ खुल ही गया, लेकिन बिब्बी ने बात संभाली थी, "अब क्या करें ? पिछला उम्दा मकान छोड़ना पड़ा तो हमारे नसीब के लिए यही एक घर रह गया था। इतने बड़े ग्वालियर में ऐसा मुहल्ला मिला है कि लगता है जैसे रेलवे स्टेशन में रह रहे हैं। पीछे से ही रेलवे लाइन जाती है। बस, चौबीसों घंटे गाड़ियों, इंजिनों का शोर और सीटियों की आवाज। मकान बदलने के लिए कहो तो इन्हें फुरसत मिलने से रही। रात-दिन भागमभाग, दौरा···दौरा···मैंने भी सोच रखा है कि देखूं मेरे सब्र का और कितना इम्तिहान लिया जाता है···"

"किसके सब्र का ?" एहसान ने हंसकर पूछा, "मेरे या तुम्हारे ?"

"मैं अपना ही कह रही हूं। धीरज की परीक्षा तो उसकी होती है जो भोगता है। तुम्हारा क्या है ? इधर से आए और उधर चले। भला बताओ, जो महीने में पच्चीस-सत्ताईस दिन बाहर रहे और मुश्किल से दो-एक दिन घर पर बिताए, उसका घर कहां हुआ—घर या बाहर ?"

विनोद, मजाक और झूठ के बहाने इतना कड़वा और तीखा सच ! उस बात पर औपचारिकता के लिए हंसते हुए एहसान को अपनी हंसी खुद ही खोखली लगी थी और वह सबीहा से साली का रिश्ता याद करके उल्टे-सीधे मजाक करने लगा था। ठीक यों जैसे अपने सहयात्री के सामने थकावट का भ्रम न खुल जाए, इस डर के मारे कोई जोर-जोर से चलने लगे। उसे लगा था कि वहां खतरा दुहरा है। पिछले दिनों जब एहसान की अम्मा उनके पास

एकाध महीने के लिए आई थी, तो बिब्बी की स्थिति भी ऐसी हो गई थी। दोनों जानते थे कि मन से चाहते हुए भी, कम-से-कम उस मकान में वे अम्मा का स्वागत नहीं कर पा रहे थे। मगर किसी-न-किसी तरह बिब्बी बार-बार यह जताना न भूलती थी कि उसे अम्मा के आने से बहुत खुशी हुई है···

"तुम्हारी कसम, बहुत थक गया हूं।" एकाएक बिब्बी का हाथ पकड़ते हुए एहसान ने कहा। तब तक सबीहा अपनी खाट पर चली गई थी और दस्तर-ख्वान के बर्तन उठाने के लिए बिब्बी पास आई थी।

"सो जाओ।" धीरे से हाथ छुड़ाकर बिब्बी ने जवाब दिया। उसका स्वर संयत था।

"सो कैसे जाऊं ?" अर्थपूर्ण दृष्टि से देखते हुए एहसान ने कहा। एक हाथ से वह बिब्बी को और पास खींचना चाहता था, पर वह नहीं आई और चुपचाप काम करने लगी।

"सबीहा कहां सो रही है ?" उसने डरते-डरते पूछा।

"और कहां सोएगी ?"

सुनकर अपने होंठ काटता हुआ वह चुप रह गया था। थोड़ी देर में बर्तन-अर्तन सहेजने के बाद जब उस छोटे-से किचन की बत्ती बुझाकर बिब्बी कमरे में जाने लगी, तो चील की तरह झपट्टा मारकर एहसान ने उसे दबोच लिया। फिर वहशियाना किस्म की उत्तेजना में उसका बीवी के होंठों को संतरे की तरह चूसना, सांसों की धौंकनी और टांगों का नीचे-ही-नीचे कांपना—और जब सबीहा की याद दिलाकर बिब्बी बरबस छूटने लगी, तो उसने एक अमर्यादापूर्ण हरकत कर दी थी—ऐसी, जिसकी उसे स्वयं भी कल्पना न थी। तब भी नहीं जबकि वह बेहद स्नायविक तनाव में कई-कई दिन लगातार सफर करता रहा और घर आते हुए सारी राह आंखों में पत्नी की तस्वीर थी—ऐसी तस्वीर जो लंबे प्रवास के बाद लौटते हुए केवल पति की ही आंखों में हो सकती है···

क्या इस अस्वाभाविक और तनावपूर्ण जिंदगी को सहज और स्वाभाविक बनाकर नहीं जिया जा सकता ? बिब्बी ने यह या ऐसा ही कोई प्रश्न एक दिन किया था और एहसान को लगा था जैसे उसके भीतर की ही किसी गूंज को बिब्बी ने पकड़ लिया है—वह गूंज, जिससे उसका इधर दिन-रात का साथ हो गया है और जिसका हर उस बार शिद्दत से एहसास होने लगता है जब एजेंटों वाला बैग उठाए वह खानाबदोशों की तरह शहर-शहर भटकता है···। कंपनी के सुपरवाइजर का डर, सालाना टारगेट पूरा करने की चिंता·· कंपनी के सड़े-से-सड़े प्रोडक्ट्स को पुश करने के लिए डॉक्टरों की खुशामद और केमिस्टों से घंटों चखपख···। प्रायः ट्रेन के एक छोटे-से कंपार्टमेंट में ही रात होती है, दिन

उगता है, फिर रात होती है और पिछले पांच वरसों से यही सव हो रहा है। यही भागमभाग, तनाव और वाहर की जिंदगी···महीने में सत्ताईस दिन यानी दो महीने में चौव्वन, साल में कितने ? तीन सौ पैंसठ दिन में···

सहसा इतनी जोर से चीख मारकर पप्पू रो पड़ा कि एहसान चौंक कर उठंगा हो गया। वेसाख्ता उसके मुंह से निकला, "क्या हुआ ?"

विव्वी ने एहसान को सीधे जवाव नहीं दिया। शायद स्थिति समझाने के लिए उसने पप्पू के कसकर तमाचा लगा दिया और झुंझलाहट सहित उठकर वत्ती जला दी। एक-डेढ़ घंटे वाद वहां फिर उजाला हुआ, फिर रोशनी लौटी और अव तक अंधेरे में जो कमरा खोया पड़ा था, वह फिर से उजागर होकर एहसान की आंखों में चुभने लगा···

'वत्ती क्यों जला दी ?' अपनी आंखों पर हथेली की आड़ देकर वह कहना चाहता था। लेकिन जैसे ही उसकी नजर विव्वी की खाट पर पड़ी वह चुप हो गया। पप्पू अभी भी रो रहा था और उसके नीचे के कपड़े वदले जा रहे थे। मुन्नी के चेहरे पर से होती हुई सहसा उसकी आंखें दीवार के मनी-प्लांट पर उठ गईं। वेल में विलकुल हृदय की आकृति की एक नयी पत्ती निकली थी और उसी के वगल से एक नन्हा-सा अंकुआ झांक रहा था। एहसान उसे देर तक देखता रहा। शायद पत्ती के आकार के कारण उसे स्कूली दिनों की याद आ गई। 'शरीर-विज्ञान' की कक्षा में हृदय के चार कमरे वाली रचना समझाते हुए उसे एक विलकुल निजी और अवैज्ञानिक-सी जिज्ञासा हुआ करती थी। वह सोचा करता था कि मन की सुकुमार और कोमलतम अनुभूतियां निश्चय ही दिल के किसी एक कमरे में वंद होती होंगी···किस कमरे में ?

वह नाहक वहक जाता है, उसने सोचा। फिर एक उड़ती नजर सवीहा के सोये हुए शरीर पर डालकर उसने करवट वदल ली। करवट, यानी सारे दृश्य की ओर पीठ करके दीवार की ओर मुंह। खिड़की की दराजों से वाहर की रात का भारीपन और सन्नाटा महसूस हो रहा था। समूची गली आश्चर्यजनक रूप से चुप पड़ी थी। जव जीवाजीगंज स्टेशन पर कोई मालगाड़ी रुकती या वहां कोई इंजन सीटी मारता हुआ धीरे-धीरे सरकता तो गोल पहाड़ियों में गूंजने वाली उसकी प्रतिध्वनि के कारण एहसान को लगता जैसे वह घर पर न होकर ट्रेन में हो—किसी ऐसी फास्ट ट्रेन में, जो उसे पेट में दवाये चीखती-हहराती तेजी से भागी जा रही है···

और तव एक क्षण के लिए वह विलकुल भूल गया कि ट्रेन में न होकर वह घर पर पड़ा है। पिछले सत्ताईस दिनों के दौरे में एकाध दिन को छोड़कर

उसकी यही कैफियत रही है कि वह ऊपर वाली बर्थ पर लेटा है। कंपार्टमेंट के समूचे दृश्य की ओर उसकी पीठ है और दीवार की ओर मुंह। वातावरण में शोर और सीटियां। ट्रेन एक-एक स्टेशन छोड़ती हुई अबाध गति से भागी जा रही है और अनवरत हिचकोलों से उसका शरीर धीरे-धीरे हिल रहा है···

कहीं उसका शरीर हिल तो नहीं रहा। पल-भर ठहकर उसने अपने-आपको जांचना चाहा और यह देखकर वह चकित रह गया कि उसके शरीर के अवयव वास्तव में यूं हिल रहे थे मानो आहिस्ते-आहिस्ते धक्के लग रहे हों··· क्या वह सचमुच घर पर ही है।

एकाएक अचकचाकर उसने वह करवट तोड़ दी। पलटकर घबराहट भरी आंखों से सारे कमरे को यूं देखने लगा मानो अपने को आश्वस्त कर लेना चाहता हो कि वह घर पर ही है। हां, घर ही है। वह बच्ची मुन्नी सोई है··· वह सबीहा, वह पप्पू और उसे लेकर वह बिब्बी···

"बिब्बी !" उसने व्याकुल और अधीर से स्वर में पुकारा, "पप्पू सो गया ?"

"सो रहा है।"

"लाइट बुझा दूं ?"

"रहने दो," ठंडा-सा जवाब मिला, "मैं बुझा लूंगी।"

एक क्षण झुंझलाई आंखों से घूरने के बाद निहायत बेचैनी के साथ एहसान करवट बदलने ही वाला था कि उसी समय सबीहा ने भी अपने मुंह से चादर हटाई। कुछ उनींदापन और कुछ बोझिलता लिये वह एकाएक उठी और दरवाजा खोलकर बाहर पिछवाड़े की ओर निकल गई।

और एक बार फिर झुंझलाते या अपने-आप से झींकते हुए एहसान को लगा कि वह केवल मूर्खतापूर्वक हवा में मुक्के मार रहा है। वह चुपचाप सो क्यों नहीं जाता ? सत्ताईस दिनों के दौरे, लगातार सफर और इतनी थकावट के बावजूद उसे नींद क्यों नहीं आ रही ? और समय रह ही कितना गया है ? रात है कि छोटे कर्मचारियों के वेतन की तरह हाथ से उड़ी जा रही है। बस चंद घंटे और···सिर्फ चंद घंटे···

और अचकचाकर वह बिस्तर पर उठ बैठा। खाट के पास ही बिब्बी उसकी ओर सहमा-सा हाथ बढ़ाए खड़ी थी और उसे भयभीत आंखों से घूर रही थी।

"क्या···क्या है ?" एहसान के मुंह से कुछ घिग्घी-बंधी, कुछ जोर की

और कुछ घबराई-सी आवाज निकली। लेकिन शब्दों के निकलते-न निकलते उसकी चेतना लौट आई थी। वह कुछ बोलता कि बिना कुछ कहे बिब्बी किचन की ओर चली भी गई। वह जगाने आई थी। लज्जित-सी गर्दन झुका-कर उसने राहत और छुटकारे की सांस ली।

आश्चर्य है! क्षणकाल के लिए वह बिब्बी को पहचान नहीं पाया था। उसे लगा था जैसे वह नींद की ही स्थिति में है और सामने वही सपने वाला दैत्य उसकी ओर अपने लंबे-लंबे हाथ बढ़ा रहा है।

फिर वही सपना! माथे और गले का पसीना पोंछते हुए एहसान ने सोचा, 'वही जिसकी आशंका से अक्सर उसे रात बड़ी देर तक नींद नहीं आती और आती भी है, तो कहीं भीतर-भीतर बराबर भय बना रहता है। पिछले पांच बरसों से यही हो रहा है। कितनी हैरानी की बात है कि एक ही सपना उसे रूप बदल-बदलकर तंग करे और ऊपरी रूप चाहे बदल जाए, उसकी एक निश्चित आकृति कभी भी न बदले। भयानक काला सिर, खूब बड़ी-सी एक रोशन आंख और गेरुए रंग का बेहद लंबे शरीर वाला कोई विकराल दैत्य अपने असंख्य पैरों से दौड़ता और चिंघाड़ता हुआ उसका पीछा कर रहा है। एहसान बचने के लिए भागना चाहता है, लेकिन पांव ही साथ नहीं देते। धाड़...धाड़...धाड़...घबराकर वह मुंह के बल गिर पड़ता है और आने वाले क्षण के भय से उसकी आंखें कसकर मुंद जाती हैं, गले से एक कातर और स्वरहीन चीख निकलती है और...वह देखता है कि सामने बिब्बी खड़ी है और वह पसीने-पसीने हो गया है...

ऊउउउउअ...ऊउउउउअ!

जीवाजीगंज के छोटे स्टेशन में सहसा कोई इंजिन शंटिंग करने के लिए खुल गया। उसी समय तीन मील दूर के मेन-स्टेशन से भी सीटी की एक ऐसी ही आवाज कर्कश होकर हल्के तैर आई। एहसान ऐसे चौंक पड़ा मानो लम्हे के उसी जरा-से टुकड़े में ही उसकी नींद खुली हो। उसने लपककर मेज पर रखी रिस्ट-वाच उठाई, "छह बज रहे थे। छह!" कुछ अविश्वास सहित उसने खिड़की खोलकर गली में देखा। निश्चय ही रात गुजर चुकी थी। बाहर की हवा में हल्का-हल्का उजास फूट आया था। रोज के नियम के अनु-सार पड़ोसी सोनी जी गली वाले कुएं की जगत पर नहा रहे थे। शीत और कंपकंपी ने लंबी होकर खिंचती और ऊंची हुई जाती उनकी आवाज समूचे मुहल्ले में जल्दी-जल्दी गूंज रही थी, 'हरे कृष्ण! हरे कृष्ण! हरे कृष्ण!'

"क्या अभी चार बजे हैं?" पलटकर बिब्बी को देखते ही एहसान की नसें तन गईं।

"मैं तो तब से जगा रही हूं।" पत्नी ने संयत स्वर में कहा। झुककर

उसने चाय का प्याला और पानी का गिलास सामने वाले स्टूल पर निर्दोष-भाव से रख दिया ।

और एक क्षण के भीतर एहसान की आंखों में रात की पूरी तस्वीर कौंध गई । स्नायविक तनाव की अपनी विस्फोट-सी स्थिति, थकावट और थोड़े-से समय के बावजूद बिब्बी के लिए उसकी अधीर और निर्लज्ज प्रतीक्षा और···

"ले जाओ," चाय का प्याला परे धकेलकर उसने उपेक्षापूर्वक कहा, "तुमसे कहा नहीं था कि मुझे चार की गाड़ी से जाना है ?" झल्लाए हुए स्वर में वह जोर से बोला, "कहा नहीं था कि सुपरवाइजर चैकिंग के लिए आया है और मुझे उससे मिलना जरूरी है। छुड़वा दी न गाड़ी ? कर दिया न मुझे चौपट···"

और वह इल्जाम रखते हुए एहसान को लगा जैसे सचमुच वह चौपट हो गया हो । जैसे आज की चार बजे वाली गाड़ी का संबंध एक साधारण कार्य-क्रम से न हो, सीधे उसके अस्तित्व के होने या न होने से हो या जैसे एक दिन की एक गाड़ी न छूटी हो, नौकरी ही छूट गई हो और उसके लिए बिब्बी ही उत्तरदायी हो ।

"हटाओ यह सब···" स्टूल पर कसकर एक लात जमाते हुए वह जोर से गरजा । एक क्षण में चाय का प्याला टूटकर सारे कमरे में फैल गया । शीशे का गिलास फर्श पर ऐसे टकराया कि उसका एक टुकड़ा उछलकर मनी-प्लांट को चीरता हुआ दूर जा गिरा ।

पर एहसान ने नहीं देखा । नहीं देखा कि भयभीत मुन्नी और सबीहा के बीच, शीशे की धार से बिंधकर वही नन्हा अंकुआ पड़ा है ।

वह क्रोध में अंधा होकर जोर-जोर से गालियां बक रहा था ।

उस कमरे की उसी जगह और उसी खाट पर पड़े-पड़े एहसान ने चार घंटे बिता दिए थे, पर घर के वातावरण का तनाव ज्यों-का-त्यों बना हुआ था ।

सुबह वाली घटना के बाद मुन्नी, सबीहा और बिब्बी, सभी वहां से खिसक गई थीं । शायद सबकी-सब उसी छोटे-से किचन में ठुंसी हुई थीं, पर यों किसी की उपस्थिति की आहट नहीं मिल रही थी ।

कमरे का कच्चा फर्श साफ हो चुका था । वहां न अब कोई बिंधा हुआ अंकुआ था, न टूटे चूर-चूर कांच और न फर्श पर अंकित कोई चिह्न—थोड़ी ही देर बाद डरते-डरते आकर बिब्बी सब लीप-मिटा गई थी ।

दिन के दस बज रहे थे । नगर ने सदियों पुरानी निर्मल जिंदगी की टेक पकड़ ली थी । लोग दफ्तरों, लड़के-लड़कियां कालेजों और नीली स्कर्टों तथा लाल रिबनों वाली बच्चियां स्कूलों की ओर जा रही थीं—सिर्फ एहसान

ही अब तक दीवार की ओर मुंह किए विस्तर पर पड़ा हुआ था—प्रकट में क्रोधित, लेकिन पिछले दो घंटों से उसने बीसियों बार उठने की असफल कोशिश की थी। वह जानता था कि सभी भयभीत हैं। सबीहा या बिब्बी कोई भी उसे उठाने या मनाने नहीं आएगी। दरअसल, वह चाह रहा था कि मुन्नी तैयार होकर उसे दिखे या उसके सामने पड़े बिना स्कूल के लिए निकल जाए, तो वह विस्तर छोड़कर उठे△

पत्थरों का तालाब

वह तीसरी दफा घड़ी देख रहा था। मैंने इस बार फिर अनदेखा कर दिया। यों आंख की कोर से मैं रहीम को बराबर मार्क कर रहा था, लेकिन ऊपर से अनजान बनते हुए यूं सामने ताकने लगा, जैसे आने वाले तांगे पर गौर कर रहा होऊं। सच्चाई यह थी कि न तो मैं रहीम को देख रहा था, और न उस मनहूस तांगे को। मेरे लिए एक-एक लम्हा भारी हो गया था। शायद मुझसे भी अधिक उसके लिए। मैं खूब समझ रहा था कि वह किसी भी क्षण उखड़ सकता है।

मानसून के अव्वल-अव्वल दिनों की रात और शहर का सबसे घना इलाका। हम दोनों पत्थरों का तालाब वाली गली के एक नुक्कड़ पर छिपकर जासूसी कर रहे थे।

"व्यासजी," जब तांगा गली में खड़खड़ाता हुआ निकल गया, तो उसने जमुहाई लेते हुए कहा, "मेरा तो ख्याल है खां, कि अब रास्ता देखना फिजूल है।"

"मतलब ?"

"मतलब यह कि अब कोई नहीं आएगा, वापस चलें।

एक क्षण को मुझे उसकी बात का विश्वास नहीं हुआ।

"तुम समझते हो कि मैं झूठ बोल रहा हूं।" अपने रोष को दबाकर मैंने आहत स्वर में कहा। दरअसल, मुझे बेहद गुस्सा आ रहा था। अजीब कम-जर्फ और बेभरोसे का आदमी है। एक तो दसियों टेलीफोन और बीसियों खुशामद के बाद कहीं आया है और आते ही नखरे दिखाने लगा। साला बड़ी दोस्ती का दम भरता था। रहा न आखिर···

"अरे खां, तुम भी हद करते हो।" मनाने के अंदाज में वह मेरी चापलूसी करने लगा, "मैंने कब यह कहा कि तुम झूठ बोल रहे हो। मुमकिन है, उस मां के···का आज कोई ग्राहक ही न फंसा हो। मुमकिन है···"

उसकी दलीलों के पीछे क्या है, यह मैं अच्छी तरह समझ रहा था। सहसा मुझे अपनी सामाजिक स्थिति का भान भी हो आया था। रहीम का वह काम भी, जो इधर मुझसे कराना चाहता है, लेकिन वहां मान दिखाने का कतई मौका न था। अपनी ऊपरी कसावट को थोड़ा-सा ढीला करते हुए मैंने कहा, "तुम्हें कहीं जल्दी तो नहीं है ?"

"बारह बजे से मेरी एक ड्यूटी है," वह धीरे से हंसकर बोला, "और तुमसे क्या छिपाना, ड्यूटी का मतलब है धंधा—अरे खां, एक काम करें। इसे कल पर न छोड़ दें ? साले को कल देख लेते हैं। फिर प्यारे, एक दिन में ही क्या फर्क पड़ता है।"

फर्क ! अपने उस नादान व बेईमान दोस्त और बेवकूफ पुलिस वाले को मैं किस तरह समझाता कि ऐसे मामलों में एक दिन की क्या अहमियत होती है। वैसे भी एक दिन में चौबीस घंटे होते हैं और चौबीस घंटों में···। चोर का भाई गिरहकट। कितनी बेशर्मी के साथ कहता है कि ड्यूटी का मतलब धंधा है। जाएगा साला, किसी सट्टेबाज, जुआरी या अफीम चोर के यहां। पिछला इंस्पेक्टर तिवारी भी अपने काम मे इसी तरह मुस्तैद था। वह भी इसी तरह बेबाकी से बोला करता था, लेकिन उसके कार्यकाल में चोरियों की संख्या तिगुनी हो गई थी। अफवाह थी कि तिवारी खुद चोरी कराता है। फिर शहर में उसकी तिमंजिला बिल्डिंग, लेंब्रेटा और ठाट-बाट देखकर लोगों और अखबार वालों ने हल्ला मचाना शुरू कर दिया था, सो उसका शहर के एक हलके से दूसरे हलके में ट्रांसफर हो गया। बाद में दबी जबान से सुना गया था कि वह किसी मिनिस्टर का आदमी है। होगा, यह साला भी किसी-न-किसी का आदमी जरूर होगा। न सही मिनिस्टर, किसी छोटे-मोटे सेक्रेटरी की शह के बिना किसी की आवाज में इतना बल आ सकता है ?

आवेश और पुंस्त्वहीन क्रोध के मारे दोनों होंठ आपस में चिपकने-खुलने

लगे और मुंह से चप-चप की आवाज निकली। दोस्त लोग जानते हैं कि ऐसे मौकों पर मेरे साथ यही होता है। एक अजीब-सी बेचैनी के तहत मैंने कई दफा पांव बदले, खादी भंडार वाले कुरते की जेबों में कसकर दोनों हाथ ठूंस लिए और कुछ देर तक नाहक और बेकार खांसता रहा।

"थोड़ा और रुक जाओ, भाई," आखिर मैंने गला साफ कर कहा, "पांच-सात मिनट और देख लेते हैं।"

क्या सचमुच आज मायूस ही लौटना पड़ेगा? मैंने उस उखड़ी हुई दीवारों वाले मकान की ओर देखते हुए सोचा, जिसने मुझे इधर कई दिनों से परेशान कर रखा था। वह समूची इमारत गली के सन्नाटे और नीम अंधेरे में डूबी हुई थी। जिस घर पर हम दोनों की आंखें अटकी हुई थीं, वह बंद ही नहीं था, अपने नीले वार्निश वाले दरवाजे के बावजूद यों उजाड़ लग रहा था, जैसे बरसों से वीरान पड़ा हो। यों ऊपर से देखकर कौन कह सकता था कि शराफत का परदा ताने उस घर में एक गंदी मछली रहती है—एक ऐसा कूड़ा, जिसकी सड़ांध का पता समय रहते सिर्फ मुझे हो गया और···

"अरे खां, प्लीज, प्लीज···" इस बार खुशामदाना प्यार से रहीम ने मेरी ठुड्डी पकड़ ली और धीरे से हंसकर बोला, "प्यारे, अब इस गुस्से को तो यहीं रख छोड़ो। कल इसी वक्त आकर अपन उठा लेंगे।"

पता नहीं यह बात व्यंग्य से कही गई थी अथवा विनोद से। क्षणकाल को जी चाहा था कि एक बार उसके चेहरे की ओर आंख उठाकर देखूं, लेकिन अपने ही भीतर के डर ने सहसा जकड़ लिया था। लगा, अगर एक दफा भी मैंने होंठ खोले तो स्वर में अनचाहे ही वह बू आ जाएगी, जो एक अच्छे-खासे रसूख वाले स्थानीय नेता और संभ्रांत शहरी में होती है, और मौके की नजाकत को देखते हुए वह घातक होता।

मुंह पोंछने के बहाने मैंने जेब से रूमाल निकालकर अपनी दोनों हथेलियों पर फैला लिया और दूसरे ही क्षण मेरा सारा कसा हुआ चेहरा रूमाल के खोल में डूबा हुआ था।

यही होता है।

अक्सर यही होता है कि आपकी आंखें फर्लांग-दो फर्लांग की चीजें तो पकड़ लाती हैं, लेकिन ऐन नाक के नीचे क्या लगा है, यह तब तक नजर नहीं आता, जब तक कि कोई आईना लेकर ही आपके सामने न खड़ा हो जाए। मेरे साथ भी यही हुआ था। सचमुच उस दिन परविन्दर जैसे आईना लेकर खड़ा हो गया था और मैं भौचक रह गया था। शाम-शाम का वक्त। मैं

अपने वार्ड का चक्कर लगाकर लौट रहा था। यह म्युनिसिपैल्टी की वार्ड-मेंबरी भी अजीब होती है। सार्वजनिक पार्क से लेकर प्राइवेट घरों के फ्लश तक का मुआइना भंगीगीरी नहीं तो और क्या है? रोज कोई न कोई शिकायत। कभी अमुक ने अमुक के घर के सामने गंदी नाली निकाल ली है, तो किसी ने किसी के आंगन की ओर खिड़की खोल ली है। कोई मकान बनवाना चाहता है, तो किसी को अपने घर के सामने शामियाना लगाने की इजाजत चाहिए। फिर आजकल राशन-कार्ड बनवाने वालों के हमले।···

वह अपनी गली के सामने ही टकरा गया था।

"यार, हद हो गई," उसने मुझे कार से बाहर खींचकर हाथ मिलाते हुए उलाहना दिया था, "तू तो साले, ईद का चांद हो गया। ऐसी बेरुखी अख्तियार कर रखी है, जैसे हमसे वास्ता ही न रहा हो। एक हमीं हैं, जो साले कुत्ते की तरह दौड़े चले आते हैं···"

वह तो खैर हुई, जो मैंने उसका मुंह बंद कर दिया था, वरना वह रास्ते-वास्ते का ख्याल किये बिना बके चला जाता। फिर भी शिकायतें तो अपनी जगह थीं ही।

···क्यों बे, मिलना क्यों छोड़ रखा है? छोड़ा तो नहीं, बस यार, इधर वक्त ही नहीं निकला। वक्त? वाह रे मेरे अफलातून, अब तो तू बड़े नेताओं जैसी बातें भी करने लगा। नहीं यार, नहीं। नहीं कैसे, हमारी बिल्ली हमीं से म्याऊं? बेट्टे, यह तो बता पहले कैसे वक्त निकल आता था···एक जमाना वह था, जब परविन्दर के बिना एक दिन चैन नहीं मिलता था, और एक अब है कि महीनों सूरत नहीं दिखती···दफ्तर जाओ तो घर गए हैं, घर जाओ तो वार्ड के चक्कर में हैं, वार्ड की ओर निकलो तो···यार, तुझे क्या हो गया है?···

मैं परविन्दर को क्या बताता कि मुझे क्या हो गया है। दरअसल, सच्ची बात यह कि उसे देखते ही मेरी रूह फना हो गई थी। यह भी सच है कि मैं इधर उससे हफ्तों से कतरा रहा था। सचमुच मुंह छिपाये-छिपाये फिरता था। हर क्षण इस बात को लेकर आशंकित कि कम्बख्त कहीं मिल न जाए। जिस आदमी के साथ आपने बरसों पी हो, जिसके साथ मिल-जुलकर आपने सैकड़ों दफा ऐयाशियां की हों, उसे एक दिन सहसा यह विश्वास दिला पाना कितना कठिन होता है कि आपने तौबा कर ली है।

एक दफा होंठों तक आ गई सच्ची बात को भीतर धकेलकर मैं चुपचाप पी गया था। क्या जरूरी है कि उससे सच्ची बात ही कही जाए और आखिर क्यों?

"आओ, घर चलते हैं।" मैंने प्रसंग बदलने, बहलाने अथवा फुसलाने के

लिए उसके गले में हाथ डालकर कहा था।

"नहीं," परविन्दर ने एक रूखे झटके के साथ मेरा हाथ अपने गले से उतार दिया था, "मैं घर पर लड़ने नहीं आया हूं। साफ-साफ बता कि तू अभी कहां मिल रहा है या मिल भी रहा है या नहीं···?"

मैं फिर शशोपंज में पड़ गया था, लेकिन ऊपर से धीरे-धीरे मुस्करा रहा था।

"खुदाबख्श तुझे रोज पूछता है," उसने राज बताने जैसे अंदाज में धीरे से कहा था, "कल भी आया था, और आज भी कह गया है कि···"

आगे उसने बात तो रोक दी थी, लेकिन आंख मारकर सब समझा भी दिया था। खुदाबख्श यानी शहर का एक पुराना तांगेवाला। मेरे और परविन्दर के अलावा कोई नहीं जानता था कि खुदाबख्श कितने काम का आदमी है। खासकर इस जैसे शहर में, जहां मनचलों के लिए पहले की तरह कोई निश्चित ठिकाना या 'बाजार' नहीं रह गया है। खुदाबख्श जैसे आदमी ही जान सकते हैं कि ऐसे लोग शहर की किन अनजान और अंधेरी गलियों में छिपे हुए हैं।

'···फिर बोल। क्या बोलूं? कितनी देर में मिल रहा है? यार, क्या कहूं? क्यों, कह क्यों नहीं सकता। क्या जबान में ताला पड़ गया···अच्छा, आ गए न बेटा आखिर, पेटीकोट सरकार के झंडे तले। कभी तो बड़ा रोब गांठा करते थे। नहीं यार, वो बात नहीं। वो बात नहीं, तो फिर कौन-सी बात है···अरे, हमसे उड़ना मत बेटा, परविन्दर चाहे जहां रहे, शहर के पत्ते-पत्ते की खबर रखता है···

कहकर परविन्दर हंस रहा था—एक निहायत बेशर्म और कमीनी हंसी। वह हंसी तब और कमीनी लगने लगी थी, जब वह आईना लेकर एकाएक मेरे सामने खड़ा हो गया और मेरा पूरा बदन जैसे पथराकर रह गया था।

"साफ क्यों नहीं कहता," उसकी आवाज में बेहद तल्खी थी, "प्यासे को अब तकलीफ करने की जरूरत नहीं रही। तालाब खुद उठकर पास आ गया है।"

"यानी?"

"यानी तेरा सिर," उसने चीखकर गुस्से में कहा था, "बेटा, अब ज्यादा बनने की कोशिश मत कर, वरना···"

कहकर उसने एकाएक मेरी बांह पकड़ ली थी। और मुझे एक पल भी सोचने का मौका दिए बिना, वह मुझे खींचता हुआ पत्थरों का तालाब वाली गली में ले चला था। फिर एक उखड़े पलस्तर वाली दीवारों तथा नीले दरवाजे वाले बंद मकान की ओर उंगली उठाकर उसने पूछा था, "और यहां कौन रहता है, तेरी अम्मा?"

"कौन रहता है ?"

परविन्दर के चले जाने के बाद भी वह सवाल निरंतर मेरे दिमाग में बजता रहा था। मानो वह सवाल न हो, कोई कील हो। जिसे मेरे दिमाग में कहीं बहुत गहरे ठोंककर परविन्दर चला गया था। मेरी हालत उस कुत्ते की तरह हो गई थी, जिसकी दुम उठाकर शरारत-ही-शरारत में पेट्रोल डाल दिया गया हो। मेरी तकलीफ के एक नहीं, अनेक स्तर थे। परविन्दर मुझे बेईमान और स्वार्थी ही नहीं, ओछा, मौका-परस्त और कमीना साबित करके चला गया था।

"व्यास, मैंने कभी नहीं सोचा था कि तू इतना खुदगर्ज और कमीना होगा," उसने चलते-चलते संबंध तोड़ने के स्वर में कहा, "तूने डिफेंस-फंड के सैकड़ों रुपये अकेले हजम कर लिए, मैंने कुछ नहीं कहा। पी० डब्ल्यू० सब-कमेटी के चेयरमैन होने के तुफैल में तूने हजारों रुपये उड़ा लिए, मैं चुप रहा। संप्रदाय और जातिवाद के सहारे तूने दो-एक मामलों में मुझे ही धकिया दिया, मैंने उफ नहीं किया, लेकिन यह भी कोई बात हुई कि···लाहौल विला कूवत, वो नीले दरवाजे वाली तेरी बीवी थी या बहन ?"

तब तक मैं सब कुछ समझ चुका था। हैरानी या अचरज का भाव भी मैंने अपने चेहरे से उतार फेंका था। उस ठेठ पंजाबी लम्पट से ज्यादा देर तक दोस्ती का अभिनय बेकार था। छलनी हंसे सूप पर, जिसके खुद बहत्तर छेद ! बेटा भूल ही गए थे कि किससे अकड़ रहे हैं। अरे, दूसरों के सामने भरना शैक्षणिक संस्थाएं चलाने का स्वांग। जन-सेवा के नाम पर साले लूट लोगों को। जवान से जवान मास्टरनियां रखकर मना रंग-रेलियां और किया कर अपने नजदीक से नजदीक दोस्त को बदनाम; लेकिन साले कम से कम यह तो सोचकर बोला कर कि किससे टकरा रहा है···

परविन्दर के लौटने के बाद अधिक देर मुझसे घर पर भी नहीं ठहरा गया था। बातों ही बातों में मैंने अपनी पत्नी मिसेज व्यास को टटोला था। पास-पड़ोस को खंगालने की भी कोशिश की थी, लेकिन सब बेकार। सभी शायद अनजान थे। सभी बेचारे अंधेरे में रह रहे थे और मुहल्ले की जिंदगी यूं नार्मल थी, जैसे कहीं कुछ न हो रहा हो। अकेला मैं ही जासूस कुत्ते की तरह यहां-वहां सूंघता फिरा था उस वक्त तक, जब तक कि मैंने अपनी आंखों से नहीं देख लिया और मुझे यह यकीन नहीं हो गया कि परविन्दर ने सच कहा था।

"तुम तो कह रही थीं कि वह औरत बड़ी नेक लगती है।"

उस रात काफी देर गए लौटा, तो मैं दांत पीस रहा था। मैंने सबसे पहले पत्नी को आड़े हाथों लिया था। मिसेज व्यास महिला कल्याण सभा की मीटिंग

से थकी-मांदी लौटी थीं और सो रही थीं, लेकिन मैंने विल्कुल परवाह नहीं की। काफी देर तक आंखें मलने के वाद जव मिसेज व्यास की समझ में कुछ आया, तो उन्होंने झुंझलाकर पूछा, "कौन-सी औरत ?"

"वही, जो पत्थरों का तालाव वाली गली में रहती है और..."

"नीले दरवाजे वाली ?"

"हां।"

"मैं क्या जानूं," पत्नी ने करवट बदलते हुए वेदिली से कहा था, "आप भला तो जग भला। फिर मैं आपकी तरह मुहल्ले की पहरेदारी करने से रही। सूरत-शकल से शरीफ लगती थी, पति और वाल-वच्चों वाली है। भला..."

"वह पति नहीं है।"

"कौन ?"

"वही जो उस औरत के साथ रहता है।"

"पति नहीं तो और कौन है ?"

"कोई भी हो, पर उसका पति नहीं हो सकता," मैंने जोर देकर कहा, "यह मुमकिन ही नहीं कि इतनी खूबसूरत औरत का इतना फटीचर पति हो।"

"क्यों, मुमकिन क्यों नहीं ?" मेरी ओर व्यंग्य-भरी दृष्टि से देखकर पत्नी हंस पड़ी थी। आय औरतों की तरह मिसेज व्यास भी अपने को सुंदर समझती हैं, लिहाजा एक क्षण को भी हतप्रभ हुए विना, उसके रहे को बिल्कुल वेअसर करते हुए मैंने कहा था, "मजाक छोड़ो, दोनों को मिलाकर तो सोचो। उस कवरविज्जू-जैसे आदमी के क्या कहीं वैसा प्यारा वच्चा हो सकता है ?"

स्पष्ट ही हम दोनों की आंखों के सामने उस दिन की घटना तैर गई थी। दो-एक माह पहले की वात होगी। तव वे लोग विल्कुल नये-नये आए थे और मुहल्ले में उनके आने का किसी को पता भी नहीं था। अगर यह कहा जाए कि उस घटना से ही उन्होंने अपने आने का परिचय दिया था, तो ज्यादा सही होगा। घटना के मूल में पता नहीं क्या था। दिन का वह वक्त था जबकि वच्चे अधिकांशत: वाहर खेलते हैं। लोगों ने इतना ही देखा था कि एक चार-पांच वरस की वच्ची सड़क पर खेल रही है। फिर देखा था कि वह कवरविज्जू घर से तेजी से निकल आया था और वच्ची को एकाएक पकड़कर, बिना कुछ कहे चप्पलों से मारने लगा था।

"हाय-हाय ! देखो तो, यह आदमी है कि जानवर," मेरी रहमदिल पत्नी तड़पकर चिल्ला पड़ी थी, "कमीना जरा-सी वच्ची को वैलों की तरह पीटे जा रहा है..."

असल में वैसा दृश्य मैंने भी अपने जीवन में कभी नहीं देखा था। मैं सोच भी नहीं सकता था कि इतनी फूल-सी वच्ची वैलों की तरह यूं खामोश पिट

जाए और उसके मुंह से आवाज तक न निकले। जब वह मारते-मारते थक गया तो उस बच्ची को घसीटता हुआ वह दरवाजे की ओर ले चला था और घर की चौखट पर उसी क्षण आ खड़ी हुई थी वह पत्थर-सी औरत जिसे देखकर मैं धक्-सा रह गया! औरत सचमुच रूपवती थी, लेकिन मेरे चौंकने का कारण उसके रूप से अधिक आशंका थी—ऐसी भयमिश्रित आशंका, जो अपरिचित चेहरे को परिचित-सा बनाकर बड़ी देर तक आपको परेशान करती है, और आप समझ ही नहीं पाते कि उसे कहां देखा है अथवा देखा भी है या नहीं···

और वह आदमी ? क्या उसे भी मैंने कहीं···

"ठहरो, इस साले को तो अब मैं मजे चखाता हूं," मैंने गुस्से में एक बार और दांत पीसते हुए कहा था और कपड़े उतारने लगा।

"क्या करेंगे ?"

"देखती जाओ, मैं क्या करता हूं।"

करवट बदलकर मिसेज व्यास ने मेरी ओर आशंकित दृष्टि से घूरा, या कुछ देर घूरती रहीं, फिर बेपरवाही दिखाती बोलीं, "अजी मरें-कटें, हमें क्या करना है।"

"क्यों, करना कैसे नहीं है।"

"और क्या, उसकी बच्ची है, चाहे वह काटकर फेंक दे। बीच में बोलने वाले हम-आप कौन !"

"कौन हैं, यह तो उसे जल्द ही मालूम पड़ जाएगा," मैंने दर्प-स्फीत स्वर में कहा। जाहिर है कि मेरी आवाज में उस पुलिस वाले रहीम का बल बोल रहा था, जिससे मैंने ऐसे ही दिनों के लिए दोस्ती कर रखी थी।

"अभी इतनी बेहयाई तो आई नहीं है कि गली में चकला खुल जाए और हम देखते रहें।"

मिसेज व्यास अकबका कर उठ बैठी थीं और मेरी तरफ हैरान आंखों से देखने लगी थीं। हैरान होने की जरूरत नहीं है भाई, मैंने उसे बताया था। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण सच है कि इस गली में रात ग्यारह बजे के बाद एक तांगा आकर ठीक नीले दरवाजे के सामने रुकता है। उसमें से कोई-न-कोई उतरकर देखटके और तेजी से अंधेरे घर के अंदर हो जाता है। फिर तांगा लौट जाता है। कुछ क्षणों बाद उस अंधेरे घर से एक आकृति बाहर आती है, जो निश्चय ही उस बदर-बिज्जू की होती है। वह धीरे-धीरे पत्थरों के तालाब की ओर बढ़कर गायब हो जाता है, और घंटे-भर से पहले वापस नहीं लौटता।

सूनी गली में सिर्फ कुत्ते जोर-जोर से भौंकते हैं। समूचा मुहल्ला अंधेरे में डूबा होता है, सारे घरों के पट-पल्ले बंद होते हैं और किसी को कानों-कान खबर नहीं होती कि कब तांगा आया, कब गया, दुबारा कैसे लौटा और अंधेरे

में अपनी सवारी चुपचाप बरामद कर वह कहां गायब हो गया...

जब बाहर का हिलता हुआ परदा थम गया, और दीनदयाल मिश्र के चले जाने का मुझे पूरा इत्मीनान हो गया, तो मैं उस अर्जी को उठाकर पढ़ने लगा। साले ने आध घंटे में दिमाग चाटकर रख दिया था।

पिछले चुनाव के मौके पर दीनदयाल मिश्र ने जो मेरे विरुद्ध काम किया था, वह मैं भूला नहीं हूं। दोगले ने ऐसा जहर फैलाया था कि मेरी जगह अगर कोई कच्चा खिलाड़ी होता, तो उसका मैदान ही साफ था। रह गए बेटा, आखिर टापते ही रह गए। मैंने भी साले को वो उल्टी पटखनी दी थी कि जिंदगी-भर याद रखेगा। और क्या? पिछले दिनों मिनिस्टर को घूस देकर गुलाबी चने के निर्यात में हजारों रुपए क्या मैंने बनाए थे? लगता है, अभी भी नेतागीरी का शौक गया नहीं है। यों जाहिर कर रहा था, जैसे सारे समाज का दर्द उसी के सीने में हो।

"अरे व्यासजी," चलते-चलते आखिर में उसने चतुराई दिखाने की कोशिश की थी, "कौन मेरे अकेले या घर का काम है! मैं जानता हूं कि इस मनहूस पत्थर के तालाब को लेकर आपको भी इतनी ही तकलीफ होगी। दरअसल, लोगों को आपसे दोहरे तवक्कात हैं—एक तो मुहल्लेदार के नाते और दूसरे इस नाते कि आप म्युनिसिपैल्टी के वार्ड मेंबर हैं। क्या वजह है कि आप चाहें और यह सड़ा-सा काम चुटकी बजाते न हो जाए..."

साले हिपोक्रिट्स! मैं आवेश में उठकर खड़ा हो गया। और अभी कल तक कहां थे बेट्टा? जब यहां खुलेआम चकला चल रहा था, तो किसी हरामी के पिल्ले को मुहल्ले की याद नहीं आई थी। तब तो सब साले अपने-अपने पायजामों की रूमालियों में मुंह डाले औंधे पड़े थे—ख्वाबे-खरगोश में डूबे हुए! और वह जीती-जागती और प्लेग जैसी गंदगी भी किसी को नजर नहीं आई थी। अब सड़े-से मसले पर मुहल्ले-भर की अर्जी लेकर दौड़ रहे हैं। चौंके या जागे भी हैं तो अब इस बात पर कि यह पत्थरों का तालाब सबसे बड़ी गंदगी है। और गंदगी ही नहीं, मुहल्ले की सेहत पर सबसे बड़ा खतरा है, लिहाजा उसकी ओर म्यूनिसिपैल्टी फौरन ध्यान दे।

सुझाव है कि तालाब अच्छा-खासा है। कभी उसमें लबालब जल भी भरा रहता था, लेकिन बीच में या तो सूखने लगा था या किसी ने पाटने की कोशिश की थी, सो उसकी हुलिया ही बदल गई। इधर दस-एक बरसों से सारा तालाब दस-दस के अलंगों से लबों तक पटा हुआ है। मौसम में भी चाहे जितनी बारिश हो, पत्थरों के उस तालाब में बूंद भर जल भी नहीं ठहरता।

काले-काले अलंगों से टकराकर हर बूंद कहीं बहुत नीचे उतर जाती है और ऊपर मुस्तकिल तौर पर रह जाते हैं पत्थर के बड़े-बड़े ढोके। उस तालाब का, बहरहाल, एक ही इस्तेमाल रह गया है, और वह यह है कि उसमें चारों ओर से मुहल्ले-भर का कूड़ा रोज जमा होता रहता है। रोज सवेरे आसपास के घरों की माएं अपने छोटे बच्चों को बाथरूम के बदले उसी के कगारों पर बिठा भेजती हैं और अक्सर यह होता है कि फ्लशविहीन घरों में सफाई के बाद निकलने वाली भंगिनें अपनी-अपनी टोकरियां निहायत बेतकल्लुफी के साथ वहीं खाली कर जाती हैं। सुझाव था कि तालाब से अलंगे हटवाकर उसे खुदवा दिया जाए, ताकि···

"गंवार, जाहिल···" मैंने दूसरे कमरे की ओर, जहां टेलीफोन की घंटी बज रही थी, बढ़ते हुए सोचा, "इतने बड़े काम का सुझाव यों रख दिया गया था, जैसे बच्चों का खेल हो। मैं क्या, कोई भी समझ सकता था कि उस बहाने···

फोन पर पुलिस इंस्पेक्टर रहीम था।

···क्यों खां, बोलो अब तो खुश ? क्यों ? क्यों क्या, अमां तुम जो चाहते थे वही तो हुआ···स्टेशन बुलाकर मैंने उस साले की झंडी सतर कर दी है। मेरा ख्याल है कि वह शाम तक मुहल्ला छोड़ देगा। छोड़ दे तो अच्छा है, लेकिन भाई, यह भी कोई खुशी की बात है···सच मानो, उन्हें इस तरह मुहल्ले से बाहर निकलवाते हुए मुझे दुख ही हो रहा है, लेकिन भाई, यहां भले आदमी बसते हैं और उनकी भी मां-बहनें हैं···जानते हो कि एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है···मजबूरी थी भाई। ओफ्फोह, कमाल करते हो···अरे खां, इसमें अफसोस की क्या बात है···ये मां के···तो साले पेशेवर हैं···पुराने पापी···और मैंने सब मालूम कर लिया है कि इससे पहले भी ये कई मुहल्लों से लात लगाकर इसी तरह भगाये जा चुके हैं।

अजीब बात है। वापस ड्राइंग रूम में लौटते हुए मैं जैसे थक चुका था। थकावट या नींद ? हां शायद यही। पिछले पांच-छह दिनों में किसे ठीक से नींद आई थी ? दिमाग में ठुकी परविन्दर की कील बराबर आंसती रही थी। टीस, उधेड़बुन और जासूसी, उधेड़बुन और···कुछ कीलें ऐसी ही पेचदार होती हैं और बहुत गहरे चुभ जाती हैं। चलो, अब तो नजात मिली। लेकिन अभी कहां ! अभी तो बारह ही बजे हैं और शाम होने के लिए पहाड़ जैसा दिन पड़ा हुआ है।

छज्जे पर आकर मैं थोड़ी देर चुपचाप अपने को छिपाए खड़ा रहा। उस गली में ऐसे कोई आसार नहीं थे, जिससे यह मालूम हो कि शाम तक कोई मकान छोड़ा जा रहा है।···ज्यादा उत्सुकता बेकार है, एक क्षण बाद मैंने

सोचा और उससे भी ज़्यादा बेकार है रहीम जैसे पुलिस वाले का अविश्वास करना···

फिर वापस ड्राइंग-रूम। फिर टहलो, पीछे हाथ बांधकर बेकार टहलो। अर्जी ? मैंने बेपरवाही के साथ उसे अपने पोर्टफोलियो में ठूंस लिया। एंगेजमेंट डायरी देखी, बीसियों काम सिर पर थे···

साढ़े बारह बजे : राजेन्द्र वाजपेयी की नौकरी के लिए एजूकेशन सेक्रेटरी से भेंट। एम० ए० पास और बेकार है। मंडल की ओर से कई तकाजे हो चुके हैं।

एक चालीस : म्युनिसिपैल्टी का दफ्तर। पी० डब्ल्यू० सब-कमेटी की खास बैठक। बीस हजार वाले टेंडर का फैसला। चूकने पर कम्युनिस्ट किदवई के सौ फीसदी घपले का खतरा है।

तीन बजे : फूड इंस्पेक्टर रामविहारी अवस्थी के मामले को लेकर विजिलेंस कमिश्नर से चर्चा। बेचारा बाल-बच्चेदार आदमी है। और वैसे भी इस सरकार में हाथी तो निकल जाता है, लेकिन दुम अक्सर अटक जाती है।

चार बजे : एम० एल० ए० रेस्ट-हाउस नं० २/३५ में दल की गुप्त बैठक। पार्टी से निकाले गए एक भूतपूर्व मंत्री ने दल में फूट बोकर सरकार को खतरे में डाल दिया है।

पांच बजे : सरकारी कल्चरल फोरम 'कला भवन' में नगर के प्रमुख उद्योगपति टोकनदास सुदामामल के वर-वधू को आशीर्वाद।

साढ़े छह बजे : उत्तर प्रदेश हिंदू मंडल की विशेष सभा।

टेलीफोन : मिस रत्ना त्रिवेदी के सरकारी क्वार्टर के लिए होम-सेक्रेटरी को। हार्ट-पेशेंट चतुर्वेदी की ठीक देखभाल के लिए हैल्थ-मिनिस्टर को। अकाल क्षेत्र के सच्चे व प्रभावशाली चित्र छापने के लिए पत्रकार बेदी को। अगले दिन के एप्वाइंटमेंट के लिए मुख्यमंत्री के पी० ए० को···।

पांच बजे का एप्वाएंटमेंट सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। महत्त्वपूर्ण ही नहीं जरूरी भी, क्योंकि उसमें लाल रोशनाई से घेरा बना हुआ था। नगर के प्रमुख उद्योगपति टोकनदास सुदामामल के पुत्र का ब्याह कोई पंद्रह दिन पहले हुआ था। उसी नवविवाहित दंपति को आशीर्वाद देने का कार्यक्रम पिछले कई दिनों से बनाया जा रहा था। पहले 'कलाभवन' मिल नहीं पा रहा था, क्योंकि परंपरा और नियम के अनुसार उसका उपयोग केवल सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए हुआ करता था; लेकिन चूंकि एट-होम तथा अन्य सारा आयोजन एक उपमंत्री की ओर से किया जा रहा था, लिहाजा मिल गया। नगर में थोड़ी-सी धूम थी। गवर्नर से लेकर शासन के सारे हाई-अप्स के एक जगह आ जुटने की संभावना थी। सभी आएंगे—दल के चवन्नी सदस्य से लेकर सरकार को प्रभा-

वित करने वाले नेता तक, सभी। अग्निभोज जी भी···

फिर वही बेचैनी, होंठों का खुलना-मुंदना और मुंह से चप-चप की आवाज।

"कौन है ?" सहसा सामने वाले दरवाजे की ओर देखते हुए चौंककर मैंने कहा। कहा ही नहीं, जोर से पुकारा।

"मैं हूं साब !"

"तुम !" झेंपते हुए मैंने इत्मीनान की सांस ली। कम्बख्त सड़े-से नौकर ने ही डरा दिया था।

"खाना लगा दें, साब ?"

"अभी नहीं। मिसेज व्यास हैं कि गईं ?"

"जी, वो तो दस बजे ही चली गईं। कह गई हैं कि दोपहर का खाना वह मिस मल्होत्रा के साथ खा रही हैं। आपको पांच बजे 'कलाभवन' में मिलने के लिए कहा है।"

"ठीक है," दो क्षण रुककर मैंने पूछा, "तुम कहां से आ रहे हो ?"

"बाहर से।"

"बाहर से ?"

उसने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया।

"नहीं, कुछ नहीं," होंठों तक आ गए एक उबलते हुए प्रश्न को मैंने बरबस भीतर धकेलते हुए कहा, "तुम तो जाओ। ड्राइवर से कहना कि गाड़ी मिसेज व्यास को पहुंचा दे। और भाई, एक काम करना। नीचे के दोनों दरवाजे और खिड़कियां लगा दो, ताकि कोई ऊपर न आने पाए। और कोई पूछे, तो कहना कि व्यासजी घर पर नहीं हैं, अच्छा ?"

इन लोगों का कोई भरोसा है ? साले, जाने कब चढ़ दौड़ें और पता नहीं कौन-सा हंगामा बरपा कर दें। अजी हां, नंगों से खुदा भी डरता है। आज सवेरे यही हुआ था। चाय के साथ मैं अखबार में डूबा हुआ था कि देखा ड्राइंग-रूम का परदा हटाकर, वे दोनों औरत-मर्द मेरे सामने खड़े हैं !

"यह पूछना था कि हम लोग आखिर कहां जाएं ?"

अपनी बात साफ और दो टूक कहकर वह आदमी सचमुच कबर-बिज्जू की तरह मुझे घूरने लगा था। उस औरत को पास से देखकर मैं फिर बुरी तरह चौंका था, लेकिन तब तक मुझे आग लग चुकी थी। जहन्नुम में जाओ हरा-मियो, मुझसे मतलब ? क्या चकला चलाने के लिए मैंने कहा था और क्या मुझसे पूछकर, अब तक मुंह काला करवाते रहे हो ?

"आप ही कोई मकान दिलवा दो, चले जाते हैं।"

"मैं क्या दिलवाऊं ?" मैंने चीखकर कहा, "क्या मैंने तुम-जैसे कमीनों का ठेका ले रखा है ?"

"हां, ले रखा है," मुझसे भी ज्यादा ऊंची आवाज में उसने कहा, "न लिया होता तो सारे समाज की ओर से भला आपके ही पेट में क्यों दर्द होता ?"

मुझे आश्चर्य हो रहा था कि जो आदमी अभी उस रात रंगे हाथों पकड़े जाने पर मेरे और रहीम के सामने गिड़गिड़ा रहा था, वह इतनी जल्दी शेर कैसे हो गया, लेकिन बहुत जल्द समझ में आ गया कि वह उस औरत को लेकर मुझे ब्लैकमेल करने आया था। जब मैंने उसकी सारी चालें बेकार कर दीं, तो आखिर में जैसे तुरुपचाल चलते हुए उसने कहा था, "व्यासजी, इस औरत को आप अच्छी तरह पहचानते होंगे ?"

"मतलब ?"

"जरा गौर से देखिए," उस औरत की बांह पकड़ कर उसने ऐन मेरे मुंह के सामने धकेल दिया, "चार-एक माह पहले शहर की जिस शेखपुरा गली में आप रात को ग्यारह बजे पहुंचे थे, वहां यही औरत रहती थी और इसके साथ यही मैं। अगर भूल गए हों, तो यादव्यानी के लिए परविन्दर साहब या शिनाख्त के लिए खुदाबख्श तांगे वाले को बुलवाऊं ?"

उस वक्त मैं गुस्से और अपमान से डैने उतारे हुए यों हांफ रहा था, जैसे लड़ाई में लहूलुहान और हारता हुआ मुर्गा। मेरे पास इसके अलावा और कोई चारा नहीं था कि दोनों को धक्के देकर नीचे उतार दूं और अपनी जिल्द बचाऊं। वह तो खैर हुई कि मिसेज व्यास भीतर थीं और हम लोगों की बातें उसके कानों में नहीं पड़ी थीं वर्ना···

मैं तेजी से उस कमरे की ओर बढ़ा जहां टेलीफोन रखा होता है। 'कला-भवन' वाले प्रोग्राम को छोड़कर बाकी सारे एप्पाइंटमेंट्स मुझे जल्दी रद्द करने थे।

"कमाल है," मिसेज व्यास ने अत्यंत प्यार और उलाहने के साथ मुझसे कहा, "नीचे इतना बड़ा हंगामा हो गया, और फिर भी आप सोते रहे।"

थोड़ी देर पहले जब वह आई थीं, तो मैं सो रहा था। दरअसल, मिसेज व्यास के चिंतातुर स्पर्श से ही मेरी आंख खुली थी। "क्या बज गया ?" बेसाख्ता मेरे मुंह से निकला। शाम नहीं, रात ! घर ही नहीं, गली की भी सारी बत्तियां जल चुकी थीं।

हंगामा ! जैसे खिंचता हुआ मैं सीधे छज्जे पर जा खड़ा हुआ था। कहां ? क्या वह घड़ी गुजर गई, जिसकी प्रतीक्षा में मैंने पहाड़ जैसा दिन काटा था ? छज्जे से देखा कि पत्थरों का तालाब वाली गली में अंधेरा भी था और सन्नाटा भी। ऊपर आकाश ढक गया था और हवा इधर ठंडी ही नहीं, तेज

भी होने लगी थी।

"पहले मैं आपको उसी वक्त जगाने जा रही थी," मिसेज व्यास बोलीं, "लेकिन फिर सोचा कि पता नहीं आप कब सोए हों।"

"चार तक तो मैं पढ़ ही रहा था। शायद उसके बाद ही कभी आंख लग गई।"

"हूं! तब तो मैंने अच्छा किया। लेकिन आज इस गली के लोगों ने ऐसी बेहूदगी की है कि मैं आपसे क्या कहूं। अरे यही जिल्लत क्या कम थी कि वे बेचारे मुहल्ले से भगाए जा रहे थे, लेकिन नहीं, लोगों ने जैसे उनका तमाशा बना दिया।"

बकौल मिसेज व्यास के जब वह आई, तो अभी धुंधलका ही था। दिन का वह वक्त था, जब ज्यादातर आदमी बाहर होते हैं और औरतें काम में लगी रहती हैं, लेकिन अधिकांश दरवाजों और चौखट पर आदमी थे, छज्जे और खिड़कियों पर औरतें और गली में बच्चे। नीले दरवाजे के सामने सामान से लदा हुआ ठेला खड़ा था और उसी के पास तांगा। थोड़ी दूर पर बच्चों और शरारती लड़कों के दो-तीन झुंड ताक में बैठे हुए थे। जब वह आदमी ठेले पर सामान रखने या किसी काम से बाहर आया तो बच्चे लंबे राग से समवेत स्वर में कहते—

अकौटी-मकौटी बंगला पान, बिज्जू की औरत बड़ी जवान।

जब तक तांगा चल नहीं पड़ा, कोई विशेष घटना नहीं हुई थी। सामने सामान का ठेला, पीछे अढ़ाई सवारियों का तांगा और उसके पीछे तालियां पीटते बच्चे। एक झुंड सीटियां बजा रहा था, दूसरा बगलों में हाथ डालकर आवाजें निकाल रहा था और तीसरा तालियां पीट-पीटकर कह रहा था—

अंधी घोड़ी टांग तोड़ी, छांद तुड़ा कर सरपट दौड़ी।

बात तब बुरी तरह बिगड़ गई, जब आखिरी झुंड के किसी बच्चे ने गोबर के गोले बनाकर तांगे के भीतर दे मारे थे और उस औरत को बच्ची सहित अपने को साड़ी में छिपा लेना पड़ा था। उसी क्षण तांगा रुका था, वह आदमी पागलों की तरह चीखता हुआ बच्चों की ओर लपका था और भागते बच्चों में से हाथ आए एक लड़के को पटककर वह छाती पर चढ़ बैठा था। तब दरवाजों पर खड़े और हाथ सेंकते लोग पहली दफा चौंककर दौड़े थे और गली में खासा बड़ा हंगामा हो गया था।

"वदबू आ रही है।" सहसा फटाक से किवाड़ लगाते हुए मैंने कहा।

अब हम दोनों ड्राइंग-रूम में थे।

"हवा पत्थरों के तालाब की ही है।"

"हां, थोड़ी बूंदाबांदी भी हो गई है न।"

"इधर के किवाड़ तो बंद ही रखा करें," पत्नी ने जैसे पहली बार सुझाव रखा हो, "कम-से-कम उस वक्त तक, जब तक कि इस तालाब का कुछ न हो जाए। दीनदयाल मिश्र आज 'कला-भवन' में भी मिले थे। कहने लगे, मुहल्ले में बुरी तरह चेचक फैल रही है और···"

"कैसा रहा फंक्शन ?"

"पता नहीं, मैंने तो ज्यादा ध्यान ही नहीं दिया। एक कविनुमा मिनिस्टर ने उठकर टोकनदास सुदामामल की भंटैती की, दूसरे ने भी पहले का अनुसरण किया। फिर दोनों गुमटी वाले तंबोलियों की तरह एक-दूसरे की बीवियों पर फब्तियां कसने लगे। सारा वक्त मैं सोचती रही कि ये वही लोग हैं जो देश का···"

"और कौन-कौन आए थे ?"

"सभी थे।"

"भोज जी ?"

"हां वे भी।" एक क्षण रुककर पत्नी ने जवाब दिया। फिर सहसा चिंतित होकर बोली, "आपको भूख तो नहीं लग आई ? आइए, वहीं किचन में चलते हैं।"

और मेरी प्रतीक्षा किए बिना वह कमरा छोड़ गई, तो मुझे उस अर्जी का ध्यान आया। दो क्षणों बाद मैंने उसे पोर्टफोलियो से निकाला। चेचक फैल रही है। पत्नी का यह वाक्य मुझे याद आ गया था और दीनदयाल मिश्र का नेतानुमा चेहरा। अर्जी के टुकड़े-टुकड़े कर मुट्ठी में भींचते हुए मैं खिड़की के पास जा खड़ा हुआ और बाहर की तेज हवा में मैंने चुपचाप अपनी मुट्ठी खोल दी।

"और आप आए क्यों नहीं ?"

मिसेज व्यास की यह जिज्ञासा पति-पत्नी के बेड-रूम की बातचीत का बहुत सहज अंश थी।

"मैं यही आश्चर्य कर रहा था," मैंने कहा, "कि इतनी देर से तुमने यह सवाल क्यों नहीं पूछा ?"

"क्या पूछती। सोच लिया था, आपको कहीं देर हो गई होगी।"

"मैं कहीं नहीं गया था और आज के सारे एप्वाइंटमेंट्स रद्द कर दिए थे। असल में 'कला-भवन' में जरूर आना चाहता था, लेकिन ऐसी आंख लग गई कि बस···"

दो क्षणों का मौन। मिसेज व्यास ने उठकर बत्ती बुझा दी, और बगल

में लेट गई।

"भोज जी कुछ कह रहे थे ?"

"पत्थर कभी कुछ कह सकते हैं," एकाध पल रुककर वह निहायत कड़-वाहट के साथ बोलीं, "कहा तो मैंने ही। मैंने कहा, व्यास जी को मालूम हो गया है कि आप लोग इस बार भी वाइ-इलेक्शन का टिकट उन्हें नहीं दे रहे हैं। हमें तो बस यह जानना है कि व्यास जी की उस शिकायत का क्या हुआ ? क्या जन-सेवा का बदला ऐसी ही जिल्लत और बदनामी है। मैं तो इस मामले को हाइ-कमांड तक ले जाऊंगी। हंसकर कहने लगे, मिसेज व्यास, दिस इज आल इन द गेम। आप जानती तो हैं कि राजनीति कितनी गंदी होती है। मैंने कहा, राजनीति अपने-आप में गंदी होती हो या नहीं, हमारे यहां बना जरूर दी गई है। कितनी हैरानी की बात है कि मामूली आदमी से लेकर बड़े-से-बड़ा नेता तक यही जुमला बहुत आसानी से दुहरा देता है और अगर उनकी बात सच है, तो यह कितनी बड़ी विडंबना है कि हमारी नियति इसी कीचड़ में कैद है...।"

"मिस मलहोत्रा को भी अपने साथ ले गई थीं ?"

"न ले गई होती, तो अच्छा था। भोज जी का ध्यान मुझ पर थोड़े ही था। बातें मुझसे कर रहे थे, लेकिन चिपके जा रहे थे मिस मलहोत्रा से। मैं तो अब इस नतीजे पर पहुंची हूं कि बड़े-से-बड़ा आदमी भी जवान और खूब-सूरत औरत के सामने कुत्ता हो जाता है—जीभ उतारकर लार टपकाता हुआ कुत्ता।"

"मिनी !" अपने स्वर में सहसा लाड़ घोलकर मैंने पत्नी के कांपते शरीर को सहानुभूतिपूर्वक घेर लिया। मानो बांहें मरहम हों।

"आपको याद है, पहले जब मैं मिस वर्मा को अपने साथ ले जाया करती थी, तब भी दो-एक बार ऐसे ही तजुरबे हुए थे। आप अंदाज नहीं लगा सकते कि किसी औरत के लिए यह कितना अपमानजनक होता है।"

कई पल रुकने के बाद सांस भरकर वह बोलीं, "कभी-कभी सोचती हूं कि हम लोग उधार के हथियार से आखिर कब तक लड़ते रहेंगे। लेकिन मैं क्या करूं, ईश्वर ने मुझे न तो रूप दिया है, और न अब शरीर ही ऐसा रह गया है कि..."

और इससे आगे के शब्द डूबकर रह गए, क्योंकि मिसेज व्यास ने मेरी छाती में अपना मुंह कसकर गड़ा दिया और उनका कंठ रुंध गया था। फिर नमी पत्थरों के तालाब से एक तेज झक्कड़ आया था और बंद किवाड़ों की चूलें हिलाता आगे निकल गया△

जगह दो, रहमत के फरिश्ते आएंगे

भीतर पहुंचकर मैंने राहत की सांस ली। धीरे से आकर बैठ गया। पता नहीं, पप्पू मियां कब आकर मेरे पीछे खड़े हो गए थे। सलमा किचन में ही कुछ खट-पट कर रही थी। हाथ का काम छोड़कर तीर-जैसा सवाल उसने मेरी ओर फेंका, "क्या हुआ ?"

"होने को था ही क्या," मन में आया कहूं, लेकिन मैं तिलमिलाहट और गुस्से को पी जाने की कोशिश में खामोश रहा। जब स्कूटर आकर घर के सामने रुका था, तो कई बच्चों ने टूटकर यही सवाल किया था। तब भी मैंने जवाब नहीं दिया था और किसी से आंखें मिलाए बिना घर के अंदर हो गया था।

"क्यों, क्या हुआ ?" सलमा ने अपना सवाल दुहराया।

मैं कुछ कहूं, इससे पहले ही पीछे से पप्पू मियां का जवाब आया—

"ब्राउनी को छोड़ आए।"

"छोड़ आए ! कहां ?"

"वहीं, अस्पताल में।" गुस्सा और अपराध भाव दोनों को दबाते हुए मैंने

धीरे से कहा। जानता था कि अब मेरे स्वर में सहारा ढूंढ़ने वाली अजब-सी निरीहता आ गई है। फिर अपने-आप ही कैफियत देते हुए मैंने कहा, "भई, उसे बेहद उलझाने वाली बीमारी हो गई थी। कम-से-कम महीने-भर का इलाज जरूरी था। फिर डाक्टर ने भी कहा कि उसे हर रोज अस्पताल लेकर आना पड़ेगा—दवा-दारू का जो खर्च हो, सो अलग। खैर, खर्च की तो कोई बात नहीं थी, लेकिन उसे रोज लेकर अस्पताल दौड़े चले जाने का वक्त किसके पास है! जानती तो हो कि…"

"लेकिन उसे छोड़ा किसके पास?" सलमा ने अधीरतापूर्वक कहा।

"बताया न, वहीं अस्पताल में दो लोग मिल गए थे।" एक पल रुककर मैंने जवाब दिया, "मैंने डाक्टर से कहा भी कि वे उसे दाखिल कर लें। वे कहने लगे कि हम दाखिल तो कर लें, लेकिन यहां अस्पताल की ओर से खाने का कोई इंतजाम नहीं, खाना पहुंचाने आपको ही आना पड़ेगा। मेरी मानिए तो आप इसे ले जाइए और रोज इसी वक्त ले आया कीजिए…असल में सलमा, सोचो तो, इतनी जहमतों के लिए अपने पास गुंजाइश कहां है…"

कहते हुए मुझे साफ लगा कि मैं सलमा को पटाने या अपनी ओर मिलाने की कोशिश कर रहा हूं।

"पापा!" सूफिया ने पूछा, "वे अस्पताल वाले आदमी क्या ब्राउनी को अपने साथ ले गए?"

"हां!"

"क्या वे उसे पाल लेंगे, पापा?" इस बार शहनाज की आवाज थी, "लेकिन फिर इलाज के लिए तो उन्हें भी अस्पताल ले जाना पड़ेगा, नहीं?"

मैंने हां और नहीं के बीच जैसे सिर हिला दिया। पता नहीं, मेरे जवाब से उसे संतोष हुआ या नहीं, क्योंकि अपने ही बच्चों की ओर देखने का साहस मुझमें नहीं रह गया था। लगा कि मैं सारे लोगों की नेजे-जैसी आंखों से यूं घिरा हुआ हूं जैसे कटघरे में खून का मुजरिम। उनमें सलमा के अतिरिक्त कुर्सी के पीछे सहमे-से खड़े पप्पू मियां, बड़ी बच्ची शहनाज, छोटी सूफिया ही नहीं, पड़ोस के अमित, मनीषा, कल्याणी और गुड्डू मियां भी हैं। पता नहीं, वह मेरी उदास खामोशी थी या अकारण गुस्से का भाव, आगे किसी ने न तो कुछ कहा और न पूछा। यही नहीं, धीरे-धीरे सब वहां से खिसक गए, पप्पू मियां भी। सलमा ने हाथ का काम फिर उठा लिया और खामोशी के साथ यों लग गई थी जैसे मैं वहां हूं ही नहीं।

उसी क्षण मैंने पहली बार जाना कि बिल्कुल अकेला होना किसे कहते हैं!

अगर यह विपत्ति थी, तो इसका बीज लगभग महीने-भर पहले ही पड़ चुका था। उसी दिन, जब ब्राउनी हमारे घर आई थी।

कुत्तों से मुझे कभी कोई दिलचस्पी नहीं रही, बावजूद इस सच्चाई को मानने के लिए कि कुत्ता बेहद ईमानदार और प्यार करने वाला जानवर होता है, मेरी कभी हिम्मत नहीं पड़ी। अगर कभी एकाध बार मोह उपजा भी हो, तो उसके साथ ही जहमतों, उलझनों और परेशानियों की याद दिलाकर मैंने अपने मोह को कुचल दिया था। लेकिन मैं हैरान हूं कि मेरे बिल्कुल बरअक्स हमारे साहबजादे पप्पू मियां को जानवरों और खासकर कुत्तों से इतना लगाव कैसे पैदा हो गया!

पिछले दो बरसों से उनका यह आलम था कि खूबसूरत कुत्तों की तो बात ही और, बदसूरत या गैर-दिलचस्प कुत्तों पर भी जान छिड़के जा रहे हैं। मेरे दोस्तों में से वे उनके ज्यादा चहीते दोस्त हो गए थे, जिनके यहां कुत्ते हैं। ऐसे घरों में जाने के लिए उनसे तकाजों की भी जरूरत कभी नहीं पड़ी। वे हमेशा पेश-पेश और तैयार मिलते हैं।

"पापा, अब तो हम भी एक कुत्ता पाल लें।" आखिर एक दिन उसकी फरमाइश ही हो गई, "देखिए न, सबों के यहां कुत्ते हैं, सिर्फ अपने ही यहां नहीं। आप तो हमें बस एक कुत्ता ला दीजिए…"

"कुत्ता! हमें नहीं पालना है कुत्ता-उत्ता!" सूफिया ने बुढ़िया जैसे अंदाज में टोक कर कहा था, "नापाक जानवर है। दादीजान कहती हैं कि जिस घर में कुत्ते होते हैं, वहां रहमत के फरिश्ते नहीं आते।"

"रहमत के फरिश्ते! यह क्या होते हैं?"

"भैया! रहमत के फरिश्ते…" सूफिया ने अपने दस बरस के दिमाग पर जोर दिया था, "रहमत के फरिश्ते…बस फरिश्ते होते हैं। अल्ला मियां भेजते हैं उन्हें, जिस घर पर यह नहीं आते, वहां खुदा की रहमत ही नहीं बरसती और मालूम है, ऐसे घर के लोग बेरहम हो जाते हैं। इसीलिए तो कहते हैं कि कुत्ते का खयाल छोड़ दो और कुछ पालना ही है, तो तोता पाल लो।"

"तोता! तोते में क्या रखा है। हमें नहीं पालना है तोता-ओता।"

"लेकिन भैया, फिर रहमत के फरिश्ते…"

"मत आने दो रहमत के फरिश्तों को।" सूफिया को दो-टूक जवाब मिला था, "हम तो कुत्ता ही पालेंगे।"

पप्पू मियां की वह जिद कोई साल-भर चली। गाहे-ब-गाहे और मौका-बे-मौका वे बराबर अपनी फरमाइश खोंसते रहे थे, लेकिन जब मैं बराबर बेअसर बना रहा और मेरे बहाने बढ़ते ही चले गए, तो मुझसे निराश होकर

आखिर उन्होंने मेरे दोस्तों को पकड़ा था, "अंकल, आप हमारे लिए एक कुत्ता ला देंगे ?"

जिन दोस्तों ने उन्हें गंभीरतापूर्वक लेकर साफगोई से काम किया था, वे बच निकले थे, लेकिन उनकी बिल्कुल शामत आ गई थी, जिन्होंने निहायत गैरसंजीदगी के साथ उनसे वादा कर दिया था। बहुत जल्द वह वक्त आया था, जब न तो कुत्ता आया और न वे आए थे और कुछ दिनों बाद श्याम व्यास जैसे दोस्तों ने इधर का रुख करने से ही तौबा कर ली थी।

लेकिन उस रात जब मैं लौटा, तो जो पहली खबर जीने पर मिली, वह यह थी कि दोपहर को एक पिल्ला घर आ गया है।

"अच्छा !" मैं चौंका था, "कौन लाया ? मिश्रा तो नहीं ?"

"पप्पू मियां खुद ही कहीं से ले आए। कह रहे थे, पीछेवाली लाइन में उनका कोई दोस्त रहता है। उसके घर पर कुतिया ने पांच पिल्ले जने थे, सो एक इन्हें मिल गया।"

सब सो चुके थे—पिल्ला भी। पता नहीं, मुझे अच्छा लगा था या बुरा। सहज जिज्ञासावश मैंने देखा था कि वह चाकलेटी रंग का क्रास-ब्रीड था। लेकिन अपने लंबे-लंबे कानों और झब्बेदार दुम के कारण कुछ विशिष्ट ही नहीं, प्यारा भी लगता था।

"पड़ा रहने दो।" मेरी हिचक और पशोपेश देखकर सलमा ने कहा, "और कुछ नहीं तो बच्चे का शौक ही पूरा हो जाएगा।"

"वो बात नहीं, सलमा···"

मैं कहना चाहता था, लेकिन फिर चुप हो गया। इस बात को क्या सलमा नहीं जानती थी कि अगर अम्मी आईं तो घर पर इस पिल्ले की मौजूदगी को लेकर वे जाने कितने तूफान खड़े करेंगी ! जिस घर पर कुत्ता फिरा करे, वह पाक कैसे रह सकता है और जब घर पाक ही नहीं तो नमाज कैसे पढ़ी जाएगी।

ब्राउनी का आना जैसे परिवार में एक सदस्य का जुड़ जाना था। बच्चों के लिए आने वाले दूध और पावरोटी में उसने पहले दिन से ही अपना हिस्सा जमा लिया था। घर की हर चीज पर, ख्वाह वह पसंद करे या न करे, बराबर का भागीदार बनने में उसे बिल्कुल देर नहीं लगी थी। फिर उसके सबसे बड़े हिमायती और मालिक पप्पू मियां बराबर अपनी मम्मी के सिर रहते थे। हर लम्हा उसका ध्यान, हर कदम पर उसका लाड़, हर बात पर उसकी बात। यह संयोग मात्र नहीं था कि पप्पू मियां और बच्चों और सलमा ने बहुत जल्द मुझे भी अपने जद में ले लिया था और एक दिन अपने को यह पाते मुझे देर नहीं लगी थी कि फुरसत के मौकों पर मैं भी उससे खेलने लगा हूं···

"पिल्ली तो यह बुरी नहीं।" एक दिन ऐसे ही किसी मौके पर मेरे एक

दोस्त ने कहा था, "लेकिन यह हर वक्त खुजाती क्यों रहती है। कहीं इसे खुजली-उजली तो नहीं हो रही ?

उस वक्त तो दोस्त की बात में मुझे कोई वजन नहीं लगा था, लेकिन हफ्ते-भर के अंदर यह विश्वास करना पड़ा कि वह बीमार है। जिस तरह सारा दिन बेचैन और बेदार होकर वह अपने समूचे बदन को खुजलाया करती थी और बावजूद सारी खुराक के वह दिन-ब-दिन सूखती जा रही थी, वह सबको परेशान करने के लिए काफी थी। यही नहीं, देखते-देखते कई जगहों से उसके जिस्म के बाल उड़ गए थे, खाल उपड़कर लटक गई थी और यह कहना मुश्किल हो गया था कि वह सड़क पर आवारा और लावारिस फिरने वाली खुजली की मारी कुतिया नहीं, हमारी ब्राउनी है।

"पापा, इसे अस्पताल ले चलो।"

फिर पप्पू मियां का यह तकाजा शुरू हुआ था, जिसे मैं कई दिनों तक पीता रहा। कई दिनों तक ऐन सुबह के वक्त कई तरह के जरूरी काम निकल आते थे। फिर सच्ची बात तो यह थी कि अपनी मसरूफ जिंदगी में से एक पूरी सुबह कुत्ते के लिए निकाल देने का खयाल अजब ही नहीं, मुश्किल भी लगता था। तब और जबकि खुद अपना मेडिकल चेक-अप कराना था, सलमा को जरूरी तौर पर लेडी हास्पिटल ले जाना था, सूफिया को किसी कानों के डाक्टर के पास पहुंचाना था और···

फिर भी मैं क्या करता ? कैसे और कहां तक बचता, खासकर तब, जबकि पप्पू मियां एक सुबह अपनी ब्राउनी को गोद में उठाए सीधे मेरे स्कूटर पर ही सवार हो गए थे कि या तो आज ब्राउनी अस्पताल जाएगी या फिर कभी नहीं जाएगी।

"पापा !" सहसा शहनाज की आवाज से मैं चौंका।

"पप्पू मियां रो रहे हैं।"

सुनकर जैसे धक्का लगा। वह पल अजीब था, जिसमें हैरानी हुई, गुस्सा आया, क्षोभ भी और भीतर से उमड़नेवाला एक ऐसा दर्द है, जिसके मुंह को शालीनता, गंभीरता और बड़प्पन के खोल में मैंने मूंद रखा था। मैं लपककर पहुंचा।

"पप्पू बेटे," अपराधी के-से स्वर में मैंने कहा, "बेटे, सुनो तो, क्या बात हो गई ?"

पप्पू मियां, जो अब तक अपनी रुलाई जैसे-तैसे रोके हुए थे, एकाएक फूट-कर रो पड़े, "पापा, वह तो भूखी-प्यासी मर जाएगी। उसे खाना कौन देगा ?

उसे पानी कौन देगा···?"

वाक्य यह जरा-सा था, लेकिन मुझे लगा जैसे मैं इतना-सा होकर रह गया हूं।

"बेटे, तुम्हीं ने तो कहा था कि उसे छोड़ आएं।"

इस इल्जाम के सहारे मैं पप्पू मियां का मुंह बंद करना चाहता था, जबकि सच्चाई यह थी कि पप्पू ने यह कभी नहीं कहा था। ब्राउनी से पिंड छुड़ाने की बात, उसे घेर-घारकर जबरन मैंने ही कहलवाई।

अस्पताल में जब मैं घिर गया था और जब देखा था कि छुटकारे की कोई सूरत नहीं, तो मजबूरी में घिसटता-घिसटता मैं कंपाउंडर के काउंटर पर खड़ा था। मैं दवा लेना भी चाहता था और नहीं भी। और उसे अस्पताल में दाखिल करवाने की कोशिश के पीछे क्या था? क्या यही पिंड छुड़ाना नहीं?

"बड़ी खुजली हो गई है।"

काउंटर के पास खड़े एक आदमी ने दूसरे से कहा।

"हां, बहुत। बड़ी नाकिस बीमारी होती है।"

वे दोनों कुत्ते को देख रहे थे और उससे भी ज्यादा पप्पू मियां को, जो दवा-सनी कुतिया को पूरे एहतियात, प्यार और जिम्मेदारी से संभाले हुए थे।

"क्यों साहब, यह कुत्ता आपका है?" एक ने मुझसे पूछा।

"जी।"

"अलसेशियन है?"

"जी नहीं, यों ही है। कम्बख्त को जाने कहां की बीमारी लग गई, परेशान हो गए हैं।"

"अर्रा जब अलसेशियन नहीं, तो क्यों परेशान होते हैं?" दूसरे ने मुझसे सहानुभूतिपूर्वक कहा था, "वैसे भी यह अब आपके किस काम का। भगाओ साले को।"

क्षण-भर को वह प्रस्ताव बहुत क्रूर और निर्मम लगा था। क्षण के उसी अंश में मैं यह सोचकर सहम गया था कि दो निहायत मामूली से आदमियों ने मुझे एक नजर में पढ़ लिया है। लिहाजा खुद को और उन्हें झुठलाते हुए मैंने प्रतिवाद किया था, "ऐसे कैसे भगा दें? इतने लाड़ से पाला है···और फिर यह जाएगी कहां? भगा दिया तो भूखी-प्यासी मर जाएगी।"

"अजी साहब, कुत्ते कहीं भूखे-प्यासे नहीं मरते! इसका है क्या। कहीं भी पेट भर लेगी।"

कुछ देर मैं असमंजस में पड़ा रहा। फिर काउंटर से हटकर मैं पप्पू के पास आ गया था। उसके चेहरे को देखता और अच्छी तरह तौलता हुआ कि इस बातचीत का उस पर क्या असर हुआ है। फिर उसके सात बरस के

दिमाग पर निर्णय का सारा भार डालते हुए मैंने पूछा था, "क्यों बेटे, क्या करें ?"

अस्पताल के अहाते से निकलते हुए मैंने स्कूटर बहुत तेज चलाया था। उन दोनों आदमियों ने मेरी बड़ी मदद की थी। फैसले के बाद जब हम स्कूटर पर सवार हुए थे, तो ब्राउनी हमारी ओर लपकी थी, लेकिन उनमें से एक आदमी ने उसे आगे बढ़कर पकड़ लिया था, और दूसरे ने हाथ का इशारा किया था कि मैं जल्दी से निकल भागूं।

रास्ते में, काफी खामोशी के बाद पप्पू ने कहा था, "वह कैसी टुकुर-टुकुर देख रही थी न, पापा !"

लेकिन दूसरी बार अस्पताल से लौटने पर मुझे किसी उलझन का सामना नहीं करना पड़ा। अब की बार न तो बाहर वालों ने घेरा था और न भीतर वालों ने।

"बेटे, अब तो खुश ?" मैंने स्कूटर से उतरते हुए पप्पू से पूछा।

उसने सिर हिला दिया।

अभी कुछ देर ही पहले उसने कितनी आफत कर दी थी। मैंने उसे दो मर्तबा समझाने की कोशिश की थी। वह मेरे सामने तो चुप हो गया था, लेकिन मेरे हटते ही रोने लगता था। दूसरी दफा, धीरे से पर्दा हटाकर जो कुछ मैंने चुपचाप कमरे में देखा था, वह यह विश्वास दिलाने के लिए काफी था कि उसे समझाने की कोशिश बेकार है। देखा था कि बिस्तर पर औंधे पड़े पप्पू मियां ने तकिये पर अपने दांत कसकर गड़ा दिए हैं और रुलाई रोकने की कोशिश कर रहे हैं···

"चलो, अच्छा फिर देख लेते हैं।" हारकर मैंने कहा था, "अगर वे लोग ले न गए हों, तो ब्राउनी को लौटा लाएंगे, ठीक ?"

मैंने एक बार फिर स्कूटर तेज भगाया था—दिल ही दिल यह दुआ करता हुआ कि वह मिल जाए, लेकिन खाली हाथ लौटना पड़ा। वहां कोई नहीं था।

"ठीक ही हुआ न, पापा !" एकाएक जीने पर चढ़ते हुए पप्पू मियां ने कहा, तो मैं चौंक पड़ा।

"वह अल्सेशियन तो थी नहीं।" वह कह रहा था, "और वैसे भी अपने किस काम की ! नाहक परेशान होते।"

और मैं यों हैरान था, जैसे उसके छोटे-से गले में सहसा कोई अपरिचित और उम्र से भारी आवाज समा गई हो। मैं अंधेरे में दंश खाए मुसाफिर की तरह उसी जगह खड़ा रह गया। उसी तरह, जैसे एक दिन उसे अपने ही

अंदाज से कोई भद्दी गाली बकता सुनकर मैं सन्न रह गया था। उस दिन भी उसे डांटने के लिए मेरी जबान नहीं पलटी थी और मैंने उसे अनसुना कर दिया था। दहलीज पर आते ही मुझे सूफिया मिली। वह मुझे सवालिया नजरों से देख रही थी। मैंने बिना कुछ सोचे हुए बेसाख्ता कहा, "सूफिया बेटे, अम्मी को खत लिख दो। कहना इस घर में अब रहमत के फरिश्तों के लिए जगह हो गई है!" △

पड़ाव

स्त्री :

मुझे अपनी दहलीज पर देखकर वह जिस तरह हैरान रह गया, उससे मुझे वहुत खुशी हुई, शायद मैं चाहती भी यही थी, शाम का वक्त, लोग दफ्तरों से लौट रहे थे, जैसे ही उसका स्कूटर गेट के पास आकर रुका और उसकी नजर मुझ पर पड़ी, वह एकाएक खिल उठा था।

"क्यों," लपककर आते हुए उसने एक साथ कई सवाल कर दिए, "वाहर कैसे खड़ी हो ? कितनी देर हो गई ? क्या किसी ने दरवाजा नहीं खोला ?"

मैंने वताया कि अभी-अभी पहुंची हूं, मुश्किल से एकाव वार कुंडी खट-खटायी होगी, लगता है, वच्चे-अच्चे कोई हैं नहीं और आपकी मिसेज अंदर किचन में हैं। पूछा, "आप सीधे दफ्तर से आ रहे हैं ?"

"हां, करीव-करीव," उसने रुकते हुए जवाव दिया, "एक दोस्त वीमार हैं, उन्हें देखने के लिए रास्ते में रुक गया था।"

"ओह," मैं चितापूर्वक वोली, "आप राय के यहां तो नहीं पहुंचे थे न ? यह अच्छा हुआ, क्योंकि मैं एक्जाम-हॉल से इसीलिए भागी चली आ रही हूं…"

और कहने के साथ जैसे मुझे अपनी हुलिया का ध्यान आया। साड़ी मैंने बहुत अच्छी बांध रखी थी, वही किशोर के पसंद की शिफॉन, लेकिन जितनी हड़बड़ी में अपने कमरे से चली थी और तीन घंटे की माथापच्ची के बाद जैसा चेहरा मेरा निकल आया होगा, उसकी मैं बखूबी कल्पना कर सकती थी। बाल रूखे होकर माथे पर उड़ रहे थे, सारे चेहरे पर एक चिपचिपी-सी चिकनाई रेंगती महसूस हो रही थी और मैं जानती थी कि मेरे होंठ पपड़ाए हुए हैं···

"आइ'म सारी," अंदर आकर बैठते ही उसने कहा, "मैं अपने दोस्त की बीमारी की वजह से फंस गया था, वरना वक्त पर मैं राय के यहां पहुंच जाता।"

लगा, उसने मेरी बात ठीक से सुनी नहीं थी या सुनी भी हो, तो ठीक से समझी नहीं थी, क्योंकि जहां मैं एक्ज़ाम-हॉल से सीधे भागकर आने की बात कह रही थी और यह कह रही थी कि राय के यहां न पहुंचकर उसने अच्छा ही किया, वहीं वह यह कैफियत दे रहा था कि वह फंस गया था। मैंने अपनी बात फिर दुहराई, बोली, "मैंने कहा न कि अच्छा हुआ, आप राय के यहां नहीं पहुंचे। मैं आपको वहां बिल्कुल नहीं मिलती और आप नाहक परेशान होते···"

"क्यों, आज तो वहीं मिलने की बात थी न ?"

"हां, थी तो सही," मैं बोली, "वरना मैं इस कदर परेशान क्यों होती ? असल में मैं आपसे यही कहने आई थी···पता नहीं क्यों, राय ने कल झूठ कह दिया था कि मैं उसके पास ठहरी हुई हूं, जबकि हकीकत यह है कि मैं उसे ठीक से जानती भी नहीं। अगर मैं उसके यहां ठहरी हो सकती हूं, तो उसी तरह आपके यहां भी···"

वह हंसने लगा। पहले धीरे-धीरे, फिर खुलकर।

"लेकिन कल तो आप···"

"मैं क्या करती ?" अधबीच में ही लपककर मैंने अधीरतापूर्वक कहा, "मुझे कुछ भी कहने का मौका दिये बिना जिस तरह वह सरीहन झूठ बोल गया था, उससे मैं दंग रह जाने के सिवाय और कर ही क्या सकती थी ? और आप तो जानते हैं कि जब एक झूठ मुरौवतन बर्दाश्त कर लिया जाता है, तो उसके साथ कई और मुझे सहने पड़ते हैं। हालांकि मुझे बेहद बुरा लगा था और आपके यहां से बाहर निकलने के बाद मैंने उससे कहा भी। जानते हैं, उसने क्या जवाब दिया ? कहने लगा, यूं ही मुंह से निकल गया···"

सचमुच, मैंने कल के बाद राय को माफ नहीं किया था। अजीब आदमी है ! इम्तेहान और पर्चों के सिलसिले में हुआ कुल दो दिन पुराना परिचय। मुश्किल से चार बार मिली होऊंगी। दो-एक बार घर चली गई थी। एकाध

दफा खाना खा लिया था। क्या इतने से को आधार बनाकर कोई ऐसी बक-वास कर सकता है ? मैं रह-रहकर सुलगती रही थी। कभी उस पर गुस्सा, कभी अपने पर खीझ। मैं जानती थी कि जब तक उस झूठ से अपने को मुक्त न कर लूं, सुकून नहीं पा सकती।

"आप बता सकते हैं कि इस झूठ के पीछे क्या होना चाहिए ?"

"पता नहीं," उसने थके हुए ढंग से जवाब दिया, "हो सकता है कि इस तरह शायद उसने तुम्हें निकट लाने की कोशिश की हो। यह भी हो सकता है कि उस झूठ के सहारे वह मुझ पर रौब जमाना चाहता था।"

"रौब की अच्छी कही," मैं हंसकर बोली, "न तो मैं फिल्म-स्टार हूं और न कोई मशहूर लेखिका···"

"इन सबकी जरूरत नहीं पड़ती, पुरुषों के बीच किसी औरत का जवान और सुंदर होना ही काफी होता है।"

बिल्कुल सहज ढंग से कही हुई उसकी यह सीधी-सीधी बात मेरे भीतर उतर गई। इतने भीतर कि सहसा चेहरे पर आए भावों को मैंने छुपाना चाहा था। शायद वह अपनी बात के प्रभाव को जानता था। मुझे उन परेशानकुन घड़ियों के बाहर खींचते हुए उसने कहा, "लेकिन छोड़िए, मैं तो राय का शुक्र-गुजार हूं। न तो उसने झूठ कहा होता, और न आप दुबारा यहां आतीं, आप बंबई कब लौट रही हैं ?"

"आज।"

"आज ! किस वक्त ?"

"रात ग्यारह बजे एक गाड़ी है, सोचती हूं, उससे निकल जाऊं।"

"लगेज ?" एक क्षण सोचकर उसने पूछा।

"तैयार ही समझिए, बस उठाना भर है। मुमकिन है, होटल वाले के पेमेंट में दस-पांच मिनट लग जाएं। क्या मैंने आपको बताया नहीं कि मैं यहां एक होटल में ठहरी हुई हूं ? होटल एंबेसडर, रूम नं० १४··· और वह भी एक-दो दिनों से नहीं, पूरे महीने भर से। इन दो महीनों में आपके इस शहर में मुझे खूब अनुभव हुए। पहले मैं यहां एक गर्ल्स-हॉस्टल में ठहरी थी, लेकिन वहां रहने वाली लड़कियां और माहौल, आपसे मैं क्या बताऊं, मैं बुरी तरह बीमार हो गई। वो तो बंबई खबर पहुंची। मेरे भाई साहब के साथ किशोर आए। कई दिनों तक मेरा इलाज चलता रहा और जब मैं ठीक हुई, तो सबसे पहला काम किशोर ने यह किया कि उस हॉस्टल से निकालकर मुझे 'एंबेसडर' में रखवा दिया। हालांकि शायद यह इस शहर की परंपरा के खिलाफ है कि कोई अकेली और जवान औरत होटल के कमरे में रहे—ऐसे होटल में जो बार भी हो···"

मेरा खयाल था कि मेरी इस बात पर वह जरूर चकित होगा। मुमकिन है कि वह मुझे ऐसी-वैसी औरत भी समझ ले, लेकिन मुझे इसकी बिल्कुल परवाह नहीं थी।

"किशोर कौन ?" एक ठंडा और टटोलता-सा सवाल हुआ।

"किशोर! अ···मेरे एक दोस्त हैं। आप उन्हें बिजनेस पार्टनर भी समझ सकते हैं। खूब आदमी हैं। काश, पिछली दफा जब वे आए थे, मैं आपसे मिली होती। जरूर मैं आपको उनसे मिलाती और आप बहुत खुश होते···"

उसी वक्त उसकी पत्नी आ गई, फिर बच्चे, परिचय हुआ। वह पिछले दिन मुझसे अपनी बीवी को न मिला पाने की कैफियत देने लगा। कहने लगा, "जब कल आप राय के साथ पहुंची थीं, तो ये किचन में थीं। सुबह का वक्त, स्कूल और दफ्तर की भगदड़ मची होती है। फिर आपने मौका ही कब दिया, मुश्किल से आध घंटा बैठकर चली गई थीं।"

मैं क्या कहती! औपचारिक मुस्कराहट के साथ हम दोनों एक-दूसरे को वैसी ही आंखों से घूरने लगीं, जिन्हें सिर्फ औरतें ही जानती हैं—खासकर तब जब पहली बार मिलने पर दो अपरिचित औरतें एक-दूसरे को देखती हैं—बिल्कुल बिल्लियों की तरह।

और तब मुझे सहसा खयाल आया था कि बाहर की स्वच्छंद हवा या होटल के कमरे में नहीं, मैं एक संस्थागत परिवार में बैठी हुई हूं। और ऐसे परिवार में एक पुरुष होता है, उसकी एक पत्नी होती है, कुछ बच्चे होते हैं और होती हैं बहुत सारी मर्यादाएं। बहुत पहले, किशोर की पत्नी से मिलते हुए भी ऐसा ही लगा था। उसने भी इन्ही आंखों से मुझे घूरा था। मैं इन्हें कितनी अच्छी तरह पहचानती हूं।

लेकिन कौन औरत नहीं पहचानती ?

पुरुष :

पहचानता मैं भी खूब हूं। बल्कि यों कहना चाहिए कि शायद मैं जरूरत से ज्यादा पहचानता हूं। अगर ऐसा न होता, तो व्याह के इन दस बरसों में यही सब देखने के लिए मैंने हजार जतन कभी न किये होते। खासकर इधर के बरसों में, जबकि पत्नी मुझे बेहद ठंडी लगने लगी थी। अपनी सीमाओं के साथ मैंने कई बार कोशिश की थी, लेकिन हर बार निराश होना पड़ा था। चाहे कितनी ही सुंदर स्त्री का मामला क्यों न हो, न तो पत्नी ईर्ष्या करती थी और न मुझे ईर्ष्या का मौका देती थी और अक्सर मुझे लगता था, जैसे हम

दोनों स्त्री-पुरुप न होकर काठ के पुतले हों···

ऐसे शहर में रहना, जहां सारे स्त्री-पुरुप सिर्फ पति-पत्नियों की तरह अलग-अलग रहते हों, जहां स्त्रियां पुरुषों से और पुरुप स्त्रियों से टकराते हुए डरते हों, कितना वोसीदा और थकाने वाला हो सकता है, यह मुझसे वेहतर कोई नहीं जानता।

शायद इसीलिए पहली वार जव राय एक सुंदर-सी जवान औरत के साथ मेरे यहां आया, तो मुझे हैरानी-भरी खुशी हुई थी। मैं जानता था कि वह उसकी पत्नी नहीं हो सकती। फिर राय और मेरे ऐसे संवंध भी नहीं थे। एक ही शहर में वरसों से रहते हुए भी हम दोनों के संवंध सिर्फ सलाम-दुआ तक महदूद थे। पता चला, वह शहर में नयी है और वंवई से एक इम्तेहान के सिलसिले में आई हुई है। पता चला, वह वंवई के मेरे एक मित्र की दोस्त है और लौटने के पहले मुझसे मिलने आई है। पता चला···

"आप यहां दो महीने से हैं ?" मैंने हैरान होकर पूछा था।

"हां," उसने झिझकते हुए जवाव दिया था, "आपके इस नगर में मुझे दो माह हो गए और अव एकाध दिनों में लौट भी रही हूं। असल में मैं आपसे पहले ही मिलना चाहती थी, लेकिन एक तो मैं वुरी तरह उलझी हुई थी, दूसरे आपका पता भी खो गया था। वह तो अचानक कल राय साहव से जिक्र होने पर मालूम हुआ कि वे भी आपके दोस्त हैं···"

दोस्ती को इतना हल्का वनाना या अपने को राय का दोस्त कहलाना मुझे विल्कुल पसंद नहीं था, लेकिन मैंने प्रतिवाद नहीं किया। कम-से-कम उस वक्त उसका कोई मौका नहीं था। लेकिन हां, जैसे ही इसका मौका आया, मैं एक मिनट को भी नहीं चूका था।

"दोस्ती तो दूर, मेरे-उसके औपचारिक संवंध भी नहीं हैं।" अवसर आते ही मैंने कहा था। यह वह अवसर था, जव राय अपने झूठ के कारण हम दोनों के वीच नंगा हो चुका था और हम दोनों एक-दूसरे को कॉन्फिडेंस में लेकर उस पर हंस रहे थे। यह तव की वात है, जव हम दोनों के वीच का माहौल सहज और मैत्रीपूर्ण हो गया था और हम दोनों ने अपने-अपने अस्त्र एक ओर रख दिए थे। अस्त्रों की जरूरत यों भी तभी तक पड़ती है, जव तक कि हम एक-दूसरे से चौकन्ने रहते हैं, मुमकिन है कि हम लोग इतनी जल्दी सहज नहीं हो पाते, एक स्वाभाविक वक्त जरूर लगता, लेकिन मैं समझता हूं कि राय का झूठ एक पुल वन गया—ऐसा पुल, जिस पर अपनी-अपनी ओर से हम दोनों चढ़ आए और वहुत जल्द हमने देखा कि दोनों एक-दूसरे के पास खड़े हैं।

"अव तो मुझे एक और वात भी आपसे कह देनी चाहिए।" कुछ देर वाद मैं उससे कह रहा था।

"क्या ?"

"आपको याद है, कुछ देर पहले मैंने राय के यहां न पहुंच पाने के लिए अपने एक दोस्त की बीमारी..."

"हां, हां..."

"बताना मैं यह चाहता हूं कि वह सौ-फीसदी सच नहीं है। दोस्त मेरे बीमार जरूर हैं, मैं वहां गया भी था, लेकिन अगर मैं चाहता, तो कोई कारण नहीं था कि मैं वहां पहुंच नहीं पाता।"

"मैं जानती हूं।" वह मुस्कराती हुई बोली।

"क्या जानती हैं ?"

"यही कि आप वहां क्यों नहीं गए या यह कि आप वहां नहीं जाते। मैं तो वह सब भी जानती हूं, जो अभी आपने नहीं कही हैं।"

बात हालांकि बिल्कुल विनोद के ढंग पर कही गई थी, लेकिन क्षण-भर को मैं हतप्रभ हो गया था। संभलकर बोला, "क्या जानती हैं, बताइए ?" वह हंसती रही। जवाब उसने नहीं दिया। पीछा पकड़ने पर भी वह सिर्फ हंसती रही।

इस बीच शाम कभी की रात बन चुकी थी। चाय हो गई थी। पान के कई दौर हो चुके थे और पत्नी औपचारिक साथ देकर किचन में लौट चुकी थी। अब मेरे लिए तनाव का वक्त आ रहा था। तनाव यों कि हालांकि मैं बात कर रहा था, लेकिन हर क्षण खटका लगा हुआ था कि वह किसी भी पल उठ खड़ी होगी। इस खटके को काटने या तनाव से निबटने का मेरे पास एक ही उपाय था और वह यह कि बातचीत के सिलसिले को टूटने न दूं।

"आपको शहर कैसा लगा ?"

"अं...ठीक है।"

"ठीक क्या होना है। शहर या तो पसंद होना चाहिए या नापसंद।"

"समझ लीजिए नापसंद नहीं है।"

"इसका मतलब यह कहां हुआ कि पसंद है।"

"हां, नहीं हुआ।"

"मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि आपने इसे देखा नहीं है, वरना कोई वजह ही नहीं है कि आपको पसंद न आए ! क्या इस-जैसा कोई शहर आप बता सकती हैं ? कोई ऐसा शहर, जिसमें नेचर और आबादी इस बुरी तरह गड्मड हों और जहां यह पता न चले कि कहां शहर शुरू होता है और कहां नेचर खत्म..."

पता नहीं, मेरी इस बात से वह कहां तक प्रभावित हुई, क्योंकि उस प्रसंग में न तो उसने उत्साह दिखाया और न वह आगे बढ़ा।

"ताज्जुब है !" थोड़ी देर बाद मैंने अचानक याद करते हुए कहा, "देखिए, आपसे मिले इतनी देर हो गई, लेकिन अभी तक मैंने आपसे यह नहीं पूछा कि आप बंबई में कहां रहती हैं, क्या शगल है ?"

"जरूरी है ?"

"क्यों नहीं ? वह जानना ही कैसा हुआ कि आपको यह पता न हो।"

"कहां रहती हूं का जवाब है, पाली हिल। क्या करती हूं ? कुछ नहीं। शगल ? एक छोटा-सा बिजनेस। विवाहिता हूं, पति के साथ नहीं रहती, बच्चे हैं। एक-दो नहीं पूरे तीन, लेकिन कोई मेरे साथ नहीं रहता। सब इधर-उधर के स्कूलों और हॉस्टलों में रहते हैं। आपको पता है, मेरी बड़ी बच्ची की उम्र कितनी है ?"

ताज्जुब का मौका असल में यह था। जिस स्त्री को मैंने कम-उम्र, अविवाहिता और नीम-अनुभवी किस्म की मास्टरनी-वास्टरनी समझ रखा था, वह बिल्कुल बरअक्स निकली ! ताज्जुब यह था कि बंबई के जिस मित्र के माध्यम से वह मुझसे मिल रही थी, एकाध बार से ज्यादा उसका जिक्र भी नहीं हुआ। ताज्जुब यह था कि इसी शहर में दो माह रहकर जिसे मिलने की भी फुरसत न थी, वह दूसरी ही भेंट में बरसों परिचिता लगने लगी। वह मेरे घर पर बैठी थी, लेकिन दूसरी औरतों की तरह न तो उसने बार-बार पत्नी को पुकारा था और न उसकी परवाह की थी।

लेकिन इन सबसे ज्यादा आश्चर्य मुझे बाद में हुआ। तब, जब वह इतनी सहज हो गई कि मुझे अविश्वास होने लगा। मैंने कहा था, 'थकी हुई आई थीं, हाथ-मुंह धोकर फ्रेश हो लो,' तो वह उठकर बेझिझक अंदर चली गई। मैंने कहा, 'खाने का वक्त हो रहा है, अगर तकल्लुफ न हो,' तो साथ खा लो, उसने मना नहीं किया। मैंने कहा, 'क्या आज ही लौटना जरूरी है ? क्या यह नहीं हो सकता कि आज के बदले कल या परसों चली जाओ ?' वह खामोश स्वीकृति के साथ सोचने लगी थी। मैंने कहा, 'रात के ग्यारह बज रहे हैं। इतनी रात-गए होटल के कमरे में आपका लौटना क्या अच्छा लगेगा ! क्यों नहीं यहीं सो जातीं, सुबह चली जाना।' उसने इनकार नहीं किया।

फिर जब हम उतनी रात होटल वाले को टेलीफोन करने स्कूटर से बाहर आए और फोन करने के बाद मैंने प्रस्ताव रखा कि अगर सोने की जल्दी न हो, तो तुम्हें नये सचिवालय तक लिए चलते हैं। कहा, आओ तुम्हें एक ऐसी जगह दिखा लाएं, जहां से सारा शहर सासर में पड़े जुगनुओं की तरह दमकता है, वह एक क्षण में तैयार हो गई। न तो उसने मुझे प्रतीक्षा करती पत्नी की

याद दिलाई थी और न कुछ कहा।

मैं नहीं जानता कि यह उसका अतिरिक्त आत्मविश्वास था, या मुझ पर असाधारण विश्वास। हां, रात बारह बजे के बाद, सचिवालय के उस सूने एकांत में एक बिल्कुल अजनबी औरत के साथ देर तक बैठे हुए मुझे बार-बार अविश्वास होता रहा।

"शहर कैसा लगा ?" बड़ी देर बाद जब हम दोनों के बीच एक रहस्य-मय चुप्पी घिर आई, तो मैंने पूछा था। मानो अपने बारे में कोई सवाल कर रहा होऊं। उसने उस नीम-अंधेरे में मुझे घूरकर देखा, कई क्षण सोचती रही, फिर धीरे से बोली, "अच्छा।"

सहसा मुझे अपनी पत्नी, उसकी आंखों और अपनी पहचान की याद आ गई थी।

आम तौर पर मेरे साथ यही होता है।

स्त्री :

आम तौर पर ऐसा होता नहीं है।

मैं अभी भी जवान हूं, बहुत-से लोग मुझे सुंदर कह सकते हैं। शरीर मेरा अभी भी इतना आकर्षक है कि अक्सर लोगों को मैं कम-उम्र और अविवाहिता लड़की लगती हूं। मुमकिन है, मेरी बातों में अहम्मन्यता की बू आए, लेकिन यह सच है कि ब्याह-जैसी संस्था की दीवारों के बाहर आकर मुझे पुरुष जाति के ऐसे-ऐसे अजीब-अजीब अनुभव हुए हैं कि अब उनसे न तो डर लगता है और न प्रेम उमड़ता है। अधिक से अधिक वे मुझे दया के पात्र लगते हैं।

किशोर कहता है कि जान-बूझकर चाहे मैं न करती होऊं, लेकिन अनजाने ही मेरा व्यवहार आदमी को उसी ओर धकेलता है। क्या राय के झूठ बोलने के पीछे यही था ? और इस पुरुष के तरल हो जाने के पीछे ? क्या मैं इतनी ही सुरक्षित-पसंद हूं, जितनी मैंने उसके सामने अपने को रखने की कोशिश की है ? क्यों मैं उसकी हर बात मानती चली गई ? एडवेंचर ! वेंजियंस ! मज-बूरी ! क्यों ?

मैंने कहा न कि आम तौर पर मेरे साथ ऐसा होता नहीं है।

मैं अपने घर-घराने में एक जिद्दी औरत की तरह जानी जाती हूं। इस स्वभाव को घर में सिर्फ पापा जानते थे, शायद इसीलिए उन्होंने मेरी किसी भी जिद के आगे अड़ने की कोशिश नहीं की। चाहे मेरे ब्याह का मामला हो या शादी के ग्यारह बरसों बाद तलाक का, वे हमेशा मुझे तरह देते रहे। जो

कुछ भी अपनी जाति या घराने में कभी नहीं हुआ था, मैं वह सब करती चली गई। जब तय कर लिया, कर लिया। जिस दिन लगा कि धोखे को नियति मानकर जीना मूर्खता है, जिस दिन लगा कि पति के रूप में मिले उस दोगले आदमी के साथ रहना अब मेरे लिए नामुमकिन है, उसी दिन मैं निकल आई। ग्यारह बरस की जिंदगी को एक झटके से तोड़ते हुए मुझे शायद ग्यारह मिनट भी नहीं लगे थे। फिर मुझे कौन मना पाया था ? न तो मां के आंसू, न बिरादरी वालों की बुजुर्गाना सलाहें, न तो सामाजिक बदनामी और न अपमानित पति की धमकियां···

उस रात सचिवालय के एकांत में बैठे हुए जब मैंने उससे यही बातें कहीं, तो उसे विश्वास नहीं हुआ था।

"बच्चों के बारे में आपने क्या सोचा था ?" वह हैरान होकर पूछने लगा, "क्या आपको यह नहीं लगा कि उनके साथ ज्यादती हो सकती है या यह कि वे···"

"नहीं !"

"आप आठ बरसों से अलग रह रही हैं ?"

"हां।"

"अपने पैरेंट्स के घर ?"

"जी नहीं, अपने घर। जब मैं बच्चों को संभाल सकती हूं, अपना खुद का बिजनेस अपने बूते पर खड़ा कर सकती हूं, तो अपना खुद का घर नहीं रख सकती ?"

शायद मेरी वह बात कुछ तल्ख थी, क्योंकि मैंने देखा, वह कुछ आहत-सा हो गया था। बाद में मैंने जाना कि वह उसे चुनौती की तरह लगी थी। जैसे उसके पौरुष को गाली दी गई हो। कुछ लोग जीवन-भर एक निर्णय लेना चाहते हैं, लेकिन कभी नहीं ले पाते। कुछ डर भीतरी होते हैं, कुछ बाहरी। लेकिन चूंकि उन्हें स्वीकार करना कठिन होता है, लिहाजा सामाजिकता ओढ़ ली जाती है। ऐसे लोगों से टकराओ, तो वे आपकी हर बात पर अविश्वास करते हैं। यह इसलिए भी कि विश्वास उन्हें भयावह लगता है।

कहीं दूसरे स्तर पर यही बात मुझ पर भी तो लागू नहीं होती ? वरना क्या वजह है कि एकांत में इसके साथ बैठे हुए मैं सारा वक्त किशोर की बात करती रही और वह मेरे साथ बैठे हुए पत्नी की बड़ाई हांकता रहा। कभी लगता है कि मैं भ्रम में थी, कभी लगता है कि शायद अभी भी हूं और कभी लगता है कि नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं, मैं यह मानने से बिलकुल इनकार करती हूं कि वह आदमी सुंदर है या किसी और तरह से बहुत खूबसूरत व्यक्तित्व का मालिक।

कितनी अजीब बात है ! वह बार-बार यही कहता रहा है। वह सचिवालय का निर्जन एकांत हो, श्यामला-हिल्स का अंधेरा और रूमानी कोना या होटल का मेरा बंद कमरा। उसे ही नहीं, कभी-कभी मुझे भी अजीब लगता है कि चलते-चलते किया हुआ जरा-सा परिचय इतनी तेजी से मैत्री, आत्मीयता और एक नामहीन बंधन में बदल जाए और हमें लगे कि अचानक हम एक ढालू रास्ते पर पहुंच गए हैं—ऐसे नुक्ते पर, जहां चलने की कोशिश में रखे हुए पांव बरबस दौड़ने लगते हैं···

तीन दिन पहले मैं बंबई लौटने वाली थी। इस बीच मैंने किशोर को तीन तार किए हैं और तेंतीस बार अपना प्रोग्राम बदला है। इन तीन दिनों में वह न तो घर पर रहा है और न दफ्तर में और रात के चंद जरूरी घंटों को छोड़कर सारा वक्त हम दोनों ने इकट्ठे बिताया है। अभी भी कई घंटे बाद वह थोड़ी देर के लिए उठकर बाहर गया है और मैं होटल के अपने कमरे में बंधा हुआ सामान लिए चलने को तैयार बैठी हूं। दरअसल, एक-एक पल से मुझे डर लग रहा है। बाहर किसी भी क्षण कुंडी खनक सकती है और मैं जानती हूं कि वह तूफान की तरह आ जाएगा।

लेकिन नहीं, इससे पहले कि फिर कोई मोह मेरे पांव पकड़े और मैं अवश हो जाऊं, इससे पहले कि थोड़ी देर पहले का उसका दहकता हुआ चुंबन मेरे सारे शरीर में जहर की तरह फैल जाए, मैं बिल्कुल निकल जाना चाहती हूं। उसके आने के भी बहुत पहले। कोई मैं भावुकता में बहने वाली किशोरी हूं? कोई मैं तन या मन से खाली या भूखी औरत हूं ? मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं तीन बच्चों की मां और पैंतीस बरस की खासी जिम्मेदार औरत हूं—ऐसी औरत, जिसके लिए यह मोहबंध अब सासर में कैद और दमकते हुए जुगनू की रोशनी से ज्यादा कुछ नहीं··· △

जनाजा

"फिर अब क्या करें ?"

एक पल बाद रमन फिर वही सवाल पूछ बैठा जिसका शंकरदत्त को बराबर डर बना हुआ था। फिर वह उनकी ओर ऐसी आंखों से देखने लगा, जैसे एकाएक उन्हें गलत नुक्ते पर पकड़ लेना चाहता हो।

सहमकर वह दूसरी ओर देखने लगे। साउथ के उन दूसरे ब्लाकों की तरफ जहां यूकिलप्टिस के छोटे-छोटे पेड़ करीने से लगे हुए थे और दिसंबर की खुशगवार धूप जिनके केले ऐसे पीड़ों पर चिलचिला रही थी। हवा ऊपर किस तरह पारदर्शी होकर कांपती है, इसका एहसास जैसे उन्हें पहली बार हुआ। स्पष्ट ही इस इतनी बड़ी आकस्मिक दुर्घटना का उधर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। लोग अपने-अपने बीवी-बच्चों और दोस्तों के साथ छुट्टी के दिन की आलस-भरी और नार्मल जिंदगी गुजार रहे थे।

"क्वार्टर नंबर तो बता दिया था ?" अचानक शंकरदत्त ने कुछ याद कर पूछा।

"हां," रमन बोला, "वैसे भी कुरैशी को पता है।"

दोनों अलग और दूर खड़े थे। रिजवी के क्वार्टर से ही नहीं, उसके सहन, सामने वाले अहाते और उस जगह से भी दूर, जहां दो-दो, चार-चार के ग्रुप में खासी बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। कुछ देर पहले शंकरदत्त भी उन्हीं में से एक थे। न चाहते हुए भी बहुत-सी बातों के हिस्सेदार। लेकिन रमन ने उन्हें सहसा उबार लिया था। कुरैशी के यहां से लौटकर रमन ने उन्हें दूर से ही इशारा कर दिया था और वह निकल आए थे।

"दत्त जी!" एक लंबे पल के बाद रमन ने अधीरतापूर्वक कहा, "साढ़े ग्यारह बैसे ही बज रहे हैं। अगर अभी से इतनी देर हुई, तो जनाजा उठने में शाम हो जाएगी। कालोनी वाले कब तक भूखे-प्यासे बैठे रहेंगे? नागी साहब और जोशी जी बार-बार कह रहे हैं कि भई, जो कुछ करना है, जल्दी करो···"

यह कोई नयी बात नहीं थी। रमन की गैर-हाजिरी के दौरान जब शंकर-दत्त भीड़ में शामिल थे, तो इस बात के टोंचे उन्हें कई बार लगे थे। दलीलें वे ही थीं, लेकिन इस वक्त रमन के मुंह से वही बातें शीशे की तरह धारदार लगीं।

"जोशी खुद ही कुछ क्यों नहीं करता?" वह पूरी तरह फटकर चीखना चाहते थे, लेकिन तत्काल ही मौके की नजाकत सामने आ गई।

"रुक जाओ," ऊपरी गंभीरता के साथ वह संयत स्वर में बोले, "थोड़ी देर और देख लेते हैं। मुमकिन है कि स्टेशन से कोई खबर आती हो, मुमकिन है कि कुरैशी दफ्तर से होता हुआ सचमुच आ जाए या···"

पर आगे बोला नहीं गया, चाहे रमन की घूरती हुई दृष्टि हो या उनके अपने ही आत्मविश्वास की कमी, वह स्वयं चुप हो गए। स्टेशन से क्या खबर आनी है, वह भी जानते थे और दूसरे लोग भी कि वहां से निन्यानवे फीसदी निराशा हाथ लगने वाली है। लेकिन फिर दूसरा उपाय? क्या वह सचमुच स्टेशन की खबर के लिए ही रुके हुए हैं?

"जरा इन्क्वायरी को तो फोन कर देखो।" अचानक उत्साहित होकर उन्होंने कहा।

"वह मैं कर आया हूं।"

"अच्छा! फिर···।"

"जी० टी० सिर्फ दस मिनट लेट थी," रमन ने बताया, "और इन्क्वायरी ने कहा कि गाड़ी ठीक दस सत्रह पर भोपाल छोड़ चुकी है।"

दस सत्रह अर्थात् सिर्फ आधे घंटे की मोहलत! जब स्टेशन के लिए किसी आदमी को दौड़ाया जा रहा था उस वक्त पौने दस बज रहे थे। यों उस दुर्घटना की दहशत उस वक्त भी सब पर तारी थी। तो भी कालोनी के हर आदमी ने इस बात पर जोर दिया था कि किसी-न-किसी को स्टेशन जरूर

भेजना चाहिए। कौन जानता है कि किस्मत से गाड़ी मिल जाए और रिजवी के वदनसीव वीवी-वच्चे आखिरी दफा कम-से-कम मुंह ही देख लें···

शंकरदत्त ने घड़ी देखी। स्टेशन से कोई खवर आए या न आए, इस वात पर धीरे-धीरे उन्हें भी यकीन होता जा रहा था कि कुरैशी गच्चा दे गया। आना होता तो वह पहली खवर पहुंचते ही कभी का आ चुका होता। लेकिन मन जैसे पूरी तरह मानता नहीं था। लगता था, कुछ भी सही, कुरैशी आखिर है तो मुसलमान ही। अपनी विरादरी वाले आदमी के लिए कहीं तो कुछ दर्द होगा···

"दत्त जी!" इस वार रमन का स्वर कुछ वदला हुआ था, "मेरे खयाल से कुरैशी का रास्ता देखना वेकार है। वह नहीं आने का।"

"उसने पहले क्या कहा था?"

"कहता क्या," रमन वोला, "वही, जो ऐसे मौके पर सभी कहते हैं।"

"फिर भी?"

"सुनकर पहले तो वह भौचक रह गया था, फिर अरवी की कोई आयत पढ़ता हुआ वोला था कि आप चलिए, मैं अभी हाजिर होता हूं। मैंने कहा न, मुझे तो तभी शक हुआ था। दूसरी वार इसीलिए मैं जाना नहीं चाहता था। सोचिए तो सही, क्या ऐसे कामों में भी तकाजे की जरूरत पड़ती है?"

असल में रमन को दोनों मरतवा शंकरदत्त ने ही भिजवाया था। जैसे ही उस दुर्घटना की वहशत कम हुई थी और आगे का ध्यान आया था, उन्होंने कुरैशी को वुलाने के लिए रमन को दौड़ा दिया था। पहली वार खवर आई थी, आ रहे हैं। घंटे भर प्रतीक्षा करने के वाद फिर रमन गया, तो अव यह खवर लेकर आया है कि कुरैशी घर पर ही नहीं मिला। उसे वच्चों से कहलवा दिया गया कि एकाएक साहव का चपरासी वुलाने आ गया था, सो वह यह कहकर चले गए हैं कि उधर ही से होते हुए मैयत में शामिल हो जाएंगे।

"शामिल?" शंकरदत्त के मुंह में वहुत कुछ आकर अटक गया था, लेकिन उन्होंने होंठों को कस लिया। महज शामिल होने वाले तमाशवीनों की यहीं कौन कमी है! जमा तो है आधी-की-आधी कॉलोनी···

"अरे भाई, आखिर क्या तय हुआ?"

सहसा सवसे ऊंची आवाज में पुकारकर जोशी ने पूछा। जैसे तय करने-न करने की जवावदारी अकेले शंकरदत्त की ही हो और अव तक कुछ न कर सकने के लिए उन्हें कठघरे में खड़ा किया जा रहा हो।

यह आदमी कितना कमीना और लंपट है। जोशी का चुकंदरनुमा चेहरा देखते ही शंकरदत्त की वायीं कनपटी की नस तड़पी और निचला होंठ गुस्से में कांपकर लटक आया। साला, हर जरूरी-गैरजरूरी जगह अपनी गंदी नाक

घुमेड़ता है।

"कुरैशी घर पर नहीं है।"

रमन ने बहुत संयत स्वर में जैसे सबको एक साथ बताया और बिल्कुल ठंडे ढंग से जाकर एक ओर खड़ा हो गया। भीड़ में एक क्षण के लिए सकता पड़ गया।

"छुट्टी के दिन भी दफ्तर ?" किसी ने धीरे से एक जुमला उछाला।

"दफ्तर नहीं, साहब !" सप्रा ने कहा।

"साहब !" तनखी वाले ने साश्चर्य कहा, "साहब कि मेमसाहब ?"

"अमां मेमसाहब ही नहीं, मेमसाहब का पेटीकोट और पेटीकोट ही नहीं, उसका कमरबंद···"

कुरैशी के पीछे अकसर यह बात कही जाती थी कि वह साहब का मुंह-लगा और पिट्ठू है कि छुट्टी के दिन बिला नागा वह बंगले पर हाजिरी देता है कि बच्चों की फ्राक से लेकर मेमसाहब के सेनेटरी टॉवेल्स तक का भार कुरैशी ने ले रखा है।

"अजी मारो गोली कुरैशी को," सहसा जोशी ने तैश में आकर कहा, "क्या साले कुरैशी के बिना रिजवी की लाश नहीं उठ सकती ? क्यों दत्त जी ?"

"उठ क्यों नहीं सकती," दत्त ने कहा, "आप ही आगे बढ़िए और उठाइए लाश को। भला इसमें मुझे या किसी को क्या एतराज हो सकता है। हम लोग तो महज इसलिए झिझक रहे थे कि यह दूसरी बिरादरी का मामला है···"

और फिर भीड़ में खामोशी छा गई। थोड़ी देर आपस में खुसर-पुसर होती रही। हर कोई यह याद करने की कोशिश कर रहा था कि कॉलोनी में और कौन-कौन से मुसलमान घर हैं।

"आबकारी विभाग के कुदरतुल्ला साहब ?"

"अफसर हैं, न हिंदू, न मुसलमान !"

"फाइनेंस के इमामबख्श ?"

"पक्का मुसलमान और परहेजगार किस्म का आदमी। जो ईमान वाले नहीं, उन्हें इंसान ही नहीं समझता।"

"अली साहब ?"

"नंबरी स्नॉब ! इस कदर कम-जर्फ है कि···"

"और अंसारी ?" किसी ने याद दिलाया।

"वही होता, तो फिर रोना किस बात का था," शंकरदत्त ने कहा, "कम-बख्त दौरे पर चला गया है।"

सब चुप। दो-एक मिनट बाद भीड़ में फिर छोटे-छोटे ग्रुप बनने लगे। कुछ लोगों ने जमुहाइयों से बचने के लिए बीड़ी-सिगरेट जलायी, कुछ ने तंबाकू

फांकी। शंकरदत्त ने भी डिब्बा खोलकर एक पान मुंह में रखा। फिर सब मिलकर उस सड़क की ओर देखने लगे, जिधर से बस आती थी—स्टेशन होकर आने वाली बस।

"अब और कितनी देर है?"

शंकरदत्त अभी जीने पर ही थे कि दालान में खड़ी पत्नी ने जैसे उन्हीं सवालनुमा बांहों से रास्ता रोक लिया।

"देर है।" कहकर वह तेजी से भीतर घुस गए। अगल-बगल के क्वार्टरों की महिलाएं भी अपने-अपने दालानों से उन्हें ही घूर रही थीं।

"बड़ी प्यास लगी है।" भीतर आकर उन्होंने यों बैठते हुए कहा, जैसे अपने टूटे हुए शरीर को सुस्ताने के लिए डाल रहे हों। पीछे-पीछे आ रही पत्नी रुकी नहीं, सीधे किचन की ओर निकल गई। दो मिनट बाद वह पानी का गिलास लेकर लौटी।

"स्टेशन से कोई खबर आई?"

"हां, आ गई।"

"क्या?"

"ट्रेन जा चुकी थी।"

कई पलों तक पत्नी उन्हें खामोशी से घूरती रही, फिर फंसे हुए गले से बोली, "मतलब यह कि रिजवी के बाल-बच्चे आखिरी दफा मुंह देखने से भी···" शंकरदत्त ने भी अपनी आंखें पत्नी की ओर उठा दीं, बोले नहीं, बस देखते रहे। सारी कॉलोनी में मिसेज रिजवी अगर कहीं जाती थीं तो वह यही घर था, सिर्फ येही घर!

"फिर?" बड़ी चुप्पी के बाद एक प्रश्न हुआ।

शंकरदत्त ने खखारकर गला साफ किया, जैसे पूछते हों, "फिर क्या?" धीरे से बोले, "खबर पहुंचा दी है मस्जिद में।"

"म्युनिमिपैल्टी में?"

"मस्जिद!" शंकरदत्त ने जोर से कहा, "म्युनिसिपैल्टी नहीं, मस्जिद!" दरअसल, पत्नी की म्युनिस्पैल्टी वाली बात उनके भीतर कहीं बहुत गहरे उतर गई थी—कई-कई घावों को एकसाथ उधेड़ती हुई! मुफलिसी में जिंदा रहना तो सहा जा सकता है लेकिन मरना और वह भी पराये शहर में? मान लो कहीं वह ही पराये शहर में होते तो? लेकिन शहर अपना किस तरह होता है? क्या सिर्फ जन्म लेने और दो-चार पीढ़ियों से रहे आने से ही? पराया न सही, लेकिन कई बार खुद उन्हें क्या इसके अपने होने में शक नहीं होता?

मान लो रिजवी की जगह वही होते ? क्यों नहीं हो सकते ? रिजवी ने ही कहां कल्पना की होगी ? कल वह दफ्तर आया था। रात उन्होंने उससे बात की थी। सुबह उसकी आवाज सुनी थी। वह जानते थे कि मिसेज रिजवी अपने बच्चों के साथ वतन जा रही हैं। उस वक्त एक बहुत जरूरी काम से निकले थे जब रिजवी के घर के सामने तांगा खड़ा था और स्टेशन चलने की तैयारी हो रही थी।

कोई दो घंटे बाद जब वह लौटे, तो देखा कि रिजवी के घर के सामने हंगामा मचा हुआ है। कॉलोनी के कई लोगों ने एक तांगे वाले को घेर लिया था और लात, घूंसे तथा जूतों से उसकी मरम्मत की जा रही थी।

शंकरदत्त झपटते हुए पहुंचे थे और वहां जो कुछ सुना, देखा और जाना, वह उन पर फालिज का हमला था।

रिजवी की लाश के पास मुश्किल से एकाध आदमी था जबकि तांगेवाले को मारने के लिए आधी कॉलोनी जमा हो गई थी। वहां से निकल आने के बाद भी उन जुमलों ने पीछा नहीं छोड़ा था।

"क्यों बे, क्या नाम है तेरा ?"

"करीम।"

"मुसलमान है साला।"

"अबे मियां," किसी ने कहा था, "अपनी बिरादरी वाले पर तो रहम किया होता…"

शंकरदत्त जानते थे कि रिजवी के बीवी-बच्चे वतन जा रहे थे। उन्हें यह भी पता था कि स्टेशन तक छोड़ने रिजवी जाने वाला है। आगे का पता नहीं था, जाने रिजवी बच्चों को रवाना करके ही लौटा या स्टेशन तक छोड़कर चला आया था। थोड़ी देर बाद लोगों ने देखा था कि रिजवी से तांगे वाला आठ आने ज्यादा मांग रहा था और बुरी तरह अड़ गया था। जब तू-तू, मैं-मैं से घर के सामने एक दृश्य खड़ा होने लगा, तो रिजवी को हार माननी पड़ी थी। रिजवी ने आखिर में अठन्नी फेंक दी थी लेकिन वह गुस्से में आग-बबूला हो चुका था। लोगों ने बस इतना ही देखा था कि उसी क्रोध में चिल्लाता हुआ वह घर के अंदर दाखिल हुआ था। तांगेवाला अभी मुश्किल से सौ गज बढ़ा होगा कि मालूम हुआ वसीम रिजवी अपने घर की दीवान पर मरा पड़ा है।

शंकरदत्त जिस तेजी से लपके थे, उसी शिद्दत से बर्फ भी हो गए थे। लाशें उन्होंने कई देखी थीं, लेकिन वैसा डरावना चेहरा उन्होंने इससे पहले कभी नहीं देखा था। रिजवी गुस्से में खौलता हुआ मरा था, लिहाजा उसके

दोनों होंठ कसकर भिंचे हुए थे, गालों की तनी हुई मांसपेशियों में दुहरी-तिहरी शलें पड़ गई थीं और आगबबूला होती हुई उसकी खुली आंखें मर चुकने पर भी निगलती हुई और बेहद डरावनी लगती थीं।

शंकरदत्त बच्चों की तरह दहलकर हट गए थे।

"एक अठन्नी के लिए पट्ठे ने जान दे दी।" कोई धीरे से कह रहा था और शंकरदत्त में इतना भी साहस नहीं था कि वह उसकी ओर देख लेते।

"वसीम," एक बार शंकरदत्त ने रिजवी से कहा था, "तुममें इतना क्रोध क्यों भरा हुआ है ? जानते हो, जो कुछ नहीं कर सकता वही गुस्सा करता है ?"

"जानता हूं।"

"फिर भी ?"

"शायद इसीलिए करता हूं।"

"तुम्हें पता है कि तुम अकेले पड़ते जा रहे हो ?" एक और दफा शंकरदत्त ने रिजवी से कहा था। वह या तो पाकिस्तान से युद्ध के दिन थे या किसी भयंकर दंगे के बाद कोई मौका।

"शायद।"

"और यह भी पता है कि मुसलमान तुम्हें···"

"हां, यह भी पता है कि मुसलमान मुझे काफिर समझते हैं, और हिंदू यह समझते हैं कि मैं···लेकिन क्या आदमी सिर्फ स्याह या सफेद ही होता है ? ऐसा नहीं होता कि दोनों के बीच कई-कई रंग घुले हों ?"

कई पल रुककर शंकरदत्त ने कहा था, "क्या यह जरूरी है कि जो रंग आपका भीतर से हो वह बाहर भी दिखाया जाए ?"

"दत्त जी, अगर यह जरूरी नहीं तो हिपोक्रेसी और ईमानदारी में क्या फर्क हुआ ?" रिजवी ने कहा था, "कुरैशी और मुझमें फिर क्या फर्क हुआ ? क्या कुरैशी और उस जैसे लोग यह सब करने के लिए काफी नहीं हैं ?"

शंकरदत्त चुप हो गए थे। रिजवी ने जैसे उन्हें याद दिला दिया था कि वह अपनी नहीं दूसरों की आवाज में बोल रहे हैं। मानो अपने और रिजवी के इतने बरसों के संग-साथ और बदनाम दोस्ती को झुठला देना चाहते हों। क्या यह कभी मुमकिन था ?

दफ्तर और कॉलोनी दोनों ही जगह शायद वह अकेले आदमी थे, जो रिजवी के साथ उठने-बैठने ही नहीं, हमदर्द दोस्त होने के लिए बदनाम थे। आम तौर पर वसीम रिजवी सनकी, गुस्सैल और चिड़चिड़े आदमी की तरह जाना जाता था, और नतीजा यह था कि लोग उससे या तो कटते थे या उसे अपने से काट दिया करते थे।

"अमां यार, किस सिड़ी आदमी को चिपकाए फिरते हो ?" दफ्तर के साथियों ने उन्हें कई बार टोका था, "क्या सांप भी कभी किसी का दोस्त हो सकता है ?"

"सांप !" उन्हें आश्चर्य हुआ था, "अगर रिजवी सांप है तो कुरैशी क्या नहीं ?"

कुरैशी और रिजवी एक ही बिरादरी के होने पर और एक ही दफ्तर में काम करने के बावजूद एक-दूसरे के बिल्कुल बरअक्स थे। यही नहीं, उनमें आपस में कभी पटी भी नहीं। वैसे भी रिजवी का सबसे बड़ा निंदक कुरैशी ही था। चाय की कैंटीन हो या दफ्तर की मेज, रिजवी के बिल्कुल विपरीत कुरैशी हंसमुख, मिलनसार और यारबाश आदमी की तरह मशहूर था। हर लम्हा लतीफों और चुस्त-दुरुस्त फिकरों से लैस कुरैशी गाहे-ब-गाहे अपनी जिंदादिली की मिसालें पेश करता रहता था। सामूहिक बातचीत के दौरान देश और राष्ट्रीयता उसके प्रिय विषय थे। 'तुम आदमी हो या मुसलमान', यह उसका ऐसा तकियाकलाम था, जिससे वह अपने हिंदू दोस्तों को खूब हंसाया करता था।

ओलंपिक टूर्नामेंट चल रहे थे और दफ्तर में कई दिनों से बड़ी सरगर्मी थी। सस्पेंस इस बात पर था कि भारत और पाकिस्तान के बीच हो रहे हाकी के खेल में कौन बाजी मार ले जाता है ? कुरैशी अपना छोटा ट्रांजिस्टर लेकर दफ्तर आया करता था और लंचब्रेक के अलावा और वक्तों में भी कमेंट्री सुनी जाती थी, बहसें होती थीं और शर्तें बदी जातीं। रिजवी का यहां भी कोई मौका नहीं था।

उस दिन दफ्तर पहुंचकर शंकरदत्त सांस भी नहीं ले पाए थे कि कुरैशी मिठाई का एक दोना लेकर उनके सिर हो गया था। सारा दफ्तर मुंह मीठा कर रहा था, लेकिन किस बात पर और कौन करा रहा है, यह थोड़ी देर रहस्य ही बना रहा। रिजवी उस दिन भी देर से दफ्तर आया था। हमेशा की तरह उसके आते ही चेमेगोइयां हुई थीं। थोड़ी देर खुसर-पुसर होती रही फिर अचानक कुरैशी रिजवी के पास मिठाई का दोना लेकर पहुंच गया था।

"किस बात की मिठाई ?" स्वभावतः रिजवी ने भी पूछा था।

"आपको पता नहीं ?"

"जी नहीं।"

"यारो," कुरैशी ने जैसे सारे दफ्तर को संबोधित करते हुए कहा था, "अब तो मान जाइए कि रिजवी साहब कितने मासूम हैं। बेचारों को यह भी पता नहीं कि ओलंपिक टूर्नामेंट में इस बार हमने पाकिस्तान को पटखनी दे दी है।"

दफ्तर के लोग हंसने लगे थे।

"मिठाई कौन खिला रहा है ?" रिजवी ने हलकान हुए बिना धीरे-धीरे पूछा ।

"अमां, आपको आम खाने से मतलब है कि पेड़ गिनने से ?"

"दोनों से," रिजवी ने दृढ़ता से कहा था—"[illegible] ।"

रिजवी का वह रुख ऐसा था कि एक पल को दफ्तर में सन्नाटा-सा रह गया । स्वयं कुरैशी जैसे सहम-सा गया था- लेकिन तभी [illegible] मेज से आवाज आई थी—"पेड़ आपके सामने खड़ा है ।"

इस बार दफ्तर में गूंजने वाली हंसी ऊंची थी । एक हद तक अकारण और शायद जरूरत से ज्यादा तल्ख भी । पता नहीं वह इसकी प्रतिक्रिया थी या कुछ और, सहसा रिजवी ने मिठाई का दोना घृणापूर्वक उठाकर बाहर फेंक दिया था ।

सारी कॉलोनी सोयी पड़ी थी, खामोश । तीन चौथाई रात बीत गई थी । कब और कैसे, पता नहीं । शंकरदत्त जाग रहे थे । किसी की मैयत में जाने का, कफन-दफन से लौटने का यह पहला अवसर नहीं था, अपने और परायों को मिलाकर ऐसे बीसियों मौके आए थे, लेकिन ऐसी बेचैनी पहले कभी नहीं हुई थी—अपने जवान बेटे को फूंक आने के बाद भी नहीं । असल में वह सदमा था जबकि यह सदमे से ज्यादा बेचैनी । वसीम रिजवी का मरा हुआ चेहरा उनके भीतर कहीं बहुत गहरे पैवस्त हो गया था ।

'क्या बेवकूफी है !' शंकरदत्त ने मन-ही-मन झल्लाकर अपने को डांटा और करवट बदल ली ।

उन्होंने नींद लाने की आखिरी कोशिश के तहत फिर दृढ़तापूर्वक आंखें मूंद लीं, लेकिन दूसरे ही क्षण घबराकर आंखें खोलनी पड़ीं । रिजवी का चेहरा बुरी तरह तंग करता था । वह फिर, और फिर, बड़ी देर तक यही करते रहे, लेकिन बंद आंखों में न तो नींद आ रही थी, और न खुली आंखों में··· △

होकर पूरे दरवाजे को घेर रखा था। उसके दोनों हाथ समानांतर उठकर किवाड़ के पल्लों को यों पकड़े हुए थे कि भीतर केवल हवा आ सकती थी।

"क्या बात है, डियर ?" पल-भर में समझने की कोशिश करते हुए उप्पल ने कहा। स्वर में कुछ लाड़ घुला हुआ था। तब भी वह खामोश खड़ी ताकती रही, जैसे देखते हुए भी बिलकुल न देख रही हो। एक बहुत लंबा क्षण गुजर गया। फिर वह निःशब्द आगे बढ़ी, तो दरवाजे का घेरा अपने-आप टूट गया।

"प्यास लगी है।" उसने भीतर आकर यूं कहा, जैसे उप्पल से नहीं, सामने की दीवारों से कहा जा रहा हो। वह कमरे के बीचोंबीच खड़ी थी और पीछे दरवाजा फिर बंद हो चुका था।

"मैं नहाने जा रहा था।" पानी का गिलास थमाते हुए उप्पल ने कहा, "मुझे ज्यादा-से-ज्यादा दस मिनट लगेंगे। अभी पहुंचता हूं, अच्छा !"

वह कुछ बोली नहीं।

"कोई गाड़ी तो नहीं पहुंची ?"

"नहीं।"

"तुम्हें बाहर खड़े किसी ने देखा तो नहीं ?"

उसने सिर हिला दिया—पता नहीं।

"वैसे तो इस वक्त सड़क सूनी रहती है, लेकिन सामने सक्सेना की बीवी अकसर झांकती रहती है।" कहकर उप्पल आगे बढ़ा। सामने वाली खिड़की का परदा जरा-सा सरकाकर उसने बाहर झांका, फिर एड़ी उठा-उठाकर वह इधर-उधर देखता रहा।

"सोचता हूं, क्यों न तुम पिछले दरवाजे से निकल जाओ !" लौटते हुए उप्पल ने कहा। एकाध पल सामने खड़ा उसकी ओर देखता रहा, फिर खुद ही बोला, "लेकिन रुक जाओ, पहले मैं देख आऊं···"

सवाल भी और जवाब भी। न कोई उससे पूछ रहा था और न वह जवाब दे रही थी। पिछवाड़े की ओर निकलती उप्पल की नंगी पीठ को वह एकटक देखती रही। उसने ठीक से कुछ भी नहीं सुना था और उप्पल की सारी आवाज उसे कहीं दूर से आती सुनाई दी थी···इतनी दूर से आती आवाज, मानो वह किसी नीम-अदृश्य चीज की तरह अस्पष्ट हो। कुछ-कुछ हलकी नींद के सपने-जैसा, जिसे देखते हुए हम जानते भी हैं, लेकिन नहीं जानते।"

कमरे में छोटे शहर की बेजान गंध थी, दोपहर वाली। यही कमरा था। जगह बेजगह क्वारे घर की बेतरतीबी से बोझिल और ला-उबालीपन के नुकूश से भरा हुआ। यही दीवार, मैले परदे, ऊंघते हुए कोने-अंतरे, नंगी मेज और उलटे-

सीधे बिस्तरवाली चारपाई, लेकिन तब अजीब बात हुई थी कि कमरे की दीवारें ढह गई थीं। दरवाजे थे, लेकिन उनमें जड़े हुए चौखट और मैले परदे नहीं थे। फर्श था, लेकिन उस पर पांव रखने का एहसास कहीं गायब हो चुका था। एक अजीब समयविहीनता की स्थिति, जिसमें नगर, लोग, गली-मोहल्ला, दोपहरी, धूप, या घर पर पड़ी पिता की दयनीय लाश, कहीं कुछ नहीं था।

उसने धौंकनी की तरह चलती छाती लेकर कुंडी खटखटाई थी, जैसे हत्या के बाद वह सीधे आ रही थी।

"तुम!" दरवाजा खुलने पर उप्पल ने सिर्फ इतना ही कहा था। आंखें उसकी सुर्ख और सूजी हुई, बाल घोंसले की तरह लेकिन तार-तार और सारी हुलिया डरावनी। अवश्य ही उसके चेहरे पर गैर-पेशेवर हत्यारे का-सा भाव होगा, क्योंकि उप्पल कई पल उसे दहशत भरी आंखों से घूरता रह गया था। फिर जल्दी मे उसे भीतर लेकर दरवाजा बंद कर दिया गया था।

सचमुच वैसा लंबा क्षण जीवन में उसके पहले कभी नहीं आया था। पहले इतने समय तक उसकी सांस भी नहीं रुकी थी। दोनों एक-दूसरे के सामने खड़े थे। तब भी उसकी छाती धौंकनी की तरह उठ-बैठ रही थी और अपने दोनों हाथ उसने बदन से यूं अलग रख रखे थे, जैसे उनमें अब भी लहू लगा हो।

"मैंने पापा को···।"

बड़ी मुश्किल से वह इतना ही कह पाई थी कि उसका मुंह बंद कर दिया गया था, जैसे दीवारों के कान हों।

"मैं सब सुन चुका हूं।" गहरी सहानुभूति और वेदना-भरे, लेकिन बहुत दबे हुए स्वर में उप्पल ने कहा था और कहकर रुक गया था। खुद उसकी सांस उखड़ रही थी, "लेकिन हनी, अचानक यह कैसे? अभी परसों तक तो ऐसी कोई बात नहीं थी। परसों शाम को ही तो मिले थे न? सारा वक्त पापा तुम्हारी बातें करते रहे। कहने लगे···"

उसे भीतर के जल में अड़े हुए किसी बहुत बड़े रोड़े के सहसा हट जाने का एहसास हुआ था। फिर वह आवशारी वेग, जिसमें खुद-ब-खुद कमानी की तरह टूटकर वह उप्पल की बांहों में समा गई थी और बेतरह सुबक रही थी।

"नो, हनी, प्लीज! जरा हिम्मत से काम लेते हैं···घबराते नहीं···इस तरह परेशान नहीं होते।"

उप्पल उसे समझा रहा था और उसने अपने को पूरी तरह उसके सुपुर्द कर दिया था। अजीब बात है कि उसकी हिचकियां बंध गई थीं। अजीब बात है कि उसकी सारी पीठ पर फिरते उप्पल के तसल्लियों-भरे हाथ में जाने क्या था कि उसकी सुबकियां रुकने के बजाय रुलाई और गहरी रुलाई में बदलती चली गई थीं। और फिर वही समय-विहीनता की स्थिति, जिसमें एक छोटे

और सांस लेते हुए नुक्ते के अलावा, आंखों का सारा संसार मर चुका था।···

"तुम्हें डर नहीं लगा ?"

आखिर-आखिर में उप्पल ने उससे पूछा था। वह चारपाई पर बिलकुल अवश और नीम मुरदा-सी पड़ी हुई थी। आंधी निकल चुकी थी और धूल के सारे गुबार अपने तिनके-पत्तों समेत बैठ गए थे। बहुत देर हो गई थी। पता नहीं, वह कहां थी। मानो वैसा ही सपना हो, जिसे देखते हुए हम जानते भी हैं, लेकिन नहीं जानते। जैसे बीच नदी के संयत जल में, गले के नीचे डूबा सारा शरीर धीरे-धीरे बैठता जा रहा हो, हलका होकर वजूद खो देने के लिए।

उसे डर क्यों नहीं लगा था ? वहां तो सभी थे। ऊदबत्ती की पाकीजा खुशबू से घिरी पिता की ढंकी-मुंदी लाश, बाल छितराए, सिर पटकती और बिलखती हुई मां, फुक्का मार-मारकर रोते छोटे-छोटे भाई-बहन, आंसू रोकते पड़ोसी और छोटे शहर का वह सब, जो किसी की अचानक मौत पर घिर आता है।

सब कुछ हो चुका था। न तो संदेह का मौका था और न अविश्वास की कोई गुंजाइश। मौत की तसदीक करके डॉक्टर कभी का जा चुका था। बहुत देर हो गई थी। सर्दियों की अलस्सुबह का धुंधलका चटकती धूप में और धूप की सबूही धीरे-धीरे दोपहर में घुलती जा रही थी। बिरादरी के सारे अपनों और रिश्तेदारों को संदेश भेजे जा चुके थे। सबसे पहला और जरूरी तार मां के बड़े भाई को, जो पास के किसी शहर में रहते थे, फिर मुन्ने चाचा को, जो सबसे दूर थे और जिनके पहुंचने की कोई संभावना नहीं थी। अंतिम संस्कार के लिए लोग मामा का ही रास्ता देख रहे थे, क्योंकि मुद्दत पहले घर से निकले भाई का कोई पता नहीं था, मां को भी नहीं।

क्या मौत की डॉक्टरी तसदीक के बाद भी शक की गुंजाइश रह जाती है ? सब-कुछ जानते हुए भी जैसे कोई उसे समझने से रोक रहा था। पूरे विश्वास से अवाक् रह जाने के बावजूद कहीं अविश्वास था, जो नशे की तरह आंखों में चढ़ा हुआ था, जैसे अचानक कहीं कोई तिलिस्म घटित होगा और उसके अविश्वास को सच बनाकर खड़ा कर देगा।

"सच ऐसा ही होता है।" अभी परसों ही पापा ने कहा था, "हाथी के असली दांत की तरह। यह सजे-सजाये घर की सारी असलियत छिपाए किसी अंधेरी कोठरी की तरह होता है, जिसे मेहमानों या दूसरों की नजर से अक्सर बचाया जाता है।"

पापा वह किससे कह रहे थे ? उससे या अपने आपसे ? वह रात को उसके कमरे में चुपचाप घुस आए थे, हमेशा की तरह मां की चोरी से। पापा ने बरसों पुराना और भूरे रंग का ऊनी कोट पहन रखा था। उसकी आस्तीनें

कलाइयों के पास से घिस गई थीं और कई जगह से अस्तर झांक रहा था। उस वक्त कमरे की पीली रोशनी में उनका चेहरा इतना संकरा, बूढ़ा और दुबला लग रहा था कि जहां उसे इतनी वेदना हुई थी, वहीं एक हल्की-सी गुप्त खुशी भी कि अभी वह सिर्फ लड़की है। अभी तो वह बड़ी होगी, औरत बनेगी, धीरे-धीरे उम्र आएगी और···

"तुम सोयी तो नहीं थी," उन्होंने दरवाजे पर ही झिझकते हुए कहा था, "मैंने सोचा था कि नींद नहीं आ रही है, तुमसे अखबार ले लूं···"

ऐसे मौकों पर ऐसा ही बहाना होता था। किताब, अखबार या कलम का।

"मां कहां हैं?"

"होंगी कहीं!" पापा ने बेपरवाही से जवाब दिया था, "मैं क्या उससे डरता हूं?"

वह मुंह दबाकर धीरे से हंसी थी, खिसियानी हंसी। पापा को हड़बड़ाकर मासूम-सा झूठ बोलते हुए देखना कितना तकलीफदेह था! वह इधर यही करने लगे थे। जब भाई घर पर था, मां भी यही करती थीं। बरसों हो गए, घर जैसे चुपचाप दो टुकड़ों में बंट गया है। जब से होश संभाला है, तभी से। शायद तभी से जब भाई की अच्छी-बुरी हर बात पर मां खुलकर तरफदारी करने लगी थीं। शह पाकर वह रातों को गायब रहने लगा था और आखिर हारकर पापा ने अपने होंठ सी लिए थे। लेकिन हैरत है कि इसका एहसास बहुत बाद में हुआ था। मुन्ने चाचा के आने के बाद। तब वह जिस घर में रहा करते थे, वह ऐसा नहीं था। वह एक झुका हुआ-सा मकान था, जिसके कमरे दिन में भी अंधेरे और ठंडे रहते थे। छत बेहद नीची, शहतीर काली और धुआं खायी हुई और सीलिंग में सीमेंट की जगह बांस की खपच्चियां बंधी हुई थीं। कई बार जब धूप छत के अंधेरे कोनों में पहुंचती, तो उघड़ी हुई सीलिंग और जगह-बेजगह झूलते पुराने काले जाले चमकने लगे थे। वह एक अजीब भरा-पूरा घर था, जहां बच्चों के होते हुए भी बिलकुल शोर नहीं मचता था। एक निरंतर तनी हुई खामोशी, जिसमें ज्यादातर खाना पकने की आवाजें ही सुनाई देती थीं।

मुन्ने चाचा पापा के दूर-दराज के भाई थे। गांव-घर से आसूदा, शौकिया नौकरी करने शहर आए थे, सो घर पर ही रहने लगे। इस पर मां पहले खुश नहीं थीं और पापा ने ही उन्हें मनाया था, लेकिन ताज्जुब कि थोड़े ही दिनों में कुछ अजीब उलटफेर हो गया था। जाने क्या हुआ था कि मां एकदम बदलकर मुन्ने चाचा से खुश हो गई थीं और फिर यह हुआ था कि मां जितनी खुश होती गईं, पापा उदास होकर उतने ही दूर खिंचते चले गए···

बरसों हो गए, मुन्ने चाचा इस घर से जाने कितनी दूर निकल गए, लेकिन वह बीच की दरार अब भी बनी हुई है। घर से चले जाने के बाद भी, एक अरसे तक मुन्ने चाचा जैसे बराबर बने रहे थे। खासकर हर उस वक्त, जब मां भाई को लेकर बिसूरती और पापा पर इल्जाम रखती थीं कि वह बेटे से दुश्मन की तरह बरताव रखते हैं। महीनों से बोलचाल बंद कर रखी है। जवान-जहान लड़का है, किसी दिन गुस्से में आकर निकल गया, तो?

अच्छा हुआ, भाई ने ही उसका निपटारा कर दिया, जैसे वह मां से कहता गया हो कि इल्जाम ही रख लो, या चुपचाप बिसूर लो। मां ने वही किया। जिस दिन भाई के घर से निकल जाने की बात पक्के तौर पर मालूम हुई, वे सारे इल्जाम जैसे उन्होंने अपने ही पेट में डाल लिए और अपने कमरे में बंद हो गईं। वह घर का सबसे लंबा, खामोश और तकलीफदेह दिन था। वैसा ही दिन, जैसे कि बरसों पहले उसके एक कौतुक ने ला खड़ा किया था। तब घर पर मुन्ने चाचा भी थे। उस दिन वह अपनी सहेलियों में एक नया खेल सीखकर आई थीं। टूटी चूड़ी को लेकर आपस में प्यार परखने का खेल। कोई चूड़ी का टुकड़ा अपनी फ्रॉक के पल्ले में लपेट लो, जिनके बीच का प्यार जांचना हो, धीरे से उन दोनों का नाम लो। फिर एक दफा उसे चूमकर आंखों से लगा लो और पट से तोड़ने के बाद खोलकर देखो कि पल्ले में क्या बच रहा है। टूटने पर चूड़ी जैसा कण छोड़ जाती है, वह बनी प्यार की मिकदार···

"अच्छा, हम और पापा!"

उस शाम वह अपना कौतुक लिए बैठी थीं और सामने टूटी चूड़ियों का ढेर था···पापा और मां···अब मां और···

तब वह क्या जानती थीं कि मुन्ने चाचा और पापा के सामने रचा गया वह छोटा-सा खेल इतना गंभीर रूप ले सकता है···इतना गंभीर कि मुन्ने चाचा सकपका जाएं। पापा अचकचाकर अखबार से अपना मुंह ढंकने लगें और मां गुस्से से तमतमाकर उसके तमाचा जड़ दें···

"मां यहां मेरे पास आई थीं।" अखबार पलटने की आवाज और पापा की चुप्पी से ऊबकर उसने धीरे से कहा था।

"यहां," पापा चौंके थे, जैसे उसे यह याद दिलाया हो कि पापा भाई के कमरे में पहुंचे थे, "कब?"

"थोड़ी देर पहले," कहने लगीं, "तेरे पापा ने शाम से कुछ नहीं खाया। रूठे पड़े हैं। उन्हें खाना-वाना खिला देना।"

पापा ने दूसरी ओर मुंह फेर लिया था।

"अच्छा पापा, क्या आप सचमुच रूठे हुए हैं?"

पापा ने कोई जवाब नहीं दिया। एक बार उसे घूरकर उन्होंने स्वर को

बहुत संयत किया और भारी आवाज में बोले, "तू तो मनाने नहीं आई !"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"मैं जानती थी कि आप खुद यहां आएंगे।"

"लेकिन मैं यहां अपने को मनवाने तो आया नहीं। कहने आया था कि···"

बात अभी अधूरी ही थी कि दोनों ने एक-दूसरे को पकड़ती आंखों से देखा था। दोनों की आंखें मिली थीं और दोनों सहसा चुप हो गए थे।

"शाम को उप्पल मिला था।" कई क्षणों बाद वह उसे बिना चौंकाए बोले।

उससे गर्दन उठाते भी नहीं बना था।

"आज उप्पल जो कुछ कह रहा था, क्या वह सच है ? क्या तेरी मां ठीक कहा करती थीं ? क्या तू सचमुच उससे शादी करना चाहती है। क्या···"

बड़ी देर बाद फफक-फफककर रोती उसकी पीठ पर पापा ने शफकत का हाथ रख दिया था। कहने लगे, "शायद जो कुछ तूने सोचा है, वही ठीक हो। लेकिन बेटे, सच उतना ही नहीं होता, जितना दूर से नजर आता है। अकसर उसका बहुत बड़ा हिस्सा आंखों से ओझल कहीं और छिपा होता है···मैं आज तक नहीं जान पाया कि प्रेम कैसा होता है, या होता भी है, कि नहीं !"

पापा की भर्रायी आवाज उसके भीतर दूर तक उतरती चली गई थी। "लेकिन बेटे, इतना जरूर जानता हूं कि जो भी इसकी कैद में आया वह नष्ट होकर रह गया···"

क्या पापा की आवाज में अनुभव-जनित वेदना और सहसा ठगे जाने की तकलीफ नहीं थी ? बड़ी देर तक वह उस आवाज को पहचानने की कोशिश करती रह गई थी। उस दिन ही नहीं, उसके अगले दिन भी जब पापा ने उसका माथा चूमकर कहा था कि उसे आम और मामूली लड़कियों की तरह नहीं सोचना चाहिए···कि बेआब मोती ठीकरा होता है। जैसे उसकी मुट्ठी खोलकर उसमें बंद ठीकरे को उन्होंने दूर फेंक दिया था।

कोई नहीं जानता था कि पापा उसके कमरे में आखिरी बार गए हैं, उसने सोचा भी नहीं था कि पापा अपनी हताश लौटती और लरजती हुई टांगों में मौत घसीटकर ले जा रहे हैं। सुबह वह अपने बिस्तर पर मरे हुए मिले थे ! उन्होंने आत्महत्या नहीं की थी। बीमारी उन्हें कोई थी नहीं, फिर पापा को किसने मार डाला ? बड़ी देर तक अवाक् वह अपने दोनों हाथों को सामने लिए यों बैठी रही, मानो उनमें लहू लगा हो।

अजीब बात है कि न तो वह रो रही थी और न अपने आंसुओं से लड़

रही थी। वह केवल अकेली और बिल्कुल अकेली हो चुकी थी। उस कुहराम में बड़ी देर तक सुन्न और खोयी हुई। फिर लगा था, जैसे पिता की लाश के गिर्द दहाड़ें मारने वाली हर आवाज, चाहे वह मां की हो, या छोटे-छोटे भाई-बहनों की, उनके अपने ही लिए है। जाने कितनी देर तक वह बिलखती हुई मां को देखती रह गई थी और उसे लगा था, जैसे वह बिलखना पहचाना हुआ हो। बरसों पहले जब घर पर मुन्ने चाचा थे, एक बार कुछ हुआ था। उस शाम पापा बेहद उदास थे और मां का चेहरा सूजा हुआ था। जाने क्या हुआ था कि उस रात बड़ी देर तक पापा के कमरे की बत्ती जलती रही। बंद कमरे से काफी देर तक जो मिली-जुली और उत्तेजित आवाजें आती रहीं, उनमें मां का स्वर सबसे ऊंचा और भारी था। फिर जाने क्या हुआ था कि फटाक करता हुआ दरवाजा खुला था। उसमें से बिफरी हुई मां बाहर निकल आई थीं और उसी के बिस्तर पर टूटकर बड़ी देर तक बिलखती रही थीं···और दूसरे दिन ही मुन्ने चाचा चले गए थे।

एक अजीब दम-घोंटू एहसास, अकेलापन और वहशत, और वहशत के उन्हीं क्षणों में अचानक उस दुर्दमनीय इच्छा ने जन्म लिया था। वह वहां से, भागकर सीधे उप्पल के पास पहुंचना चाहती थी—उसी वक्त, उसी पल !

वह चारपाई की ओर देख रही थी, लेकिन आंखों में बिस्तर पर शलें गड़ रही थीं। ऐसी शलें, जो आंधी के बाद कच्ची और धूल-भरी सड़क पर रह जाती हैं···

उसे डर क्यों नहीं लगा था ?

उसके घर से उप्पल के सूने कमरे तक का रास्ता कम-से-कम पांच बरस पुराना था, लेकिन उस पर अकेली उसने कदम भी नहीं रखा था। शुरुआत की बात और थी। तब घर पर उप्पल की मां और हमजोली छोटी बहन भी रहा करती थी। वही उसे पहली बार घसीट ले गई थी।

'हनी !' यह नाम उसे उप्पल ने ही दिया था। खेल-खेल में कुछ समय तक वह उसका मतलब भी नहीं जानती थी, लेकिन एक दिन जब अपने-आप ही उसका अर्थ खुल गया, तो भीतर के किसी एहसास ने उसे चौकस कर दिया था और बहुत दिनों तक खेल में शामिल होते हुए भी जैसे वह बदन चुराये अलग खड़ी रही थी, जैसे बचपन का सबसे ज्यादा उलझाने वाला वह खेल···

"पहली टीप, मोली।"

'टीप' के खेल में दांव देने वाली मनीषा उसे छोड़कर एक-एक छिपे हुए साथी को ढूंढ़ निकालती थी।

"दूसरी टीप अमित···"

"तीसरी टीप, फीरोज···आशू, बीटल···"

"धप्पा ! धप्पा !"

कोई छिपा हुआ साथी दबे पांव आकर सबको मारने वाली मनीषा की पीठ पर धौल जमा देता, अथवा धप्पा कर देता था और फिर सारे छिपे हुए बच्चे तालियां पीटते हुए बाहर निकल आते थे। सबसे आखिर में डरती-डरती वह भी। लेकिन साथियों में अक्सर शोर मचता था कि वह कभी पकड़ में नहीं आती, या कि वह छुपती नहीं, भाग जाती है।

उप्पल भी यही कहता था, या अगर कहा न हो, तो बीच-बीच में उसकी नाराजगी का भाव कम-से-कम यही था। लेकिन बहुत जल्द वह दौर खत्म हो गया था। चंद महीने रहकर ही उप्पल की मां और बहन घर लौट गई थीं और उप्पल का घर पहले की तरह घर से कमरा हो गया था—छोटे शहर में एक जवान, कुंवारे और अकेले आदमी का कमरा, जहां शरीफ लड़कियां कभी नहीं जातीं।

फिर वह दूर-दूर की आंख-मिचौनी, जो अक्सर छोटे शहर के प्रेमी-प्रेमिकाओं में होती है—कभी राह चलते, कभी गली-नुक्कड़ पर, किसी प्रोग्राम-फंक्शन में, या प्रायः घर पर, जब उप्पल पापा के पास आकर बैठ जाया करता था।

वह कितनी अच्छी तरह जानती थी कि दूर खड़े होकर आतिशबाजी का खेल करना एक बात है और आग को सीधे-सीधे पकड़ लेना बिल्कुल दूसरी। लेकिन फिर? क्या वे सारे ऊपरी बंद कहीं इसलिए तो नहीं थे कि भीतर की लड़ाई को वह उनसे भी अच्छी तरह जानती थी? क्या वह जानती थी कि उसकी अर्द्धचेतना में जिस बंद का अभिमान था, उसके डोरे बहुत कच्चे भी हो सकते हैं? पता नहीं। कुछ भी पता नहीं। उसे सिर्फ इतना याद है कि वहां वह यातना और अकेलेपन के उस बिंदु पर पहुंच गई थी, जहां एक और दूसरे पल ने उसका दम घोंट दिया होता, फिर उसने पाया था कि जिस जलाशय के तट पर वह पहुंची है, उसकी लहरें बड़ी-बड़ी और सागर जैसी हैं। वह बिल्कुल नहीं जान पाई कि किस लहर से उसके पांव उखड़ गए, किसने उसे कटे हुए पेड़ की तरह गिरा दिया, कब वह बीच धार से छटपटाने लगी और किसने उसे उछालकर तट के दूसरी ओर फेंक दिया। अजीब था वहां का आकाश! नीला नहीं, लहू जैसा सुर्ख! फिर वह सब-कुछ पिघल गया था और वहां वह पहले से भी ज्यादा डरी हुई, चूर-चूर और अकेली थी। लगा जैसे बहुत दूर से आई हो—मीलों दूर से।

वह झाड़ियों और चट्टानों की ओट ढूंढ़ती-फिरती 'डीप' का दांव दे रही थी—पहली टीप।

"दूसरी टीप।"

"तीसरी…"

"धप्पा ! धप्पा !"

पीठ पर सहसा पड़ी धौल से वह जैसे चिल्ला पड़ी थी। फिर बड़ी देर तक वह भीगे हुए पेड़ की तरह कांपती रही। इतना डर, इतनी घबराहट और ऐसी उकताहट कि पहले तो वह पसीने-पसीने हो गई, फिर बड़ी देर तक उसकी सांस रुकी रही और फिर कई क्षणों तक लगता रहा जैसे वह मर चुकी है ! पीछे हंसता हुआ उप्पल खड़ा था।

सामने उप्पल खड़ा था। उसी तरह नंगे बदन में तौलिया लपेटे, थोड़ा घबराया और हड़बड़ाया-सा।

"सुनो, अभी-अभी तुम्हारे यहां एक जीप आकर रुकी है।" एक क्षण बाद उसने उप्पल को कहते हुए सुना, "लगता है, कोई पहुंच गया।"

उसने प्रश्नसूचक दृष्टि उठाई, लेकिन तब तक उप्पल सामने वाली खिड़की तक पहुंच गया था और एड़ी उठा-उठाकर बाहर झांकने की कोशिश कर रहा था।

"मेरी मानो तो पिछली गली से ही निकल जाओ !" लौटते हुए वह कह रहा था, "उधर कोई है भी नहीं और···"

और भी वह कुछ कह रहा था, जैसे डरना मत, हिम्मत से काम लो, मैं अभी दस मिनट में पहुंचता हूं वगैरह, लेकिन उसने बिल्कुल नहीं सुना था। ताज्जुब कि उसे न तो कोई हड़बड़ाहट थी और न कोई घबराहट। वह चुपचाप वहां से उठी, उप्पल को आखिरी बार घूरकर देखा और उसके सुझाव के बरअक्स सीधे सामने वाले दरवाजे से निकल गई···वैसे ही कदमों से, जैसे थोड़ी देर पहले वह मय्यत पड़े घर से निकल आई थी !

"यह सब क्या हो गया, बेटी ?" कुछ देर बाद मामा रुंधे हुए कंठ से कह रहे थे—उसे छाती से लगाए और सिर पर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए। घर पर मामा को देखते ही वह किस कदर चिल्लाकर दौड़ी थी और सीधे कसकर लिपट गई थी। उसी तरह जैसे नींद में डरे हुए बच्चे मां से चिपक जाते हैं और बड़ी देर तक छाती से सिर नहीं उठाते।

अब इस घर में पापा नहीं रहे···अब इस घर में···

"मम्मी, हम तो लुट गए !" वह बच्चों की तरह जोर से रोकर बोली, "मम्मा, हम बिल्कुल लुट गए···!"

सारे घर में मचे हुए पुराने क्रंदन में एक नया और अनजान आंसू मामा का भी जुड़ रहा था और थोड़ी देर में वह सिर पटक-पटककर बिलख रही थी—बिल्कुल मां की तरह ! △

युद्ध

'पाकिस्तान से युद्ध के दिन थे। हवा भारी थी। लोग डरे हुए और सचमुच नीमसंजीदा। आकाश झुककर छोटा हो गया था—रंगहीन मटमैला तथा डरावना। क्षणों की लंबाई कई गुना बढ़ गई थी। आतंक, असुरक्षा और बेचैनी से लदा दिन वक्त से पहले निकलता और शाम के बहुत पहले यक-ब-यक डूब जाता था। फिर शाम होते ही रात गहरी हो जाती थी और लोग अपने घरों में पास-पास बैठकर भी घंटों चुप लगाए रहते थे।

"सुना ! वसीम रिजवी से चार्ज ले लिया गया है।" दफ्तर पहुंचते ही शंकरदत्त को एक दिन इसी तरह हतप्रभ रह जाना पड़ा था।

"यानी ? क्या वह नौकरी से···"

"नहीं, नौकरी पर तो है। रिजवी से वह काम छीन लिया गया है, जो वह बरसों से करता आ रहा था। डाइरेक्टर ने कहा कि हालात को देखते हुए ऐसा बड़ा काम रिजवी पर छोड़ना ठीक नहीं। सारे देश का मामला है···"

"क्या पिद्दी और क्या पिद्दी का शोरबा ! शंकरदत्त को हंसी आ गई थी। एक तो निहायत बेमानी और सड़ा हुआ महकमा और उस पर वह दो कौड़ी

का काम, जो रिजवी करता आ रहा था ! अगर विभाग के प्रमुख होने के नाते डाइरेक्टर भी चाहता, तो कुछ नहीं कर सकता था, फिर रिजवी तो एक मामूली कर्मचारी था।

दफ्तर में मुसलमानों की संख्या कुल मिलाकर चार थी और उस पर भी नोटिस लिए जाने वाले तीन थे। युद्ध छिड़ते ही शहर के मुसलमानों में जो आतंक और भय समा गया था, उसका आभास दफ्तरों में पा लेना सबसे ज्यादा आसान था। दो-एक दिन हर क्षण यह लगता रहता था कि अब कोई दंगा छिड़ा, अब कोई फसाद हुआ। दरअसल, आम मुसलमान झाड़ियों में दुबके खरगोश की तरह अजीब सकते के आलम में डरा हुआ और चौकस हो गया था। लोग दरवाजे-खिड़कियां बंद करके धीमी आवाज में रेडियो पाकिस्तान की न्यूज सुनते और जब भी दो या चार आपस में मिलते, खरगोशों के अंदाज में बातें करते।

इसी बीच एक घटना हुई। सकते के दौरान ही एक रात शहर के संभ्रांत मुसलमानों की एक आम सभा हुई और दूसरे दिन शहर के बीचोंबीच की एक इमारत पर हिंदी का एक बहुत बड़ा बोर्ड लटक रहा था—राष्ट्रीय मुस्लिम संघ।

शहर के नामी-गिरामी आदमी हामिदअली, जो दो बार हज करके लौटे थे, इसके प्रेसीडेंट चुने गए थे। हामिदअली के हस्ताक्षरों से मुसलमानों के नाम राष्ट्रीयता की शपथ दिलाने वाली कई बड़ी-बड़ी अपीलें निकाली गई थीं और इन अपीलों को प्रेस तथा अखबारों तक पहुंचाने का काम कुरैशी ने ही किया था।

"क्यों दोस्तो, लाहौर और कितना रह गया ?"

युद्ध के बीच के दिनों में लगातार दो दिनों तक जैसे इसी प्रश्न से दफ्तर खुलने लगा था। टैंकों का नाश हो या आदमियों का, बड़ी अजीब-अजीब और उत्साहवर्द्धक अफवाहें फैली हुई थीं। इनमें सबसे बड़ी अफवाह यह थी कि पाकिस्तानी फौज को गाजर-मूली की तरह काटती अपनी फौज लगातार आगे बढ़ती जा रही है और कि लाहौर पर अब बस कब्जा हुआ ही चाहता है।

"क्यों साहब, बहादुरों की किसी फौज को दस-बारह मील का फासला तय करने में कितना वक्त लगता है ?"

उस दिन यह सवाल सबसे पहले कुरैशी ने ही किया था। दफ्तर अभी-अभी खुला था। रिजवी भी आ चुका था और रोज की तरह चुपचाप बैठा वह कोई अखबार पलट रहा था। कुरैशी ने वह सवाल हालांकि पूरे दफ्तर से किया था, लेकिन पहले उसने रिजवी की ओर छिछलती और मानीखेज नजरों से देख लिया था।

"दस घंटे भी लग सकते हैं, दस दिन भी, और दस साल भी···"

"अमा, दस मिनट कहिए, दस मिनट !" दफ्तर में अपनी कायरता के लिए प्रसिद्ध एक साहब ने ऐसे जोश में कहा, जैसे वह क्लर्क नहीं, फौज के कप्तान हों।

"यार, लाहौर आ जाए," बगल की मेज से आवाज आई, "हम तो वहीं चलकर बसने की सोच रहे हैं, सुना है कि शहर साला वेहद खूबसूरत है।"

"हां, है तो, लेकिन वहां करोगे क्या ?"

"क्यों, कुछ भी किया जा सकता है—अखवार है, प्रेस है। क्यों यार, वहां चलकर हिंदी का प्रेस डाल लूं, तो कैसा रहे ?"

"मैं तो भई होटल खोलूंगा।" एक दूसरे साहब ने पुलकित स्वर में कहा, "पानी वेचो और पैसा सूंतो ! साली होटल में वड़ी आमदनी है। और कुछ नहीं, तो इस गुलामी से तो पिंड छूटे···"

"कल मैं तेरह रुपए पंद्रह आने का एक मनीआर्डर करने जा रहा हूं।" सहसा दफ्तर के बीचोंबीच और रिजवी के सामने ऊंची आवाज में घोषणा हुई, "किसके नाम, जानते हो ? प्रेसीडेंट अयूब के नाम ! वेचारा वड़ा गरीब आदमी है। पारटीसन होते ही हमारे तेरह रुपए पंद्रह आने लेकर भाग गया था। यकीन न हो तो छिंदवाड़ा मिलिटरी कैंटीन का पुराना खाता देख लो···"

उसी समय रिजवी, जो अब तक सारी वातों को अनसुनी करता मेज पर गरदन झुकाए बैठा था, सहसा उठ खड़ा हुआ और विना किसी की ओर देखे झटके से बाहर निकल गया। एक क्षण को तो सब चुप हो गए थे, लेकिन दूसरे ही क्षण कुरैशी ने सबकी ओर देखकर आंख मारी थी और लोगों ने एक दूसरे को कोहनियों से ठेला था।

"देख लिया दत्तजी," किसी ने सीधे शंकरदत्त पर हमला किया, "ये अचानक क्यों हो गया ! क्या मिर्चें लग गईं ?"

शंकरदत्त हमलावर का मुंह ताकते ही रह गए थे कि कुरैशी ने तपाक से कहा, "अजी, दत्तजी वेचारे क्या कहेंगे ! अभी परसों जब मैं राष्ट्रीय मुसलिम संघ की अपील लेकर गया था, तो हजरत कहने लगे, काहे की अपील और क्यों ? पट्ठे ने दस्तखत करने से साफ मना कर दिया ! कहने लगा, मैं क्या वेईमान हूं, जो ईमानदारी का सबूत पेश करता फिरूं···?"

"वत्ती बुझाओ···वत्ती बुझाओ···!"

दूर से अभी स्वयंसेवकों की आवाज आ रही थी—किसी सूनी पहाड़ी से टकराकर लौटी और मुंह चिढ़ाती-सी। बाहर अंधेरा और हैबतनाक खामोशी थी, जैसे समूचे शहर को किसी ने ठंडे और अंधेरे गार में उतार दिया हो।

रह-रहकर लड़ाकू हवाई जहाजों की आवाज सहसा आकाश के किसी कोने में जनमती, फिर वह शैतानी जबान की तरह लपलपाती हुई मानो प्रत्येक घर की छत-मुंडेरों को चाटती कहीं दूर निकल जाती। फिर वही हैबतनाक खामोश और बेपनाह धड़कता हुआ अंधेरा, जिसमें देर तक यूं लगता रहता था, जैसे वह आवाज गई नहीं, अपनी छत पर रुकी हुई है।

"अब तो शहरों पर भी बम गिराये जा रहे हैं—सिविलियन्स पर!" शंकरदत्त ने सांस भरकर कहा, जैसे अपने आपसे बातें कर रहे हों। फिर रिजवी की ओर देखने लगे। वह दोनों घुटने उठाए गुड़ी-मुड़ी-सा बैठा था। कमरे में एक मरियल मोमबत्ती की हलकी-हलकी-सी रोशनी थी, जिसे खिड़की-दरवाजे बंद करके, या परदों को खींचकर रोका गया था। रोशनदान तक के शीशों पर कागज चिपकाकर उन्हें अंधा किया गया था।

"तुमने आज का अखबार देखा?" शंकरदत्त को अपनी ही आवाज कहीं दूर से आती सुनाई दी, "सिविलियन अस्पताल पर बमबारी और बेगुनाह मरीजों के बीमार जिस्मों का परखचे-परखचे उड़ जाना··· हरे राम, क्या इस क्रूरता के लिए हमें ईश्वर कभी क्षमा कर सकता है? मुझे तो लगता है···"

उसी समय मोमबत्ती की लौ कांपकर टेढ़ी हो गई थी। लगा था, कमरे के नीम उजाले फर्श को पलटती हुई अंधेरे की कोई लहर आई हो। रिजवी ने घुटने पर से सिर उठाया। उसके होंठ भी खुले, लेकिन वह बोला नहीं। उसने केवल सिर हिला दिया। उठकर शंकरदत्त पास गए और मनाने वाले स्वर में अपनेपन से बोले, "अमा, भूलो भी उसे!"

"किसे?"

"वही सब···"

"किसे भूलूं, दत्तजी?"

"क्या वही सब दुहराकर मैं फिर से तुम्हारा मन खराब करूं?" शंकरदत्त ने अत्यंत स्नेहपूर्वक रिजवी के कंधे पर हाथ रख दिया, "वसीम, मैं बराबर यही कहता रहूंगा कि नाइंसाफियों को लेकर मातम करना आज ऐसा ही है, जैसे आदमी की मौत पर सिर पटकना। क्या तुम समझते हो कि अपनी बच्चों जैसी जिद में लड़कर तुम ऐसी दुनिया से जीत जाओगे, जो युद्ध से कहीं ज्यादा क्रूर है?"

"बत्ती बुझाओ···!" दूसरे ब्लॉक में से आवाज आई। आवाज इस दफा काफी दूर से आई थी, लेकिन लगा, जैसे वे फिर इसी क्वार्टर के सामने आ गए हों। शंकरदत्त ने उठकर परदों को एहतियातन और ठीक कर दिया।

जरा-सी बात का हंगामा हो गया था।

पिछले कई दिनों से शहर में ब्लैक आउट चल रहा था। शहर कैंटोनमेंट

एरिया में नहीं आता था, तो भी खतरा बना हुआ था। शाम होते ही सारा शहर उसी ठंडे और अंधेरे गार में उतर जाता था। चाहे नागरिकता के फर्ज के नाते हो, या प्राणों के डर से, लोग बेहद चौकस और समझदार हो गए थे। ब्लैक आउट बनाए रखने के लिए हर मोहल्ले में स्वयंसेवकों के जत्थे तैयार थे।

रोज की तरह आवाज लगाते हुए आज भी स्वयंसेवकों के जत्थे आए थे, लेकिन एक जत्था इस ब्लाक में पहुंचकर आगे नहीं बढ़ा—ऐन रिजवी के क्वार्टर के सामने आकर रुक गया था। शायद किसी खिड़की का परदा जरा-सा सरक गया था और रोशनी की शहतीर क्वार्टर से कूदकर सामने की सड़क पर पड़ रही थी।

"बत्ती बुझाओ!" किसी ने डपटकर आवाज लगाई थी। रिजवी घर पर मौजूद था। उसने झांककर भी देखा था, लेकिन कोई असर लिए बिना वह चुपचाप पढ़ता बैठा रहा।

"क्यों साब, बहरे हैं?" दो नौजवानों ने आगे बढ़कर पूरी ताकत से कुंडी खटखटाई।

"क्या बात है?" कुछ क्रोध और कुछ कैफियत तलब करने के अंदाज से रिजवी बाहर निकल आया और बात शायद यहीं से बिगड़ गई थी। "अपना फर्ज मैं खूब समझता हूं, बत्ती बुझी हुई है।" आखिर में रिजवी ने कहा था।

"अगर बुझी हुई है, तो यह रोशनी कहां से आ रही है?" किसी ने जल-कर प्रहार किया, "क्या मेरी ससुराल से?"

"वह मोमबत्ती है। मैंने पढ़ने के लिए जलाई है।"

"क्या मोमबत्ती में रोशनी नहीं होती?"

"उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं परदा ठीक किये देता हूं।"

"फर्क पड़ता हो या नहीं, आप बत्ती बुझाइए!" कहकर एक उत्साही नवयुवक तीर की तरह दरवाजे की ओर बढ़ा और जिसे अधबीच में बांह अड़ा-कर रिजवी ने रोक लिया था।

"यह बत्ती नहीं बुझेगी!"

"बुझेगी!"

"नहीं बुझेगी!"

"बुझेगी!"

"जिद बेकार है," रिजवी ने कहा था, "पहले सामने वाले क्वार्टर्स की मोमबत्तियां बुझवाइए!"

"उनको उन पर छोड़िए! हम आपसे बात कर रहे हैं!"

"क्यों छोड़ दूं? क्या उन पर हीरे-मोती जड़े हैं?"

"एक क्षण को वह नवयुवक हतप्रभ-सा घूरता रहा, फिर सहसा वह शेर की तरह यों गरजा कि सारी कॉलोनी गूंज उठी, "यह वत्ती जरूर बुझेगी !"

सन्न, सकता पल-भर का, जिसे तोड़ते हुए अंधेरे में से एक आवाज आई, "मार साले जासूस को !"

"जासूस ! जासूस !"

कई लमहों तक रिजवी कांपता खड़ा रहा, फिर एकाएक अंधेरे में वह उस ओर लपका, जिधर से आवाज आई थी।

देर हो चुकी थी, जब तक शंकरदत्त वहां पहुंचे और बीच-बचाव किया, काफी देर हो चुकी थी।

"भाईजान !" कोई दस मिनट बाद जब वे दोनों भीतर आकर संयत हुए तो इस रुंधी आवाज से शंकरदत्त चौंके थे। भीतरी दरवाजे की चौखट से यह बेगम रिजवी की आवाज थी, गले में फंसी-फंसी और अवरुद्ध।

"भाईजान, हम पर एक अहसान कीजिए। इनसे कहिए कि मुझे और बच्चों को पहले जहर देकर सुला दें, फिर चाहे ये दुनिया से जूझते फिरें...हम ...हम हमारा खुदा है..."

आगे उनका स्वर यक-ब-यक उमड़ने वाली रुलाई में फंसकर डूब गया था और शंकरदत्त को लगा था कि सहसा उनके टेंटुए के आसपास कांटे-से उग आए हैं। उन्होंने दरवाजे की ओर देखा, जहां बेगम रिजवी के दुपट्टे का पल्लू झांक रहा था, पर कुछ बोल नहीं पाए। रिजवी के दोनों बच्चे अप्पू और सबा परदे से लगे सहमे हुए और भयभीत खड़े थे। खासकर अप्पू जैसी खामोश, कातर और डरी हुई आंखों से अपने पिता की ओर देख रहा था, उससे शंकरदत्त सहमकर रह गए। यक-ब-यक खयाल आया था कि वे भी हिंदू हैं। इतने बरसों में इस घर में पहली बार...फिर जैसे यह भी पहली बार ध्यान आया था कि रिजवी अब भी उस हुलिये में बैठा हुआ है, "फटी हुई कमीज, नुचे हुए बिखरे बाल, और निचले होंठ पर चोट का लहू-जमा निशान..."

"अप्पू बेटे !" सहमती हुई आवाज में शंकरदत्त ने धीरे से पुकारा, "बेटे, अपने अंकल के पास आओ !"

अप्पू नहीं आया। एक बार उन्हीं आंखों से घूरकर वह परदे से और सट गया।

"पापा के लिए दूसरे कपड़े ले आओ, बेटे !" उन्होंने हतप्रभ हुए बिना कहा था।

थोड़ी देर में कपड़े आए। लेकर अप्पू ही आया था, लेकिन कपड़े रखकर

विना किसी से कुछ कहे वह लौट गया था। शंकरदत्त हाथ बढ़ाकर उसे पकड़ना चाहता था, लेकिन वह मछली की तरह हाथ से फिसलता चला गया था। बहुत हलके शंकरदत्त को कहीं चोट भी लगी, लेकिन उन्होंने फीकी हंसी हंसकर धीरे से कहा था, "अप्पू हमसे नाराज है !"

पता नहीं, रिजवी ने उनकी बात सुनी थी या नहीं, स्वयं शंकरदत्त उसे देखते हुए भी नहीं देख रहे थे।

क्या अप्पू सचमुच नाराज नहीं है ? क्या लोग ठीक कहते हैं कि बच्चों की आंख में अच्छे या बुरे को सहसा भांप जाने की अद्‌भुत शक्ति होती है ? लेकिन इतने बरसों में अब वे यक-ब-यक बुरे कैसे हो गए और क्यों ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि उन्हें लेकर घर पर इधर कोई बात हुई हो और बच्चे ने चुपचाप उसका असर ले लिया हो ? एक बार यह भी मन में आया था लेकिन अभी कल तक ?"

युद्ध का ग्यारहवां दिन चल रहा था। यही ब्लैक आउट और अंधेरा ! लेकिन कल भी वे ऐसे ही लुढ़क आए थे, जैसे ढलान की ओर राह खोजता जल··· कोई अगर संतानहीन शंकरदत्त से यह पूछता कि अकसर शामें इस घर में गुजारने के पीछे सचमुच कौन है—रिजवी या अप्पू, तो क्या वह जवाब दे सकते थे ? और सचमुच कौन है ? रिजवी की बरसों पुरानी दोस्ती, या अप्पू की दहलीज पर से ही गले लिपट जाने वाली वह किलकारी, "अपने अंकल आ गए···अपने अंकल आ गए···!"

कमरे में आग-से फूटने वाले कांपते उजाले की तरह जरा-सी रोशनी और बहुत-सा अंधेरा था। रह-रहकर तेज हवाई जहाजों का उसी तरह ऐन छत पर ठहर जाना···बाहर शहर-का-शहर कब्र के पत्थर की तरह ठंडा और खामोश था।

"अपने अंकल !" रोज की तरह अप्पू कल भी आ गया था, लेकिन आदत के मुताबिक न तो उसने शंकरदत्त के गले में अपनी छोटी-छोटी बांहों का गजरा डाला था और न···

"अपने अंकल, आपको पता है, यह लड़ाई कब बंद होगी ?"

शंकरदत्त बेतरह चौंक गए थे, "क्यों बेटे ?"

"बताइए, कब बंद होगी ?"

"लेकिन क्यों ?"

"अम्मी पूछ रही हैं। कहती हैं, अंकल से पूछकर आओ।"

शंकरदत्त ने भीतरी परदे की ओर देखा। कहीं बेगम रिजवी तो नहीं खड़ी

हैं ? नहीं थीं। लेकिन यह सवाल अकेले अंकल से क्यों, पापा से क्यों नहीं ? एक पल को उन्हें लगा था, जैसे वह कठघरे की ओर धकेले जा रहे हों। उसके छोटे-से वदन को समेटते हुए उन्होंने धीरे से कहा, "पता नहीं वेटे !"

अप्पू कुछ और कहता कि दूर कहीं उसी आवाज ने जन्म लिया। फिर कुछ ही पलों में वह आवाज सारे आकाश और सन्नाटे को रौंदती इतनी निष्ठुर और खतरनाक होकर पास आने लगी कि अप्पू उनसे जोरों से चिपट गया। थोड़ी देर वाद अपनी भयभीत आंखें छत की ओर उठाकर अप्पू ने कहा था, "अंकल, आपको डर नहीं लगता ?"

"लगता है, वेटे !"

"आपको भी ?"

"हां, हमें भी।"

"यह जहाज लड़ाकू था न, अंकल ?"

शंकरदत्त ने सिर हिला दिया।"

"यह वम गिराने जा रहा है ?

"अप्पू, अव अंदर चलो !" वीच में रिजवी ने टोक दिया था।

"लड़ाई में लड़ता कौन है, अंकल ?"

"सैनिक लड़ते हैं, वेटे !"

"सैनिक कैसे होते हैं ?"

"जो फौज में होते हैं, वे सैनिक कहलाते हैं।"

"अच्छा समझ गए। जैसे हमारे पाकिस्तान वाले मम्मा सैनिक हैं। हैं न ?"

"हां, वेटे, वे भी लड़ रहे होंगे।"

"वंदूक से ?"

"हां, वंदूकों से, हथगोलों से, टैंकों से।"

"इन्हें फौज में भेजता कौन है, अंकल ?"

"देश भेजता है, वेटे !"

"देश ? देश कौन है ?"

"वेटे···देश···" शंकरदत्त को एक पल सोचना पड़ा था, "देश वो है जिसमें लोग रहते हैं, जैसे हम-तुम—हमीं देश हैं, वेटे !"

"लेकिन अंकल, आप तो कह रहे थे कि आपको लड़ाई से डर लगता है। फिर इन्हें क्यों भेजा ?"

"अप्पू !"

रिजवी ने इस वार डांटने के स्वर में पुकारा था। अप्पू ने एक लमहे को अपने पापा की ओर देखा था, फिर उनकी ओर मुड़कर वोला, "अच्छा अंकल, एक वात और—सैनिक डरते नहीं हैं ?"

"किससे ?"

"लड़ाई में, गोली-वोली से। उनके लगती नहीं है ?"

"लगती है।"

"सच्ची-मुच्ची की ?"

"हां।"

"फिर वे मर जाते हैं ?"

"मर जाते हैं।"

"सच्ची-मुच्ची ?"

"हां, बेटे ! सच्ची-मुच्ची।"

अप्पू की छोटी-सी पेशानी में बल पड़ा था और उसके छोटे-छोटे होंठ आश्चर्य और चिंता से खुल गए थे। एक पल उन्हें अजीब-सी आंखों से घूरने के बाद उसने सहसा पूछा था, "तो अंकल, उन्हें पुलिस क्यों नहीं पकड़ती ?"

क्या शंकरदत्त उस सवाल का जवाब दे सकते हैं ? अगर रिजवी ने इस दफा और भी सख्ती से डांटकर अप्पू को खामोश न कर दिया होता, तो वह क्या कहते ?

"बहुत तंग करता है !" अप्पू के चले जाने के बाद रिजवी ने धीरे से कहा था।

"हां, सचमुच तंग करता है !" सांस भरकर शंकरदत्त बोले थे, "वसीम, तुम्हें उस दिन की याद है—उस दिन की, जब अप्पू ने तुमसे एक सवाल कर दिया था और जिसका तुम्हारे पास बिल्कुल जवाब नहीं था। वह बात आज भी मुझे तंग करती है···"

रिजवी ने सवालिया आंखों से उन्हें देखा था, फिर याद करती पलकें अपने-आप झुक गई थीं।

कोई छुट्टी का दिन था। यही बैठक। यही दोनों। यही देर तक चलने वाली खामोशी। बेगम रिजवी अंदर थीं। अप्पू बाहर अपने दोस्तों के साथ खेल रहा था। अचानक जाने क्या हुआ कि खेल छोड़कर वह सीधे पापा के पास आ पहुंचा था और फिर गोली दागने जैसा उसका वह सवाल था।

"पापा, हम हिंदू हैं कि मुसलमान ?"

"क्यों ?" बेतरह चौंकते हुए भी रिजवी ने उसे टालना चाहा था, "बाहर खेलो, बेटे ! हमें बात करने दो।"

"नहीं, पहले बताइए," अप्पू मचल गया था, "हम हिंदू हैं कि मुसलमान ?"

"लेकिन क्यों ?"

"बताइए !"

"अच्छा, मुसलमान।"

"अल्ला मियां कहां रहते हैं, पापा ? ऊपर आसमान में न ?"

"हां ।"

"और भगवान ?"

"वे भी वहीं ।"

"वहीं ?" कहते हुए अप्पू की आंखों में एक बहुत गहरा प्रश्न तैर रहा था । वह और आगे सवाल न पूछे, इसलिए डरकर रिजवी ने कहा, "जाओ, बाहर खेलो···" पर अप्पू कोई अगला सवाल पूछने के लिए उतावला था और वे दोनों अपनी जान बचाने के लिए···रिजवी ने निगाह बचाने के लिए दालान की तरफ देखा ।

दालान में टंगे आईने पर बैठी एक गौरइया हमेशा की तरह अपनी परछाई पर चोंच मार रही थी △

शर्त का क्या हुआ

दूर से पहले रेलिंग दिखाई दी फिर पुल, और टैक्सी पुल पर आए, इससे पहले ही अचानक कौंध गई नीचे की पीली नदी···

असरार का जी जोर-जोर से धड़कने लगा। अब ? उसने डरी हुई और एक सरसरी-सी नजर बीवी पर डाली, लेकिन अजरा खिड़की पर बांह रखे पीछे छूटते हुए दरख्तों को देखने में लगी थी। लंबे सफर और थकावट के बावजूद वही तनाव-विहीन चेहरा और इतमीनान भरी आंखें, जिससे उसे अक्सर ईर्ष्या हुआ करती थी। लेकिन इस बार गुस्सा आया।

औरत···औरत, उसने दयनीयतापूर्वक जैसे अपने को याद दिलाया और पीछे छूटती हुई नदी को देखने लगा। उसका जल पीला था, पुल गंदा और रेलिंग जगह-जगह से टूटी हुई।

"क्या कोई बाढ़ आई थी ?" उसने टैक्सी ड्राइवर से पूछा।

"क्हां ?···" ड्राइवर ने चौंककर कहा, "अच्छा, नहीं जी, इस नदी का पानी साफ कब रहता है।"

तकलीफदेह असहमति के बावजूद, असरार ने बात आगे नहीं बढ़ाई।

लगा, थकावट ज्यादा है। लगा, जिस नदी को छोड़े ग्यारह साल हो गए हों, उसके मिजाज के बारे में किसी अजनबी से दावा करना फिजूल होगा। माना कि टैक्सी ड्राइवर का चेहरा नया नहीं लगता और वह इस नाम को कुछ-कुछ पहचानता भी है। शर्त का क्या हुआ ? सोचते ही उसका कलेजा फिर कांपने लगा। रास्ते में उसने अपने-आपसे चुपचाप एक शर्त बद ली थी और आने वाली नदी के जल को वह सिक्के की तरह चित-पट कर रहा था। अगर नदी का जल साफ हुआ तो यह होगा और मटियाला हुआ तो वह। भय या घबराहट के क्षणों में वह अक्सर यही किया करता था जैसे चित-पट से मिले नतीजे का सचमुच कोई मतलब हो। लेकिन कई बार यह भी तो होता है कि नदी का जल न तो साफ निकले और न मटियाला। जैसे इस बार सिक्का उछालते वक्त उसने पीले जल के बारे में सोचा भी नहीं था। क्यों नहीं सोचा था ? क्या यह नहीं हो सकता कि जिस वहशत के जाल से छूटने के लिए हम शून्य में फंदा फेंकते हैं, लौटने पर देखें कि वहां कुछ भी नहीं है। न यह, न वह। न तो स्याह है और न सफेद, ज्यादा से ज्यादा एक रंगहीन अदृश्य हवा है···

"सुनो," अजरा की आवाज से वह चौंका, "जरा हाथ बढ़ाकर देख लेना, अटैची है भी या···"

असरार ने कुछ कहा नहीं—खिड़की के बाहर से हाथ निकालकर उसने चुपचाप ऊपर टटोल लिया। अटैची थी। दूसरे सामान भी। रास्ते भर दोनों को यही डर बना हुआ था। खुद असरार भी आशंकित था लेकिन अजरा की चिंता उसे घटिया लगी। माना कि दो सौ मील का सफर है और खराब रास्ता। यह भी सही है कि किसी भी दचके से ऊपर पड़ी अटैची को पीछे सड़क पर उछलने में कितनी देर लग सकती थी ?

फिर भी।

फिर भी क्या ? कुछ नहीं। क्या कुछ नहीं ? क्या ?

धूल भरी मैली और भागती सड़क—पेड़, पेड़, पेड़, मैदान, घास, पुरानी टूटी कब्रें, आकाश, ठहरे हुए बादलों की आकृतियां—बतख, खरगोश, हिरन, सफेद चादर से मुंह ढंककर सोया हुआ आदमी···

उसने घबराकर आंखें मीच लीं। भीतर कहीं कुछ बेतरह कांपने लगा था।

'अब्बू !' असरार ने रुंधे हुए कंठ से पुकारा, लेकिन आवाज नहीं निकली। वह चारपाई के सिरहाने खड़ा हांफ रहा था। टैक्सी के रुकते ही वह उसमें से तीर की तरह निकला था और सामने का गेट, सहन, दालान बीच का कमरा, सब

उसने भागते हुए पार किया था।

ढलती दोपहर का उखड़ता हुआ उजाला और वह भी आंगन में बैठा हुआ। सारे दरवाजे खुले हुए। खाली घर की हवा में पुरानी मिट्टी, घिसे हुए कपड़े, फफूंद और दवाओं की गंध और एक झिलंगी चारपाई पर सफेद चादर से मुंह ढंककर सोया हुआ आदमी···

"अब्बू! अब्बू!" असरार ने फिर आवाज दी।

"देखिए, कौन आ गया है।"

सहसा अम्मी ने आकर अब्बू को छूते हुए कहा।

"कौन ?"

एक नकाहत भरी आवाज के साथ कई क्षणों बाद सफेद चादर का हटना। एक बूढ़ा और स्याह चेहरा, पजमुर्दा और अपरिचित-सा। एकाध क्षण की चकित ठहरी दृष्टि, फिर सूखी टहनियों-जैसी बांहों का बेसाख्ता कसाव···

अब्बू असरार से बेतरह लिपटकर बच्चों की तरह रो रहे थे फूट-फूटकर।

"बेटे, मैंने उम्मीद छोड़ रखी थी।" बड़ी देर बाद संयत होकर अब्बू ने हांफते हुए कहा। उनकी सांस गीली थी। उखड़ रही थी।

'किसकी उम्मीद ?' अब्बू के छोटे से शरीर पर एक जांचती हुई नजर डालते हुए असरार के मन में उठा, लेकिन वह बोला नहीं। शर्त की याद आ गई थी। फिर अब्बू की सूखी खुरदरी हथेली का स्पर्श बरदाश्त करते हुए उसे खुशी हुई कि वह उतना जजबाती नहीं जितना वह अपने-आपको समझता था। वह तार की इबारत याद करने लगा जिसके मिलते ही वह शहर से भाग खड़ा हुआ था। दो छोटे-छोटे वाक्यों की उस इबारत में गंभीरता या चिंता ही नहीं, एक ऐसे अनकहे डर की गंध लिपटी हुई थी जिसने उसे कोंच-कोंचकर वहां से तत्काल धकेला था। और शर्त ? और नदी का पीला जल ? क्या हुआ ? वह जीता या हार गया ? और सचमुच क्या चाहता था ? क्या वह जीतना चाहता था या चाहता था कि हार जाए ? पता नहीं, शायद गड्डमड्ड। नदी के पीले जल की तरह गड्डमड्ड—जो दूर से तो मटियाला लगता है, लेकिन चुल्लू में लो तो साफ; या चुल्लू में तो निर्मल लगता है लेकिन वापस नदी के सीने में लौटकर···

सिविल सर्जन और फेमिली डाक्टर आए। परिचित और पड़ोसी जमा हुए। हमदर्द और तमाशबीनों की दालान में भीड़ लग गई। आध घंटे तक घर पर अब्बू की जांच-पड़ताल के दौरान अच्छी खासी गहमा-गहमी रही और असरार को उसी हुलिये में खड़े रहना पड़ा।

"हां, मैं यह पूछना तो भूल ही गया था कि तुम आए कैसे ?" डाक्टरों के जाने के बाद अब्बू असरार से कहने लगे, "सुना, बसों की हड़ताल चल रही

है और लोग जहां के तहां रुके हुए हैं।"

"हां, रुके हुए हैं," असरार ने धीरे से कहा, "हमें टैक्सी लेनी पड़ी।"

"महंगी मिली होगी ?"

"जी।"

"मैंने तार भेजने के लिए मना किया था," पल भर सोचकर वे बोले, "लेकिन मेरी सुनता कौन है। मैंने कहा, बड़ा अफसर हो गया तो क्या हुआ, बड़े शहर की जिंदगी और बच्चों का साथ भी तो है। नाहक भागा आएगा और हजार-पंद्रह सौ की चोट पड़ जाएगी।"

"पैसों की फिक्र छोड़िए," असरार ने फिर धीरे से कहा। असल में वह कहना चाहता था कि आपसे बढ़कर तो पैसा नहीं है, लेकिन बात बचकानी और घटिया लगी। फिर क्या एक ही झूठ काफी नहीं था ?

"और दिन-रात रोता-कोसता कौन था—मैं ?" अम्मी अचानक तल्खी से बोलीं, "वो तो मैं ही झींकती थी न कि बच्चे कमीने साबित हुए। सब अपनी-अपनी जिंदगियां लेकर चले गए, बुढ़ापे में यहां दवा-दारू को पूछने वाला भी कोई नहीं रहा। खुद ही नाराज होते हैं, खुद ही सब्र कर लेते हैं। सईदा के लिए रोते हैं, पाकिस्तान के लिए गालियां निकालते हैं। वो बदनसीब क्या करे। दूसरे मुल्क में मजबूरन पड़ी हुई है। मैं कहती हूं, जो अपने मुल्क में हैं वे ही कौन सिरहाने खड़े हैं..."

अब्बू कुछ कहते-कहते चुप हो गए। उन्होंने असहाय-सी आंखों से एक बार अम्मी की ओर देखा, फिर कांपती हुई पलकें मूंद लीं। वे सुबकियां भरने लगे थे। अच्छा हुआ तभी अजरा दवा लेकर आ खड़ी हुई और स्थिति की कुरूपता खूबसूरती से टल गई।

"दुल्हन को लेते आए यह अच्छा किया," दवा पीते हुए अब्बू ने थके हुए स्वर में कहा, "लेकिन बच्चों का क्या किया ?"

"उनके एक्जाम्स चल रहे थे," असरार ने प्रकट में कहा, "नौकर के भरोसे छोड़ना पड़ा।"

"नौकर कुछ भरोसे का है ?"

"जी हां।"

"भई देख लो, आजकल किसी पर भरोसा करना ठीक नहीं है।"

"दरअसल अब्बू," असरार ने रुक-रुककर धीरे से कहा, "एक्जाम न चल रहे होते तो भी सबको लेकर आना मुमकिन नहीं था। आप तो जानते हैं कि एकाएक..."

"समझता हूं मियां !" बीच में ही हांफते हुए अब्बू बोले, "वही तो मैं सईदा के लिए कह रहा था। हजारों मील का फासला। फिर दूसरा मुल्क।

फिर जालिमों की हुकूमत। तुम्हारे पास सईदा का आखिरी खत कब आया था ?"

असरार सहन में निकल आया। उसे हैरानी हो रही थी कि सहन कितना बड़ा और कुशादा है और अहाते के शरीफे, अमरूद और जामुन के पेड़ कैसे तनावर दरख्त हो गए हैं। ताज्जुब है कि उसके जहन में घर की जो तस्वीर थी उसमें सहन इससे छोटा था और मकान कुशादा, जबकि वास्तविकता उल्टी ही थी। दरअसल, कोई भी मौसम हो उस घर की सीलन नहीं जाती थी। दीवारों को जैसे फीलपांव हो गया था और दूर से देखने पर कई बार लगता था जैसे पूरा मकान नमाज के लिए रुकू में झुका हुआ हो !

ग्यारह साल !···असरार ने सोचा। वह मकान की ओर देखता और सोचता रह गया जैसे अपने को विश्वास दिला रहा हो। यह मान लेना आसान नहीं था कि ग्यारह साल पहले वह यहीं से उड़ा था—इसी सीलन भरी फर्श और फीलपांव की भारी दीवारों के बीच से। उस उड़ान में कितनी महत्त्वाकांक्षा थी और किस हद तक पलायन ? हां, पलायन ? लेकिन किससे ? अमां छोड़ो···साफ-साफ स्वीकार करने में क्या हर्ज है ! वह समझ चुका था कि अंधेरे में चलती अब्बू की बदबूदार गठरी के बोझ को चुपचाप ढोते रहना मुरव्वत भले हो, प्यार करना नहीं है, नहीं···।

ग्यारह साल पहले भी इस घर में शाम इसी तरह होती थी। पहले आधे सहन में पीली धूप की जाजिम बिछ जाती थी। फिर सरकती और अहाते की दीवारों पर बढ़ती हुई वह अचानक पेड़ों की फुनगियों पर जा पहुंचती थी और वहां रुककर धीरे-धीरे मरती थी—इसी आवाज के साथ, जो दूर के राइस-मिल से इसी तरह आया करती थी—हूट, हूट, हूट !

"आखिर डाक्टर क्या कहते हैं ?" चौथे दिन की रात को अकेले में लेटते हुए सबसे पहले अजरा ने यही पूछा। क्या कहते हैं ? सिरासिस आफ लिवर का मर्ज और छोटे नगर के डाक्टर। गोल-गोल अंदाज में सभी कुछ कहते हैं या कुछ नहीं कहते।

अजरा ने लफ्ज 'आखिर' का इस्तेमाल क्यों किया ?

"अम्मी कह रही थीं," अजरा बोली, "जिस रोज हमें तार किया था, अब्बू की हालत सचमुच बेहद खराब थी। कहने लगीं, सारे लोग जमा हो गए थे, सूरे-यासीन पढ़कर सुना दिया गया था, आबे-जमजम की तलाश होने लगी थी और···

कमरे में रोशनी थी, मरी हुई-सी। असरार और अजरा पास-पास ही

लेटे थे, लेकिन एक-दूसरे को देख नहीं रहे थे।

असरार ने अचानक जमुहाई लेकर कहा, "मुझे तो इस घर की भीड़ से ही वहशत होने लगी।

"अम्मी कह रही थीं कल तक यहां कोई झांकने भी नहीं पहुंचता था। भीड़ हमें देखकर होने लगी है।"

"खासकर सुबह-सुबह बेहद उलझन होती है। आंखें अभी खुली नहीं, लेकिन लोग हैं कि धमकते चले आ रहे हैं फिर ये कस्बाई बाथरूम ! अल्लाह तौबा, घंटों उबकाई आती रहती है···"

"ये अब्बू बात-बात पर रोने क्यों लगते हैं ?" अजरा बोली।

"क्या आज हम लोग फिर यहीं लेटेंगे ?" थोड़ी देर बाद असरार ने पूछा।

"पसंद नहीं ?"

"क्या ?"

"यही जगह। कमरा।"

"नहीं, वो बात नहीं। दरअसल मैं अपने ऊपरवाले कमरे के बारे में सोच रहा था। मैंने तुमसे कहा था न···"

"सुबह मैंने देखा था," अजरा बोली, "उसमें बहुत-सा अल्लम-गल्लम भरा पड़ा है। फिर इतने काक्रोच और चूहे हैं कि तौबा ! दो दिन तो सफाई के लिए ही चाहिए।"

"अजरा, तुम्हें याद है ?" एकाएक जजबाती होकर असरार ने कहा, "जब तुम पहली बार इस घर में आई थीं तो यहां बिजली नहीं थी और ऊपरवाला सारा कमरा हमारे लिए रंगीन जल-भरे बल्बों से डोरियों में लटकाकर सजाया गया था। पता नहीं, उस वक्त काक्रोच और चूहे थे या नहीं, लेकिन छत इसी तरह काली, नीची और झुकी हुई थी। याद है, फूल भाभी ने हमारे पलंग में नाखूनी रंग के झूमरों वाली चांदनी लगाई थी और छत की काली शहतीरों को रंगीन कागज के बहुत से फूलों से मढ़ दिया गया था। कभी-कभी अजीब बेवकूफी सूझती है। लगता है, अभी चलकर देखो। इतने बरसों बाद जालों से अंटी शहतीरों पर चिपके हुए वे कागजी फूल, जाने अब कैसे लगते होंगे !"

"काक्रोच और चूहे इस कमरे में भी हैं।" अजरा धीरे से बोली।

"सारा घर कबाड़खाना बना हुआ है," असरार ने सहमकर लेटते हुए कहा, "काक्रोच और चूहे नहीं होंगे तो···"

"सुबह मैं अम्मी से यही कह रही थी," अजरा बोली, "लेकिन वो कहने लगीं कि बरसों की गृहस्थी है, कहां फेंक दें। अब उनसे कौन पूछे कि बरसों

की जुड़ी हुई गृहस्थी क्या ऐसी होती है ?"

"टीन के कनस्तर, खाली पीपे, देवदार के खोखे···"

"चारपाइयों के टूटे पाये, सड़ी हुई निवारें, जर्दे के खाली डिब्बे···"

"टूटी चप्पलें भी, बरसों पुरानी," अजरा बोली, "इस उम्मीद के साथ रखी हुई कि कल काम आएंगी।"

"है क्या इन देवदार के खोखों में ?"

"खुदा जाने कौन-सी दौलत छिपा रखी है। मुझे तो सारे घर में खाली शीशियों और अल्मूनियम के टूटे बर्तनों के अलावा कुछ दिखता है नहीं। हजारों की जायदाद तो पानी में बहा दी, अब लकड़ी के खोखों को छाती से लगाए बैठे हैं। सोचो तो, आज वही जायदाद अगर होती···"

"कल खालिद मियां ने मुझे अकेले में बुलाया था।"

"कहां ? घर पर ?"

"हां, अपने घर। कहने लगे, अकेले में बात करने का मौका नहीं था सो बुलवा लिया। कहने लगे, भाईजान ने पिछले दिनों फिर तीन हजार का घपला कर दिया था दफ्तर में। बुढ़ापे की नौकरी और इज्जत का सवाल। मैंने उस वक्त कहा भी कि तुम्हें बुला लें लेकिन भाईजान ने मना कर दिया। बोले, मैं नहीं चाहता कि उसे मालूम भी हो—मैंने किया है, मैं ही निबटूंगा। बहरहाल, रुपयों का इंतजाम मुझे ही करना पड़ा। कागजात मौजूद हैं, सोचा कि तुम्हें बता दूं···"

कई क्षणों का घुप्प सन्नाटा। जैसे दोनों के बीच अचानक सांप आकर बैठ गया हो। सीलन से बोसीदा कमरा और मरी हुई रोशनी। अंधेरे कोनों में पड़े हुए देवदार के खोखे ताबूत की तरह लग रहे थे। दीवार के किनारे-किनारे चूहों के दौड़ने की आवाज आ रही थी।

"लो !" थोड़ी देर बाद अजरा ने निढाल-से स्वर में कहा और एक लंबी सांस खींचकर चुप हो गई।

"मुझे इसी का डर था," असरार ने हारी हुई आवाज में कहा, "यह कैसे हो सकता है भला कि अब्बू हमें सुकून की जिंदगी जीने दें।"

"आखिर इतने रुपयों का होता क्या है ?" अजरा एकाएक तड़पकर बोली, "ये जाते कहां हैं ? सईदा के पास, पाकिस्तान ? क्या सईदा ही सब-कुछ है, हम लोग उनके कुछ नहीं ? अब्बू कब सोचेंगे कि हमारी भी जिंदगियां हैं, बच्चे हैं, उनका मुस्तकबिल है···"

फिर वही शक ? और इस बार अजरा की तरफ से। रुपये आखिर जाते कहां हैं, असरार ने सोचा—क्या वे नहीं जानते या कौन नहीं जानता—अजरा, अम्मी या शहरवाले ? फिर तोहमत के लिए सईदा का ही कंधा क्यों ? क्या

सभी यही नहीं कर रहे थे ? असरार भी। और तो और, ताज्जुब है कि अंधेरे में चलती अब्बू की बदबूदार गठरी जो सबसे ज्यादा ढो रही थीं, वही अम्मी सबसे ज्यादा छिपाती भी आई हैं। आज से नहीं, दसियों बरस से। जैसे ग्यारह बरस पहले रोज रात को अब्बू के बिस्तर का खाली रहना और पूछने पर अम्मी के तरह-तरह के बहाने। एक अरसे तक खुद असरार समझ नहीं पाया था कि जो बिस्तर सारी रात खाली पड़ा होता है, उस पर अलस्सुबह अब्बू सोये हुए कैसे मिलते हैं ! फिर जब समझ में आया तो उसने अम्मी से पूछना छोड़ दिया था। औरत···औरत, तब भी उसने अपने को याद दिलाया था।

"पहले मैं सोच रहा था कि इसके बारे में अब्बू से पूछ लूं···"

"किसके बारे में ?"

"यही जो खालिद मियां ने कहा।"

"फिर ?"

"फिर सोचता हूं कि खालिद मियां ने ठीक ही मना कर दिया। वो कह रहे थे, खुद अब्बू को इसका गहरा सदमा है। कहने लगे, उन्हें पता न चले कि कि तुम्हें घपले का मालूम हो गया है, खासकर इस हालत में।"

"क्यों ?"

"बुरा होगा।"

"और क्या बुरा होगा ?" सहसा अजरा बोली, बेहद आवेश में। लेकिन फिर खुद सहम भी गई। एकाएक जाने क्या हुआ कि दोनों बिलकुल चुप हो गए। कमरे की रोशनी, मरी हुई। माहौल में पुरानी मिट्टी, घिसे हुए कपड़े और फंफूद की गंध। देवदार के खोखों और दीवार के किनारे-किनारे चूहों की आवाज—दौड़ने और एक-दूसरे का पीछा करने की !

असरार को एक धक्का-सा लगा था। क्यों, मालूम नहीं। अपनी आहत नजरें फिराकर उसने अजरा को देखना चाहा था, लेकिन तब तक कमरे की बत्ती गुल हो गई थी और अजरा का चेहरा अंधेरे में डूब चुका था। चेहरा ही नहीं; उसका पूरा शरीर। जैसे वहां हो ही नहीं, जबकि वह मौजूद थी। शर्त के नतीजे की तरह छिपी हुई···

हां, शर्त का क्या हुआ ? असरार ने बेचैनी में करवट बदल ली—आखिर वह जीता या हार गया ? क्या अब भी सब-कुछ नदी के पीले जल की तरह गड्डमड्ड था ! शायद नहीं, शायद हां, शायद··· △

इमारत गिराने वाले

दूसरे कमरे से सारी आहटें आ रही हैं—वे सारी आहटें जो किसी भी परिवार की सुबह के साथ वैसे ही आती हैं जैसे सूरज के साथ धूप ! हर घर की सुबह-जैसी सुबह जिसमें किचन की खटपट, चाय के प्यालों की खनक, नलों के चलने और खाली पत्थर पर पछाड़ें खाने का स्वर या बाथरूम में फ्लश की आवाज···

मैं जानता हूं कि वह घड़ी आन पहुंची या अगर पहुंची न हो तो किसी भी क्षण अचानक पहुंच सकती है। फिर क्या होगा ? क्या मैं घबराया हुआ हूं या डर रहा हूं ? शायद दोनों ही बातें हो सकती हैं। बहुत मुंह-अंधेरे ही मेरी आंखें खुल गई थीं और मुझे अचानक ध्यान आया था कि मैं दूसरे के ड्राइंग-रूम में सो रहा हूं।

पहले मुझे विश्वास नहीं हुआ था कि मैं अपने घर के पलंग पर नहीं हूं। बरसों पुरानी आदत के तहत मेरे सिर को अपने नर्म और गुलगुले तकिये पर होना था या मेरी बांहों में पत्नी का सोया हुआ या बासी शरीर। लेकिन दर-असल मैं उसके सोफे पर अकेला पड़ा हुआ था और मेरी गर्दन गोल और सख्त

तकिये के कारण दुख रही थी।

मुझे सख्त प्यास लगी थी और हलक में कांटे उग आए थे। असल में सूखे हलक ने ही मुझे वक्त से पहले जगा दिया था। नशा, जिसे मैं खुमार बिल्कुल नहीं कह सकता, अभी भी मेरे सारे बदन पर तारी था। सच कहूं तो इसका एहसास मुझे अब हो रहा था कि रात मैंने कितनी शराब पी थी। रात ! रात की याद आते ही मेरे सारे शरीर में झुरझुरी-सी दौड़ गई थी और कई पलों तक मेरा शरीर सुन्न पड़ गया था। क्या जो कुछ हुआ या हो गया वह सच था या नशे में आये हुए स्वप्न की झिलमिली-सी कैफियत ?

अभी अंधेरा था। अगर मैंने अपनी घड़ी न देखी होती तो मैं भी यही समझता कि अभी रात है। मैं धीरे से उठा था और हल्की लड़खड़ाहट के बाद पानी की तलाश में किचन की ओर चल पड़ा था—दबे पांव और धीरे। बाहर के दरवाजे को छोड़कर सारा घर खुला पड़ा था, किचन और बाथरूम की बत्ती तो खुली हुई थी ही, अनिल और चन्द्रा का कमरा भी वैसा ही था जैसा मैं रात छोड़ आया था—पलंग के पास वाली तिपाई पर उल्टे-सीधे पड़े कांच के गिलास, नीचे लुढ़की हुई खाली बोतलें, उसके पास उतरी पड़ी चन्द्रा की साड़ी और कमरे की खुली हुई रोशनी में तथा मसले हुए बिस्तर पर बेहोश पति-पत्नी !

किचन से दबे पांव लौटते हुए मैं बड़ी देर तक वहां ठिठका रहा था। कई क्षणों तक मैं अपने दोस्त अनिल और उसकी पत्नी चन्द्रा के सोये हुए शरीर को देखता रहा था। चन्द्रा केवल एक पेटीकोट और ब्रा पहने हुए बेखबर सो रही थी। उसकी एक औंधी पिंडली घुटने तक खुली हुई थी। और उसे उस तरह देखते हुए यह विश्वास करना कठिन था कि यह वही रात वाली देह है···

मैं ड्राइंग-रूम में लौट आया था, क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि वहां देखता हुआ मैं पकड़ा जाऊं। फिर इसके सिवा और कोई चारा भी नहीं था कि एक के बाद एक सिगरेट पिऊं, वक्त को गुजरने दूं, या सूबह होने का इंतजार करूं।

एक बार यह भी मन में आया था कि अभी दोनों सो रहे हैं और उठने में देर भी हो सकती है, क्यों न चुपचाप उठकर अपने घर चल दूं और आने वाले संकट से बच निकलूं। लेकिन फिर ख्याल आया था कि मेरी हैसियत के लिहाज से यह कायरता होगी।

अनिल मेरा दोस्त था भी और नहीं भी। दोस्त वह इन अर्थों में था कि इधर

मेरा सारा वक्त उसी के साथ या उसके घर पर गुजरने लगा था। और कारण चाहे जो हो, मैं इधर उसे पसंद भी करने लगा था। नहीं था इस मानी में कि हम दोनों में दोस्ती का कोई भी आधार नहीं था। वह एक दफ्तर की नौकरी में मामूली-सी हैसियत पर जिंदा रहने वाला आदमी था और मैं···?

मेरा संबंध उस वर्ग से है जिसके स्रोतों के बारे में लोग सांप के पांव का उदाहरण दिया करते हैं। यों कारोबार के लिहाज से मैं इमारतें गिराने और उठाने का काम करता हूं, लिहाजा अनिल और मेरे वर्ग, हैसियत, शऊर और मिजाज में बड़ा अंतर था। यों भी अनिल मुझसे हमेशा दबा-दबा रहता था और मैं उस पर खूबसूरती से चढ़ी गांठे हुए था। हम दोनों इस बात को जानते थे। शायद दोस्ती का कोई आधार हो सकता था तो सिर्फ इतना ही कि अनिल के अनुसार हम दोनों एक ही जगह के रहने वाले थे।

इस शहर को अपने या अपने कारोबार के लिए मैंने यों ही नहीं चुना था। शुरू से ही यह मुझे यों दिलचस्प लगा कि एक में यहां दो शहर हैं या दो शहरों से मिलकर यहां एक शहर बन रहा है। एक तरफ पुरानी इमारतों का पुराना शहर है तो दूसरी तरफ नयी इमारतों का बिल्कुल नया शहर। मुझसे बेहतर कौन जानता है कि पहला जिस अनुपात में टूट रहा है, दूसरा उससे कहीं ज्यादा दिन-ब-दिन फैलता जा रहा है।

यहां आने के बाद भी कई साल तक हम लोग एक-दूसरे से टकराये नहीं थे। न तो उसे पता था कि मैं इस शहर में हूं और न मुझे ही अनिल की जरूरत थी। अगर अपने कारोबार के सिलसिले में मैं अनिल के दफ्तर न गया होता तो शायद कभी भी यह नौबत न आती। दरअसल मैं अपने कारोबार को जिस तरह समझता हूं, इन दफ्तर वालों को, चाहे वे क्लर्क हों या अफसर, ऐसा नहीं है कि कम अच्छी तरह समझता होऊं। 'तुम डाल-डाल तो हम पात-पात' की चाल मुझे खूब आती है। शायद इसीलिए अनिल की गर्मजोशी ने पहले तो मुझे चौकन्ना कर दिया था लेकिन बाद में यह जानकर मुझे बेहद शर्मिंदगी हुई थी कि वह वो नहीं जो मैं समझ रहा था। यही नहीं, मुझ पर और पानी पड़ गया जहां उसने दफ्तर के कारोबारी संबंधों को बालाए-ताक करके पिछली जगह और उसमें गुजरे दिनों की याद दिलानी शुरू कर दी थी।

"मैं जानता हूं, आपको तो याद भी नहीं होगा," उसने कहा था, "लेकिन मैं पहले दिन ही आपको पहचान गया था। बोला इसलिए नहीं कि बड़े आदमी हैं, जाने आप क्या खयाल करें। आपको भला क्या याद होगा कि हम लोग स्कूल की निचली जमातों में भी साथ-साथ थे। याद कीजिए, दोपहर की रीसेज में आपको कच्ची इमली तोड़-तोड़कर कौन खिलाया करता था? सोचिए और बताइए कि छुट्टी के दिनों में जामुन और अमरूद के बगीचे में

गुलेल लेकर आप किसके साथ भागे-भागे फिरते थे ?

मुझे कुछ भी याद नहीं था। न तो जगह की याद थी—न स्कूल की। सच तो यह है कि मुझे इसमें भी शक था कि वह मेरी जगह का रहने वाला है, लेकिन मैंने जाहिर नहीं होने दिया।

अब मैं नहीं कह सकता कि अनिल के घर चलने के आग्रह को सबसे पहले मैंने कैसे और क्योंकर रख लिया था। मुमकिन है कि इस तरह मैं अपने बड़प्पन का एक और सबूत देना चाहता था। यह भी मुमकिन है कि मैं उसके बार-बार के इसरार से अपना पिंड छुड़ाना चाहता था। बहरहाल, कई दिनों और कई-कई आग्रहों के बाद जब मैं उसके घर पहुंचा और अनिल ने अपनी पत्नी चंद्रा को मुझसे मिलाया तो मुझे इस बात का अफसोस हुआ था कि मैं इससे पहले उसके यहां क्यों नहीं पहुंचा। चंद्रा केवल सुंदर ही नहीं थी, बल्कि अपनी बातचीत, रख-रखाव, आंख की मुद्राओं और अंदाज में उदास करने की हद तक खूबसूरत थी। मैं दस मिनट के लिए गया था, लेकिन पहली बार ही दो घंटे बाद लौटा और आने वाले दो दिनों तक परेशान रहा। कहना फिजूल है कि अनिल का महत्त्व अब मेरी नजर में कई गुना बढ़ गया था।

मुझे यह बताने में हरगिज संकोच नहीं कि मैं बेहतर कारोबारी और साफ-सपाट आदमी हूं। चाहूं या न चाहूं हर चीज की कीमत मेरे यहां इस बात पर तय होती है कि वह जरूरी होने के साथ-साथ फायदेमंद भी है या नहीं। स्त्रियों के मामले में भी मेरा दृष्टिकोण सौ-फीसदी यही है। न तो मैंने कभी प्रेम किया है और न कभी इस मूर्खता पर विश्वास करता हूं। मुमकिन है बहुतों को लगे कि मैं बहुत कारोबारी और बनिया जेहन आदमी हूं, लेकिन अगर ऐसा है भी तो उसके लिए मैं जिम्मेवार नहीं हूं। ऐसा मेरे साथ पहले कभी नहीं हुआ था। अजीब बात है कि चंद्रा से मिलने के बाद मेरे भीतर एक खास तरह की उथल-पुथल शुरू हो गई थी। जैसा कि मैंने कहा है, मैंने कभी प्रेम नहीं किया, लेकिन लड़कियों या औरतों की मुझे कभी कोई कमी नहीं रही। एक खास वर्ग की औरतें फ्लर्ट करने या सोने के लिए मुझे हमेशा ही मिलती रही हैं। शायद एकाध बार एक स्त्री ने मुझे थोड़े समय के लिए उलझाया भी था, लेकिन बहुत सतही स्तर पर और बहुत जल्द मैं उन सबसे छुटकारा पा गया था।

यह पहली बार हो रहा था कि एक मामूली वर्ग की मामूली-सी औरत मुझे चुनौती की तरह लग रही थी और मेरे भीतर उदासी का रूप लेकर बैठ गई थी !

जब मैं उदास रहते-रहते हार गया, अपने भीतर की कैद से मुझे घबराहट होने लगी और उसका असर मेरे कारोबार पर पड़ने लगा तो इसके अलावा

और कोई उपाय नहीं रहा कि इस बला से छुटकारा पाऊं। बस, एक दिन मेरी चमचमाती हुई कार उस गली में जाकर खड़ी हो गई जहां अनिल का घर था। दोपहर का वक्त, मैं जानता था कि अनिल दफ्तर में होगा, लेकिन बहाने गढ़ने में मुझे क्या देर लगती है ? पहले दिन चंद्रा घबरा गई थी। पर निहायत घरेलू और उल्टे-सीधे कपड़ों में मेरे सामने आकर उसका घबराना मुझे और भी आकर्षक लगा था। पता नहीं अनिल की गैर-मौजूदगी में पहुंचने के मेरे बहाने पर चंद्रा ने कितना विश्वास किया अथवा किया भी या नहीं।

"बुरा न मानें तो एक बात कहूं," कुछ दिनों बाद चंद्रा मुझसे कह रही थी, "क्या यह नहीं हो सकता कि आप उनकी मौजूदगी में ही आया करें।"

"क्यों ?" मैंने अपने फक पड़ते रंग को बड़ी मुश्किल से सम्हाला था।

"कुछ अच्छा नहीं लगता," दूसरी ओर देखती हुई चंद्रा बड़ी मुश्किल से सिर्फ इतना कह पाई थी, "मेरा मतलब है''आप तो जानते हैं। अनिल के सिवा दुनिया में मेरा कोई नहीं है।" कहकर चंद्रा बिलकुल उदास हो गई थी और मैंने फैसला किया था कि नहीं, खेल का यह रंग, खुद मेरे लिए भी खतरनाक हो सकता है। फिर इस रास्ते मेरा इलाज भी नहीं था। मैंने अपना रास्ता एकाएक बदल दिया। अब अनिल के सूने में जाने के बदले मैंने शामें ही उसके साथ गुजारनी शुरू कर दीं और चूंकि हर शाम घर पर बिताई नहीं जा सकती। लिहाजा अनिल और चंद्रा को अपनी गाड़ी में लेकर मैं अक्सर बाहर निकल जाया करता। उन्हें मैं उन पांश रेस्तराओं में ले गया जहां अनिल या उन जैसी हैसियत के लोग घुसने की भी हिम्मत नहीं कर सकते। उनके सामने वे इंटरकांटिनेंटल डिशेज रखवाए जिनके उन्होंने नाम भी नहीं सुने थे। हम उन नाइट-क्लबों में गए जहां कैबरे-गर्ल स्ट्रिप करती हैं या फ्लोर-शो की आड़ में जहां पुरुष और स्त्रियां दोनों उत्तेजित होते हैं। हमने पी भी और पिलाई भी। अनिल तो एकाध बार ननु-नच करके शामिल हो गया था, लेकिन चंद्रा को तैयार करने में मुझे और अनिल को काफी मेहनत करनी पड़ी थी। पहले चंद्रा खफा हो गई थी, मुझसे ज्यादा अनिल पर। इस चक्कर में दो-एक शामें बुरी तरह खराब भी हुई थीं, लेकिन मैं जानता हूं कि—इस शहर में अनिल जैसी हैसियत और वर्ग के लोगों की नैतिकता आखिर कितने पानी में है। मैंने वही कमजोर नस दबा रखी थी।

गो कि कल रात जो कुछ हुआ वह एक दिन होना ही था। यह एक दिन दो-चार रोज आगे-पीछे हो सकता था या यह हो सकता था कि इस तरह न होकर उस तरह होता या फिर किसी और तरह से होता। बहरहाल, सब कुछ इतनी तेजी से, इतनी जल्दी और इतने अनसोचे ढंग से हुआ कि मुझे हैरान होने का भी मौका नहीं मिला।

मैं साफ देख रहा था कि बाहर की चंद शामों ने ही हमें एक-दूसरे से बेहद बेतकल्लुफ कर दिया है। दूसरे शब्दों में मैंने उन्हें काफी हद तक खोल लिया था। जैसे अभी पिछली एक शाम को हम लोग सूने पार्क की एक बेंच पर बैठे हुए थे और अनिल ने चंद्रा को अचानक मेरे सामने चूम लिया था? जाहिर है कि मैंने जो पौधा रोपा था, उसमें फूटने वाली यह पहली कली थी।

"ये क्या बदतमीजी है?" चंद्रा पहले तो हक्की-बक्की रह गई फिर बेतरह बिगड़ते हुए उसने कहा था।

"क्या हुआ?" अनिल ने हंसकर मेरी ओर देखा था, "हम लोग पति-पत्नी हैं और यह दोस्त है। इसके सामने अगर प्यार ही कर लिया तो कौन-सी आफत आ गई?" अनिल की हंसी हंसी नहीं थी।

अचानक चंद्रा उठकर खड़ी हो गई थी।

अगरचे मैंने कुछ नहीं कहा, लेकिन मैं खुश था कि अनिल के मुंह में अब मेरी जबान है। मैं यह भी जानता था कि चंद्रा के विरोध और गुस्से के बावजूद वह पार्क वाली शाम अंत नहीं, एक तरह से शुरुआत थी—एक ऐसी शुरुआत, जिसका मोड़ आखिर मेरे रास्ते में ही आता था।

और कल वही हुआ।

हम तीनों अनिल के बैडरूम में बैठे पी रहे थे और खाना घर पर ही मंगा लिया गया था। बैडरूम में एक पलंग, एक नीम-आरामदेह कुरसी और एक स्टूल के अलावा और कोई फर्नीचर नहीं था, लिहाजा अनिल और चंद्रा पलंग पर बैठे हुए थे और मैं कुरसी पर। दो पेग के बाद दसियों बेमानी बातें हुई थीं और फिजूल से मसलों पर बहस करते और चीखते हुए हम लोग देर तक हंसते रहे थे।

किसी पराई स्त्री के साथ शराब पीना मेरे लिए नई बात नहीं थी, लेकिन यह अनुभव बिलकुल नया था कि नशे में स्त्री इतनी उत्तेजक भी हो सकती है। शर्म और शराब का मेल था। चंद्रा अलाव की तरह दहक रही थी! पता नहीं, कितनी रात हो गई थी। यह भी पता नहीं कि हम लोग कितनी पी चुके थे। रह-रहकर अनिल और चंद्रा के शरीर मेरी आंखों में धुंधले और छोटे हो जाते थे। कई बार लगता जैसे हवा में तैरते हुए दूर के शोर की तरह चंद्रा का चेहरा पास आकर एकाएक लौट जाता है।

अनिल बहक रहा था। एक बार कौतुक के बहाने उसने अपने-आपको चंद्रा की गोद में लुढ़का लिया था। फिर एकाएक जाने क्या हुआ कि चंद्रा को बेशरमी से चूमते हुए उसने मेरी ओर देखा था और लड़खड़ाती आवाज में बोला था, "तुम···तुम वहां क्या कर रहे हो?"

"मैं?" कहकर झेंपी हुई हंसी हंसने लगा था। वह हंसी नहीं थी। मैं

नर्वस था। देखा चंद्रा तमतमाकर लाल हो गई थी।

"ले-ले यार, चल, एक प्यार तू भी ले ले, क्यों चंद्रा ?"

अनिल ने अभी अपना वाक्य मुश्किल से पूरा किया होगा। मुझे चंद्रा की ओर देखने या उसकी प्रतिक्रिया जानने की न तो जरूरत थी और न फुरसत। दो पलों के भीतर पटखनी खाई गेंद की तरह उछलकर मैं सीधे पलंग पर जा पहुंचा था।

सहसा परदे के पीछे से किसी के पांवों और चूड़ियों की आहट सुनाई दी और मेरा जी जोर-जोर से धड़कने लगा। क्या सचमुच वह घड़ी आन पहुंची ? दो-एक क्षण सांस रोके मैं उधर देखता रहा, फिर एक लंबी सांस लेकर मैंने सिगरेट जला ली। न चंद्रा थी और न अनिल, बरतन मांजने वाली बाई थी। वह चुपचाप चाय रखकर लौटने लगी थी।

"साहब उठ गए ?" मैंने उससे जल्दी से पूछा था।

"जी।"

"कहां…"

"बाथरूम में हैं।" मेरे सवाल के पहले ही पट से जवाब मिला।

"और बाई साब ?"

"किचन में।"

एक पल को लगा जैसे नौकरानी भी सब जानती है।

मैं सिगरेट के लंबे-लंबे कश खींचने लगा। क्या मैं घबराया हुआ हूं या डर रहा हूं ? लेकिन क्यों ? कल रात मेरे पलंग पर पहुंचने के बाद अनिल इससे भी लंबे-लंबे कश खींचने लगा था। फिर जलती हुई सिगरेट एशट्रे में डालने की बजाय उसने यों ही फेंक दी थी, घबराहट में ! और दो पल के एक टुकड़े में अनिल का वह चेहरा क्या मैं कभी भूल सकता हूं ? मेरे लिए यह सचमुच तजुर्बे की बात थी कि किसी चेहरे पर जरा से वक्फे में इतने सारे रंग आएं और उतर जाएं। हां, सबसे अंतिम और गहरा रंग कुछ वैसा था जैसे कोई बच्चा खेल-खेल में अनजाने ही जख्मी हो जाए और दर्द से डबडबाई आंखों के बावजूद, अपने छोटे-से पौरुष के सहारे, मुस्कराने के लिए विवश हो…

"…मॉर्निंग।"

अचानक अनिल की इस आवाज से मैं चौंका। वह सामने परदा हटाए खड़ा था, मुझसे चंद कदमों के फासले पर। हां, यही वह घड़ी थी जिसके खयाल से ही मेरी रूह कांप रही थी और मैं नहीं जानता था कि इसका सामना

कैसे करूंगा। अपने अंदर फैले सारे तर्कों को मैं जल्दी-जल्दी समेटने लगा। मैंने सोच लिया था कि अनिल के आरोप या गुस्से या तकलीफ को मुझे किस तरह निबटाना चाहिए। मुझ-जैसे खिलाड़ी के लिए यह बाएं हाथ की बात थी कि अनिल-जैसे पिद्दी के वार को मारक बनाकर लौटा दूं, ऐसे कि वह मुझसे आंख भी न मिला सके।

परदे को छोड़कर जैसे ही वह मेरी ओर बढ़ा मैंने साही की तरह अपने बाल और नोकीले कांटे फुला लिए। अनिल नपे-तुले कदमों से आकर मेरे पास खड़ा हो गया और मैंने आंखें उठाईं।

"क्यों ?" मुझसे आंख मिलते ही अनिल बोला, "कैसी रही ?" मैंने उसे बहुत गौर से देखा। माई गुडनेस ! उसके होंठों पर हल्की-सी मुस्कराहट भी थी !

मुझे खुश होना चाहिए था। अब मैं किसी लानत-मलामत के अपनी जीत की खुशी में इतराता हुआ वहां से निकल सकता था, लेकिन हैरत है कि न तो मुझसे उठते बन रहा था और न ही यह मुमकिन था कि वहां बैठा रह सकूं। शायद मुझे धक्का लगा था। कुछ उसी तरह, जैसे किसी पुरानी इमारत को गिरवाते हुए एक बार मैं जख्मी हो गया था, कैसे, मुझे नहीं मालूम ! △

एक ठहरा हुआ दिन

दुआ के लिए उठे हुए अपने हाथ मुंह पर फेरते-फेरते खालू ने मेरी ओर देखा। उनके दोनों अंगूठों को छोड़कर बाकी आठों उंगलियों के सिरे एक क्षण के लिए उनकी ठोढ़ी पर ठहरे थे और जर्जर चेहरे के भीतर धंसी धुएं-जैसे रंग की मटमैली आंखें शायद देखना चाहती थीं कि मैं भी दुआ के लिए हाथ उठाए हूं अथवा नहीं, पर मैं काफी अलग-थलग खड़ा था। सोचा कि कुछ कहूं, लेकिन तभी उन्होंने झटके से अपने हाथ छोड़ दिए और पलटकर धीरे-धीरे चलने लगे।

उनका शरीर कितना छोटा, पतला और कृशकाय लगता था। पीछे-पीछे चलते हुए मैंने सोचा—निहायत संकरी मोहरी का पाजामा, उसके ऊपर पड़ी बेढंगी कमीज और एक जमाना पहले का काला ऊनी कोट, जो अब कोहनियों के पास से बुरी तरह फट चला है। उन्हें यों देखने पर कहां लगता है कि बहत्तर वर्ष का जीवन उन्होंने इसी छोटे-से शरीर से जिया है !

"खालू, यह किसकी कब्र थी ?" जल्दी-जल्दी चलकर निकट होते हुए मैं पूछना चाहता था, लेकिन अचानक याद आया कि कब्र पक्की थी, उसकी

कई ईंटें निकलकर किनारे ढेर हो गई थीं, शायद इसी के बारे में पिछली बार कह रहे थे कि अपने वालिद की कब्र मरम्मत कराना चाहते हैं, वर्ष-पर-वर्ष बीते जा रहे हैं, पर पैसे ही नहीं जुटते।

मेरे पास आते ही वह एकाएक रुके और सामने के खेतों की ओर उंगली उठाकर बोले, "पहले ये भी अपने थे··· यह जमीन, पेड़, तालाब सब, ये सब···"

मैंने उनकी उंगली के संकेतों का अनुसरण किया। खेत की अलग-अलग क्यारियों, पेड़ों और तालाब पर नजर डाली और कुंवरगढ़ की उतरती शाम को निगलती हुई आंखों से देखने लगा।

हम लोग साठ तालाबों वाले गांव कुंवरगढ़ को देखकर टहलते हुए लौट रहे थे। अभी चार दिन पहले मैं कुंवरगढ़ आया था, लेकिन लगता है जैसे आए हुए महीनों गुजर गए और यहां की हर चीज परिचित होकर पुरानी पड़ गई है—वही एक तरह से दिन का निकलना, सामने खड़े पीपल के गुलाबी या हरे पत्तों पर धूप का नाचना, पड़ोस के घर की मुंडेर पर कुछ कबूतरों का गर्दन फुला-फुलाकर गोल-गोल घूमना और अपनी आवाज से सुनसान दोपहरी को खंगालना। रोज धूप चढ़ते ही तालाब-पार से रह-रहकर पत्थरों पर कपड़े पटकने की आवाज तैर आती और बरामदे की आरामकुर्सी में निष्क्रिय बैठे हुए मुझे लगता कि उदासी और एकरसता शायद मेरे ही आस-पास है—जहां कहीं जाता हूं, साथ-साथ चलती है।

बेकारी के दिनों में यही सरोज का मायका कितना पराया और ऊबाने वाला लगता है। पहले यहां आने पर सचमुच ससुराल आने का उत्साह रहता था, लेकिन इस बार घुटन-सी होती है और इधर चार दिनों में एक पल भी ऐसा नहीं गया कि भीतर-भीतर अपराध के भार से मैं दबा न रहा होऊं। सुबह होती और नाश्ते के बाद मैं बरामदे की आरामकुर्सी में आ बैठता हूं। घर के सामने का वही पुराना दृश्य होता है—ढीमरों की काली खपरैल वाली एक-दो झोंपड़ियां, उनके बीच उठा हुआ मुनगे का पेड़ और अहाते की कच्ची दीवार पर सूखता हुआ मछलियां पकड़ने का बड़ा जाल। एक बिना चक्कों वाली टूटी बैलगाड़ी व्यर्थ पड़ी है, उसके साये में कोई सुस्ती का मारा कुत्ता लेटा है अथवा कोई मुर्गी नन्हे-नन्हे चूजों से घिरी हुई कुछ ढूंढ़ती हुई यहां-वहां भटक रही है··· इन चार दिनों में कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ, लेकिन हर सुबह निश्चित स्थान पर आकर बैठते हुए उन्हीं अलग-अलग टुकड़ों को ऐसे देखता हूं जैसे नया कुछ देख रहा हूं।

शाम को पास-पड़ोस के बहुत-से ढीमर बच्चे पीपल के नीचे इकट्ठे हो जाते हैं और अंधेरा होने के बाद भी देर तक खेलते या खेल के बहाने

चिल्लाया करते हैं। खेल क्या है ? नंग-धड़ंग खाक-मिट्टी पर जमे हैं, एक-दूसरे पर धूल उछालते हैं अथवा मां-बहन की गंदी गालियां बकते हैं। कभी उनमें से किसी की माएं सुन लेती हैं तो उनसे भी अधिक फूहड़ स्वर में चिल्लाती हैं—

"ऐ फलां के बेटे ! ले, मैं खड़ी हूं। आ, यहां आ—मैं भी तो देखूं, तू कितना बड़ा मर्द है···"

रोज थोड़ी-बहुत फेर-बदल के साथ यही होता है, बिल्कुल यही।

सरोश भीतर से निकलकर दहलीज पर आ खड़ी होती है, और कुछ देर उन बच्चों को देखने के बाद ऊबी हुई-सी आकर मेरे पास बैठ जाती है। अंधेरे में हम लोग एक-दूसरे को नहीं देख पाते, लेकिन फिर भी मेरी आकृति को घूरकर वह पूछती है, "घूमने नहीं गए ?"

"कहां ?"

"कहीं भी। बैठे-बैठे तो ऊब जाते होंगे। कुछ दूर टहल आया करो। यहां बच्चों का शोर तो और दिमाग चाट जाता है।"

रोज शाम मैं भी यही सोचता हूं, लेकिन निष्क्रियता और उदासी इतना जड़ कर देती है कि कुर्सी छोड़कर उठना कठिन हो जाता है। वहीं धंसा हुआ सोचता हूं कि मुझ पर बहुत बड़ी विपत्ति आई है और मैं साहसपूर्वक सब-कुछ झेल रहा हूं।

और काफी देर हम लोग वैसे ही चुप बैठे रह जाते हैं—अलग-अलग कुछ सोचते और चिंता करते हुए, जैसे समस्या का हल चुप रहने या सोचते रहने पर अपने-आप आ जाएगा।

"आज कौन-सा दिन है ?"—अचानक मैं चौंककर सरोश से पूछता हूं।

"बुध··"

"और तारीख ?"

अनिच्छापूर्वक भी सरोश को जवाब देना पड़ता है और मैं धीरे-धीरे वही बात दुहराने लगता हूं, जो इससे पहले भी ऐसे मौकों पर कई बार कही जा चुकी होती है कि कुंवरगढ़ में अभी पांच दिन और रहना है, तब कहीं रायपुर लौटना होगा। उसके बाद भी पता नहीं, क्या कैसा होता है !

"क्यों, तुम्हें तो दस को बुलवाया है न ?" सरोश आशंकित-सी होकर पूछती है।

"हां, लेकिन बुलाने का मतलब नौकरी देना तो नहीं होता।"

सुनकर बड़ी देर तक सरोश अंधेरे में घूरती रहती है। पीपल के नीचे वाला बच्चों का शोर धीरे-धीरे सरककर घरों के भीतर गुम हो जाता है। बंद कपाटों में से मांओं की झल्लायी, ऊबी और डूबी-सी आवाजें आती हैं और

तालाब के जल की तरह स्थिर होकर सारा कुंवरगढ़ ऊंघने लगता है।

"अब्बा कह रहे थे कि लगी-लगाई नौकरी छोड़कर तुमने अच्छा नहीं किया..."

'क्यों ?' मैंने कहा नहीं, लेकिन अंधेरे में टटोलती मेरी आंखों का प्रश्न यही था। क्या अभी भी अच्छे-बुरे की समझ मुझे नहीं है ? हर दूसरा आदमी अपना स्वभाव मुझ पर क्यों लादना चाहता है ? और यह सचमुच कौन कह रहा है ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह नरोश का भय ही अब्बा के सहारे बोल रहा हो ? और क्या वह स्वाभाविक नहीं है ? उसे अपने अलावा बच्चों की भी चिंता है और फिर मायके में ही क्या रखा है ? एक क्षण के लिए लगता है कि मैंने सचमुच गलती की है। नौकरी करने के बाद किसी का स्वाभिमान नहीं बच रहता, मैं ही उसे कहां तक बचाए-बचाए फिरूंगा ?

"चलो, चलकर खा लो।" देर तक कोई उत्तर न पाकर अंत में नरोश मेरे पास से उठ जाती है और मैं कुर्सी से उठकर भीतर तक जाने के लिए सोचता और हिम्मत बटोरता रह जाता हूं...

"देखो," सहसा खालू रुक गए, मेरे निकट आने की उन्होंने पहले प्रतीक्षा की और सामने फैले गन्ने के खेतों को दिखा कर बोले, "यह भी पहले अपना था और यही क्या, यहां का आधा गांव..."

कहते-कहते खालू रुक गए। वाक्य उन्होंने पूरा नहीं किया और उस ओर अपलक ताकते हुए जैसे कहीं खो गए। उनकी पलक की कोरें भीजी नहीं थीं, लेकिन लगा, उनमें बड़ी करुणा सिमट आई है और बाहर से वह चाहे जितने शांत और अविचलित लगें, भीतर के सारे झाड़-झंखाड़ जरूर अपने सिर धुन रहे होंगे।

अभी पिछली शाम को हम दोनों इकट्ठे बैठे थे और खालू देर तक अपनी पिछली जिंदगी की बातें करते रहे। तीस-पैंतीस साल पुलिस की नौकरी करने के बाद कुछ थोड़ा-बहुत पेंशन पाते हुए वह कुंवरगढ़ में पड़े हैं। अठारह-बीस बरस हो गए, अपने आसपास के ढीमर-गंवार से केवल एक ही बात होती है—खेती-बाड़ी, धान-पान और फसल-उपज की बात। शायद इसलिए जब से मैं आया हूं, वह घड़ी-घड़ी अपने पिछले जीवन में लौट जाते हैं—अपने वालिद के जमाने की जमीन-जायदाद, सुख-चैन, अपनी नौकरी, उसकी तरक्की और उससे जुड़ी-मिली ढेरों स्मृतियों की बातें...

"तुम जानते हो ?" खालू ने आराम-कुर्सी पर ठीक से अधलेटे होकर टूटे हुए स्वर में कहा था, "पहले मैं इन सबकी कीमत नहीं जानता था। मैंने बिलकुल नहीं सोचा था कि एक दिन यहीं आकर इस तरह रहना पड़ेगा, नहीं तो ये दिन देखने नहीं पड़ते...लेकिन खैर, हर हाल में खुदा का शुक्र है।"

"बब्बू के बारे में क्या सोचा है ?" सहसा मैंने प्रश्न किया तो वह चौंककर देखने लगे। थोड़ी देर उन्हीं आंखों से घूरते रहे, फिर दूसरी ओर मुंह फेरकर बोले, "उसके बारे में मैं कभी कुछ नहीं सोचता। उसकी मां से पूछो।"

बब्बू उनका इकलौता लड़का है, तीन बहनों में एक भाई। बहुत ढलती उम्र में हुआ और बिगड़कर किसी काम का नहीं रहा। सत्रह-अठारह की उम्र में पढ़ाई छोड़ दी और खाला की शह से यहां-वहां घूमते रहने के अलावा कुछ नहीं करता। इधर दो बरसों से ऊबकर खालू ने उससे बातचीत तक बंद कर दी है और दोनों प्रायः एक-दूसरे के सामने नहीं आते। देखता हूं कि सारा घर बब्बू के लिए दुःख करता है और उसकी नाकारा हरकतों का जिक्र आते ही सरोश डबडबा आती है, "एक ही तो भाई है और वह भी नसीब से ऐसा..."

"बब्बू की फिक्र मुझे नहीं है," खालू ने कहा, "तीनों लड़कियां भी अपने-अपने घर चली गई हैं। जो चीज मुझे रात-दिन परेशान किए है, वह यही कि मेरे बाद तुम्हारी खाला का क्या होगा ! अभी तक तो कुछ भी ऐसा नहीं कि उन्हें तसल्ली हो और मुझे तुम देख ही रहे हो कि चिरागे-सेहरी हूं..."

होगा। रहा होगा पहले आधा गांव और होगी रईसों-जैसी जमीन-जायदाद ! अब तो कुंवरगढ़ में कठिनाई से दस एकड़ जमीन रह गई है, जिसकी फसल से साल-भर का काम नहीं चलता। और खालू बार-बार पीछे क्यों लौटते हैं। यह वर्तमान को भूलकर घड़ी-घड़ी पिछली जिंदगी में डूब जाना क्या है ?

रानी सागर की ओर से छोटी बतखों का एक बड़ा झुंड पंख झटकारता और शोर मचाता घर लौट रहा था। सामने-सामने बतखें और पीछे-पीछे उन्हें घेरकर लाते हुए खालू। अपने पाजामे के पांयचे जरा-जरा उठाकर उन्होंने नेफे में खोंस लिए थे और एक हाथ में छड़ी लिए हकालते चले आ रहे थे।

मेरी आंखें वह सब देखने की अभ्यस्त नहीं थीं। शायद इसीलिए वह दृश्य थोड़ा अटपटा-सा लगा, पर फौरन याद आया कि अपना काम अपने हाथों से करना तो अच्छी बात है। खालू के संदर्भ में यह बात और अच्छी लगनी चाहिए, क्योंकि जीवन-भर अफसरी करने और नौकर-चाकरों के भरोसे रहने के बावजूद, इस उम्र में वह यह सब कर लेते हैं।

जब बतखों का झुंड निकट आया तो खालू मेरी ओर देखकर जैसे शरमा-शरमी मुस्कराए। पहले तालियां पीट-पीटकर, एक-एक को घेरते हुए उन्होंने सारी बतखें पिछवाड़े के दरवाजे से घर के भीतर करवाईं और फिर एक ओर छड़ी फेंककर बोले, "इन्हें पालने में एक यही झंझट है कि रोज सुबह तालाब पहुंचाओ और शाम को घेरकर लाओ।"

उनका वह कहना और कहने के पीछे का कारण दोनों मैं समझता था, अतः पूछा, "कुल कितनी हैं ?"

"ये ? चालीस…नहीं, अब पैंतालीस हो गई हैं।" खालू ने कहा, "मैं तो और बढ़ाना चाहता हूं, लेकिन तुम्हारी खाला ऊबती हैं। मैं कहता हूं कि भाई कल अगर मेरी आंखें बंद हो गईं तो ये बतखें ही तुम्हें पाल लेंगी।"

कहकर खालू अपने बिना दांतवाले होंठों से हंसने लगे और उस एक क्षण में मैंने देखा, जैसे खालू मेरे सामने खड़े नहीं हैं, लेटे हैं, उनके होंठ उसी तरह खुलकर स्थिर हो गए हैं, आंखें अधखुली और जड़ हैं। सारे शरीर में सफेद चादर टंकी है और सिरहाने अगरबत्ती जल रही है।

घबराकर मेरी आंखें खिड़की के बाहर निकल जाती हैं। देखता हूं कि रानी सागर से बतखों का झुंड चीखता-चिल्लाता हुआ घर लौट रहा है और उसके पीछे, साड़ी का पटली वाला हिस्सा जरा ऊपर उठाकर बाईं कमर में खोंसे और एक छड़ी से घेरती-हकालती हुई खाला चली आ रही हैं! अरे, खाला के परदे का क्या हुआ ? सारी उम्र जिनके पांव का अंगूठा तक कभी बाहर देखने में न आया हो, वही आज डांय-डांय घूम रही हैं ? कैसे ? बन्नू कहां है ? उनकी तीनों लड़कियां कहां हैं ? पुराने पीपल के पास वाला छोटा और पुराना मकान जैसे सिर झुकाए चुपचाप खड़ा है। नहीं, कोई नहीं है। घर-भर में केवल बतखों का कर्कश स्वर गूंज रहा है और दड़बे के पास खड़ी हैं—असहाय; चुप और निपट अकेली खाला!…

जिस शाम सारे कुंवरगढ़ को देखने के लिए निकला था, खालू मुझे एक जगह और ले गए थे। कच्चे अहाते से घिरी वह सब्जियों की बाड़ी थी, जिसे पहले वह एक केवट को उठा दिया करते थे। इस साल न उन्होंने केवट को दिया और न खुद ही सब्जी-भाजी उगाई। देखा, सारी जमीन भूरी-भूरी और साफ-सुथरी खुदी पड़ी थी और कतार से लगे छोटे-छोटे पौधों के अतिरिक्त वहां हरियाली का नाम न था।

"देर-सबेर सही, एक काम मैंने इधर ठीक किया है।" उस दिन निहायत आत्मसंतोष के साथ बाड़ी की ओर देखते हुए खालू ने कहा था, "अभी महीना पहले नागपुर गया था और वहीं से नींबू के सौ पौधे खरीद लाया हूं। देखो, ये सब नींबू हैं।"

कहकर खालू ने मेरा ध्यान उस ओर आकर्षित किया और उधर ही अंगुली उठाए-उठाए बोले, "पांच साल बाद इनमें से हर पेड़ बीस-बीस रुपयों के फल देगा और इस तरह साल में दो हजार की आमदनी हो जाएगी। तुम जानते हो, पैसे मेरे पास नहीं थे, लेकिन पौधों की खरीद के लिए मैंने आधी फसल बेच दी है। अरे, मेरा क्या है, आज मरा, कल दूसरा दिन. लेकिन

तुम्हारी खाला से कहता हूं कि घबराने की कोई बात नहीं, मरने से पहले मैं सब ठीक कर जाऊंगा…"

रानी सागर और अमराई की ओर से शाम का अंधेरा घिरा आ रहा था। पिछले दो दिनों से बदली थी, लेकिन आकाश उतरा हुआ चेहरा लिए सिर्फ घुमड़कर रह जाता था। खालू थोड़ी देर पिछवाड़े के दरवाजे से जाती हुई बतखों को देखते रहे, फिर एक बार आसमान की ओर नजर डालते हुए बरामदे में आ बैठे। चुपचाप मैंने भी अनुसरण किया, हालांकि अब साथ बैठने का बिलकुल मन नहीं था। लग रहा था जैसे बात करने के लिए आज कुछ है ही नहीं और मैं अधिक देर तक चुप रहा तो खालू जरूर पीछे लौट जाएंगे, पर वैसा हुआ नहीं। पीपल के नीचे या गली-मुहल्ले में कोई स्वर नहीं, अकारण ही जैसे सन्नाटा पड़ गया था और कोई आवाज अगर आती तो वह पेड़ की पत्तियों की सरसराहट की थी। थोड़ी देर बाद सरोश आई और हम दोनों के बीच कंदील रख गई।

"तुम कब लौट रहे हो ?" अचानक सरोश की ओर देखते हुए खालू ने मुझसे पूछा।

सरोश पिछले दो माह से मायके में पड़ी है, मुझे आए हफ्ता हो गया, लेकिन अपने आने-जाने या नौकरी-चाकरी के विषय में खालू ने सीधे मुझसे कभी कुछ नहीं पूछा; शायद इसीलिए उनकी बात अजीब-सी लगी।

"कल निकल जाऊंगा।" मैंने जवाब दिया।

"नौकरी न मिली तो क्या करोगे ?"

कुछ देर ठहरने के बाद, हालांकि यह सवाल एक ही बार हुआ, लेकिन लगा, जैसे बड़े और वीरान हाल में कोई भी बात जोर से गूंज जाए अथवा जैसे कोई अनुगूंज अपने को दुहराती हुई दूर से बार-बार लौट आए। क्या करूंगा ? क्या ? क्या?…

"अभी सोचा नहीं।" मैंने धीरे से जवाब दिया।

खालू का झुर्रियों वाला चेहरा बिना बात के चुपचाप सामने की ओर उठा हुआ था। कंदील की रोशनी में वह इतने बूढ़े लग रहे थे कि लगातार दो क्षण देखने पर जी बैठने लगता।

उसी तरह सामने देखकर उन्होंने पूछा, "सरोश की डिलिवरी यहीं करवाओगे ?"

"जी।"

और उसके बाद कोई बात नहीं हुई। थोड़ी देर यूं ही चुप बैठे रहे, फिर 'मगरिब का वक्त हो गया' कहकर खालू उठे और सांस भरते हुए जाय-नमाज की ओर बढ़ गए।

तब कहीं कुछ नहीं था, लेकिन आधी रात गए अचानक ही बारिश बुरी तरह टूटकर आई और पेड़-पौधों को जैसे बिछा गई। सुबह बरामदे में आया तो सबसे पहले जिस चीज पर निगाह पड़ी, वह सामने वाले डीमर का कच्चा मकान था। सचमुच रात इतनी बारिश हुई कि कई मकान बैठते-बैठते रह गए।

केवल एक बैग लेकर कुंवरगढ़ आया था। सारी जरूरत के सामान उसी में ठूंस-ठूंसकर आए थे, लेकिन जाते समय तैयारी की हड़बड़ी नहीं हुई। सरोश हो तो इस बात की सुविधा हो जाती है और क्या रखा है, क्या नहीं, यह जांचे-देखे बिना, उसकी तैयारी के महीनों के लिए निकला जा सकता है। अतः जब वह भरा-भराया बैग लेकर आ खड़ी हुई तो मैंने उसे चुपचाप ले लिया।

पल्ले से टिककर वह बोली, "अम्मा से मिल आए ?"

"हां।"

"तुम्हारी बस कितने बजे निकलती है ?"

"शायद एक-डेढ़ बजे..."

"अभी तो देर है," उसने कहा, "ऐसा क्यों नहीं करते, थोड़ी देर और रुक जाओ। अब्बा आ जाएं तो उनसे मिलकर जाना।"

खालू सुबह से नाश्ता किए बिना बाड़ी की ओर निकल गए थे और अब हालांकि बारह बज रहे थे, लेकिन लौटते हुए दिखाई नहीं देते। सोचा, पता नहीं आने में कितनी देर और लग जाए, सो उधर ही से मिलते हुए जाने की बात कहकर मैंने छुट्टी पा ली।

"सुनो, जैसे ही कुछ हो जाए, फौरन चिट्ठी लिखना..."

कहती हुई सरोश दो कदम बढ़ आई और ऐसी आंखों से ताकने लगी जैसे उसे मायके नहीं, किसी वीरान या जंगली जगह में अकेली छोड़कर मैं जा रहा हूं। लगा, यदि कहीं मैंने बढ़कर ममतापूर्वक उसके कंधे छू लिए होते, सिर पर हाथ रखा होता अथवा ठोड़ी ही पकड़कर उठा दी होती तो वह जरूर रो पड़ती और मेरे लिए वहां से हटना कठिन हो जाता, अतः अपने से जबरदस्ती करनी पड़ी।

एक सप्ताह पुराने परिचय वाली पगडंडियों ने जब खींच-पकड़कर मुझे बाड़ी तक पहुंचाया तो दोपहर की धूप बेहद तीखी और सीधी होकर पड़ रही थी। सुबह से आकाश साफ था और धूप के रंग में निखार था। बढ़ता हुआ मैं सीधे बाड़ी के भीतर चला गया होता अथवा शायद मैंने वहीं से आवाज दे दी होती, लेकिन बबूल के पेड़ के पास मैं सहसा ठिठक गया। आईने की तरह झलमलाती धूप में देखा कि बाड़ी की कच्ची दीवार बड़ी दूर तक गिर गई है, सामने गीली मिट्टी के ढेर पड़े हैं। भीतर जानवरों के खुरों के निशानों

के मध्य नागपुरी नींबू के कई पत्ते-विहीन पौधे जड़ छोड़ उखड़े पड़े हैं और खालू हैं कि कांटे वाली झाड़ियों का ढेर लगाए, गिरी हुई दीवार की जगह धीरे-धीरे कांटे रूंधे चले जा रहे हैं।

मेरी आवाज हलक में फंसकर रह गई। न आवाज दी और न पुकार सका। उतनी धूप में खालू के पसीना भरे, झुके और जर्जर शरीर को मैं कई क्षण देखता रहा। फिर उघड़े हुए पौधे, गिरी हुई दीवार और कांटों की झाड़ियों पर एक-एक निगाह डालता हुआ चुपचाप वहां से निकल आया△

आंच

वहां से भी ऊबकर मौलाना फारूकी सहन में आ गए और अपने नंगे पांवों के बावजूद, दिसंबर की सर्दी में भीगे हुए ठंडे फर्श पर टहलने लगे।

सामने की बत्ती अगर जलती भी रहे तो दरवाजे पर झूलती लताओं के कारण मस्जिद की सहन झुटपुटा जाती है, और उस वक्त तो खैर वह भी बुझी हुई थी। सारे अहाते में वही गई-रात का सन्नाटा था, सहन-भर में अंधेरा मानो फन ढांपकर सोया हुआ था और मस्जिद के भीतर एक भटके हुए नमाजी के अलावा और कोई न था।

"कौन, असगर मियां ?"

अचानक गुसलखाने की ओर से किसी की आहट पाकर ठिठकते हुए उन्होंने पूछा, पर वहां से जवाब नहीं आया। रात-रानी के फैले हुए झाड़, जुही की बेलों और पानी की टाकी के कारण उधर भी अंधेरा कम न था और चूंकि मस्जिद के भीतर से छलकी हुई रोशनी का अक्स ठीक उनकी आंखों पर पड़ रहा था, अतः उन्हें साफ-साफ दिखा भी नहीं।

"असगर मियां ?" सहमकर उन्होंने दुबारा आवाज दी और प्रश्नवाचक

दृष्टि जमाकर, धीरे-धीरे चलते हुए इस बार कुछ आगे बढ़े।

सचमुच वह असगर ही था, लेकिन इस बार भी बोलना उसने मुनासिब नहीं समझा, अकारण खांसता हुआ वह निकल आया, चबूतरे पर उसने बधना रख दिया और नल खोलकर अपने हाथ धोने लगा।

"मौलाना, आप अभी तक टहल रहे हैं ?" नल के नीचे हाथ रखे, थोड़ी देर बाद असगर से यूं बेपरवाही से पूछा जैसे अपने-आपसे कुछ कह रहा हो, फिर उत्तर की राह देखे बिना खुद ही सिहर कर बोला, "या अल्लाह, लगता है टाकी का पानी भी बर्फ हो गया है।"

मौलाना के होंठों तक आते-आते एक बात फिर लौट गई। वह असगर के जवाब न देने और ढिठाई के साथ चुपचाप बढ़े आने के लिए डांटते ही जा रहे थे कि अपनी गलती का एहसास हुआ। वह भी कभी-कभी कैसे सठिया-ने जाते हैं। सर्दियों की रात में दस-साढ़े दस बजे, जबकि सारा कस्बा ऊंघ जाता हो, उनके और असगर मियां के अलावा उस अहाते में कौन आ सकता है ? एक तो गिने-गिनाए नमाजी और ऊपर से हरेक की अपनी-अपनी उलझन, साढ़े आठ बजे जैसे ही इशा की नमाज खत्म होती एक-एक करके लोग छंटते चले जाते और पांच मिनट बाद उतनी बड़ी मस्जिद के वीरान तथा अकेले अहाते में मौलाना और मुअज्जन असगर के सिवाय कोई नहीं रह जाता।

नमाज के बाद भी बड़ी देर तक मौलाना दरूद पढ़ते या तस्बीह फेरते उसी जगह बैठे रहते, लेकिन असगर मस्जिद से लगे हुए अपने कमरे में घुस जाता। खुद मौलाना का कमरा मस्जिद के ही अहाते में था, अतः वहां लौटने की जल्दी उन्हें कभी नहीं हुई। हारी-बीमारी के दिनों को छोड़कर, उस छोटे, कुद और खुर्री खाट वाले कमरे में नींद से बोझिल होने से पहले वह कभी नहीं पहुंचे। अक्सर दरूद-तस्बीह में ही एकाध घंटे निकल जाते। जब कोई भूला-भटका नमाजी इशा के बाद भी 'क़ज़ा' पढ़ने या शरमाशरमी नियम पूरा करने आ टपकता तो वह सहन में उठ आते और अपने दोनों हाथ पीछे बांधकर होंठों में ही कुछ पढ़ते हुए धीरे-धीरे टहलने लगते। इतनी देर में रात काफी भीग आती, भूले-भटके नमाजी भी जा चुके होते, कई बार असगर की आधी नींद हो जाती और मस्जिद के उतने बड़े घेरे में वह निपट अकेले रह जाते। जब टहलते-टहलते उनकी टांगें थक जातीं, ऊब होने लगती और पूरी तरह विश्वास हो जाता कि उन्हें नींद आ रही है तो दरूद पढ़कर, गिरेबान सरकाते हुए, अपने सीने में धीरे-धीरे तीन फूंकें मारते और मुंह पर हाथ फेरते हुए वह कमरे में घुस जाते।

लेकिन नींद भी शायद उनसे हमेशा छल करती है। भले चहलकदमी के दौरान उन्हें लगे कि खाट पर पड़ते ही वह सो जाएंगे, कई बार लेटे-लेटे उनींदे-

उनींदेपन में काफी समय निकल जाता और उस रतजगे से उन्हें बेहद थकान होती। आज भी इतनी देर तक चहलकदमी करते रहने के पीछे क्या यही डर नहीं था ?

"कितना बज गया ?" सहसा उनकी पीठ के पीछे से असगर की आवाज आई। घूमकर उन्होंने देखा कि असगर सर्दी के मारे ठिठुरता हुआ और झुका-सा सहन में खड़ा है और वहीं से मस्जिद के भीतर वाली दीवार-घड़ी देखने के प्रयत्न में झांक रहा है।

"ग्यारह।" धीरे से बुदबुदाकर उसने मौलाना की ओर देखा, "आज आप सोएंगे नहीं, मौलाना ?"

वह क्या जवाब दें ? मौलाना ने सोचा—कह दें कि सच बात क्या है ? बता दें कि भीतर कैसी उथल-पुथल और बेचैनी समाई हुई है और सर पटक डालने पर भी उन्हें नींद नहीं आएगी ?"

"तुम्हारी आधी नींद तो हो गई न ?" आखिर अपने प्रश्न से उन्होंने असगर के सवाल को ढंक लिया।

"मेरा क्या है, दस बार सोता हूं, दस बार जागता हूं।" उसने हंसकर कहा, "लेकिन इतनी ठंड में आप कब तक टहलेंगे ? कहीं सर्दी खा गए तो कल कमर लेकर पड़ जाएंगे।"

मौलाना को अचानक अपना भूला हुआ रोग याद आ गया। इधर बरसों से सर्दियों में उनकी कमर अकड़ जाती थी और आधा मौसम सेंकने-चुपड़ने में निकल जाता। और वक्त तो वह किसी तरह निभा जाते, उस रोग की नामुरादी का सबसे ज्यादा एहसास तब होता जब पांचों वक्त की नमाज पढ़ाने के दौरान कमर जवाब देने लगती। जैसे-तैसे वह सिजदे में पहुंचते तो उठना मुश्किल हो जाता और उठते तो सिजदे में जाना दूभर था।

उन्हें लगा कि रीढ़ की हड्डी वाले अंतिम सिरे में कुछ सरसराहट-सी कांप गई, कुछ चिलक-सी पैदा हुई, जैसे सोया हुआ दर्द जाग रहा हो, पर जबरन हंसकर बोले, "बस, अब चलते ही हैं, असगर मियां ! दरअसल, दरूद पढ़ना रह गया था।

उसके आगे कुछ भी कहे बिना असगर सहन से उतर गया और रातरानी की परछाईं से होता हुआ अपने कमरे की ओर बढ़ा तो मौलाना को अपने कहे हुए जुमले का ध्यान आया। कितनी बेमानी और जरा-सी बात पर वह झूठ बोल गए। झूठ और वह भी मस्जिद की सहन में ? क्या सचमुच वह दरूद पढ़ रहे थे ? इशा की नमाज के बाद से लेकर अब तक वह कहां थे ? कहां ?···

यों इस मनहूसियत की शुरुआत पिछले दिन ही हो गई थी। सर्दियों की उदास और निष्क्रिय-सी करती शाम मस्जिद के अहाते में घुस आई थी और पेड़-पौधों की छांव में खरगोश-जैसी दुबकी हुई थी। भला, कब बाहर आने के लिए ? क्या वत्तियां जलने और चहल-पहल निकल जाने के बाद ?

मगरिब की नमाज पढ़ाने के बाद मौलाना अपने कमरे में चले आए थे। उन्हें किसी पुराने रिसाले को ढूंढ़-खोलकर निकालना था, सो उसी उठा-पटक में अंधेरा हो गया। चूंकि उसके कमरे में बिजली का कनेक्शन था नहीं और लालटेन जलाने में जहमत हो रही थी, अतः वह झल्लाकर कमरे से निकल आए। बाहर अंधेरा काफी फैल चुका था और सर्दियों का मौसम न होता तो लगता कि इशा का वक्त हो गया है। सारे अहाते में यहां से वहां तक एक भी वत्ती नहीं जली थी, अतः अंधेरे में डूबी और झुकी-सी मस्जिद अजब रहस्यमय-सी लग रही थी। उन्होंने मुअज्जन को आवाज दी, लेकिन वह शायद नहीं था। आखिर खुद ही बढ़कर उन्होंने गुम्बद की ऊपरवाली वत्ती जलाई, सामने के दरवाजे और गलियारे को रोशन किया और भीतर आकर जैसे ही वहां का स्विच खोला, स्वयं डर गए।

खट की आवाज और उजाले के साथ उन्होंने देखा कि कोई सफेद-बुर्राक कपड़ों में मस्जिद के भीतर बैठा है। फिर अचानक रोशनी से कांपकर वह चोरों की तरह उठ खड़ा होता है और मौलाना की नजर बचाकर चुपचाप खिसक जाना चाहता है।

"कौन है ?"

एक बार सहमती आवाज से पुकारकर मौलाना धीरे-धीरे आगे बढ़े। निकट पहुंचने पर आश्चर्य तो हुआ ही, अपने आप पर हंसी भी आई कि कभी-कभी कैसी निराधार शंकाएं उनके मन में आने लगती हैं। अरे, वह तो जाकिर भाई थे।

"जाकिर भाई, अभी तक आप गए नहीं ?" एक लज्जित-सी हंसी हंसकर मौलाना ने पूछा, लेकिन जैसे ही जाकिर भाई की आंखों और चेहरे पर उनकी नजर पड़ी, वह एकबारगी सहमकर रह गए। अजब हुलिया थी—चेहरा उनका आंसुओं से भीगा हुआ, आंखें प्याजी, पपोटे तितली-पंख की तरह खुलते-मुंदते और होंठ अलग-अलग तथा बिल्कुल सूखे। लगा, जैसे जाकिर भाई सिजदे में गिरकर देर तक रोते रहे हों।

जाकिर भाई ने गला साफ कर कुछ कहना चाहा, लेकिन स्वर नहीं फूटा।

अपने को ढकेलते हुए वह चुपचाप अहाते के बाहर हो गए हालांकि मौलाना का एक हाथ कंधे पर बराबर पड़ा हुआ था।

"क्या हुआ जाकिर भाई, मुझे भी नहीं बताएंगे ?" बाहर आने पर अपने स्वर में हमदर्दी और अपनापन भरकर मौलाना ने धीरे से पूछा।

पहले जाकिर भाई के पपोटे तेज-तेज गिरने-उठने लगे, होंठ पत्ती की तरह कांपा, फिर गर्दन झुकाकर वह बेसाख्ता रोने लगे।

जाकिर भाई के चले जाने के बाद जब मौलाना वहां से लौटे तो पूरी तरह रात हो गई थी। अगर इशा की नमाज न पढ़ानी होती तो कमरे से बाहर निकलना वह कतई गवारा न करते। पहली बार उन्हें एहसास हुआ कि किसी मस्जिद की इमामत करना कितनी जिम्मेदारी का काम है ! इबादत के लिए चाहे आपका जी न चाहे, लेकिन साधारण लोगों जैसी छूट उनके नसीब में नहीं कि एक वक्त की नमाज टाल जाएं। मुअज्जन ने अजान दी कि उन्हें सबों के आगे खड़े हो जाना पड़ता है।

आयतों में अगर एक जमाने का हाफिजा न होता और बरसों से दिन-रात पढ़ते-पढ़ते उनके अंतर्मन में यदि सारी कुरान न बस गई होती तो मन-ही-मन कट मरने की स्थिति आ गई थी। उन्होंने क्या पढ़ा, क्या पढ़ाया, यह याद नहीं। बस, सब लोगों के आगे वह चाबी भरे पुतले की तरह बेमन से पढ़ते और मशीन की तरह जिस्म को हरकतें देते चले गए।

अंत में, इबादत की उस बेदिली के लिए खुदा से हजार-हजार माफी मांगने के बाद जब वह कमरे में लौटे तब भी मन पर वैसा ही बोझ धरा हुआ था। लेटने और आंखें मूंद लेने पर भी लगा, जैसे जाकिर का आंसुओं से तर चेहरा कमरे के हर कोने-अंतरे में पैवस्त है और पलकों के खुलते ही चारों ओर से निकट आने लगेगा। तब वह क्या करेंगे ? उस चेहरे से बचकर वह कहां जाएं ? जाकिर से आग्रह करके खुद उन्होंने ही तो वह सब मोल लिया था।

सुनकर मौलाना कितने हतप्रभ रह गए थे। कई क्षण तक उन्हें बिल्कुल विश्वास नहीं हुआ कि जाकिर जैसे शरीफ, खुदा से खौफ खाने वाले और परहेजगार आदमी की बेटी वह सब कर गुजरेगी और फिर भी जाकिर भाई जीते-जागते नजर आएंगे।

"वह कौन दुश्मन है, जाकिर भाई ?"

बड़ी कठिनाई से उन्होंने अपनी उत्सुकता पर विजय पाई थी, लेकिन सवाल आखिर इस सूरत में निकल ही आया। दरअसल, वह जानना चाहते थे कि वह कौन आदमी है जिससे मिलकर उनकी बेटी ने जाकिर भाई की टोपी उछाल दी, लेकिन सीधे पूछना ओछापन लग रहा था। आखिर कोई भी हो, उनसे

यों इस मनहूसियत की शुरुआत पिछले दिन ही हो गई थी। सर्दियों की उदास और निष्क्रिय-सी करती शाम मस्जिद के अहाते में घुस आई थी और पेड़-पौधों की छांव में खरगोश-जैसी दुबकी हुई थी। भला, कब बाहर आने के लिए ? क्या बत्तियां जलने और चहल-पहल निकल जाने के बाद ?

मगरिब की नमाज पढ़ाने के बाद मौलाना अपने कमरे में चले आए थे। उन्हें किसी पुराने रिसाले को ढूंढ़-खोलकर निकालना था, सो उसी उठा-पटक में अंधेरा हो गया। चूंकि उसके कमरे में बिजली का कनेक्शन था नहीं और लालटेन जलाने में जहमत हो रही थी, अतः वह झल्लाकर कमरे से निकल आए। बाहर अंधेरा काफी फैल चुका था और सर्दियों का मौसम न होता तो लगता कि इशा का वक्त हो गया है। सारे अहाते में यहां से वहां तक एक भी बत्ती नहीं जली थी, अतः अंधेरे में डूबी और झुकी-सी मस्जिद अजब रहस्यमय-सी लग रही थी। उन्होंने मुअज्जन को आवाज दी, लेकिन वह शायद नहीं था। आखिर खुद ही बढ़कर उन्होंने गुम्बद की ऊपरवाली बत्ती जलाई, सामने के दरवाजे और गलियारे को रोशन किया और भीतर आकर जैसे ही वहां का स्विच खोला, स्वयं डर गए।

खट की आवाज और उजाले के साथ उन्होंने देखा कि कोई सफेद-बुर्राक कपड़ों में मस्जिद के भीतर बैठा है। फिर अचानक रोशनी से कांपकर वह चोरों की तरह उठ खड़ा होता है और मौलाना की नजर बचाकर चुपचाप खिसक जाना चाहता है।

"कौन है ?"

एक बार सहमती आवाज से पुकारकर मौलाना धीरे-धीरे आगे बढ़े। निकट पहुंचने पर आश्चर्य तो हुआ ही, अपने आप पर हंसी भी आई कि कभी-कभी कैसी निराधार शंकाएं उनके मन में आने लगती हैं। अरे, वह तो जाकिर भाई थे।

"जाकिर भाई, अभी तक आप गए नहीं ?" एक लज्जित-सी हंसी हंसकर मौलाना ने पूछा, लेकिन जैसे ही जाकिर भाई की आंखों और चेहरे पर उनकी नजर पड़ी, वह एकबारगी सहमकर रह गए। अजब हुलिया थी—चेहरा उनका आंसुओं से भीगा हुआ, आंखें प्याजी, पपोटे तितली-पंख की तरह खुलते-मुंदते और होंठ अलग-अलग तथा बिल्कुल सूखे। लगा, जैसे जाकिर भाई सिजदे में गिरकर देर तक रोते रहे हों।

जाकिर भाई ने गला साफ कर कुछ कहना चाहा, लेकिन स्वर नहीं फूटा।

ढकेलते हुए वह चुपचाप अहाते के बाहर हो गए, हालांकि मौलाना हाथ कंधे पर बराबर पड़ा हुआ था ।

"क्या हुआ जाकिर भाई, मुझे भी नहीं बताएंगे ?" बाहर आने पर अपने में हमदर्दी और अपनापन भरकर मौलाना ने धीरे से पूछा ।

पहले जाकिर भाई के पपोटे तेज-तेज गिरने-उठने लगे, होंठ पत्ती की तरह ा, फिर गर्दन झुकाकर वह बेसाख्ता रोने लगे ।

जाकिर भाई के चले जाने के बाद जब मौलाना वहां से लौटे तो पूरी तरह त हो गई थी । अगर इशा की नमाज न पढ़ानी होती तो कमरे से बाहर निकलना वह कतई गवारा न करते । पहली बार उन्हें एहसास हुआ कि किसी मस्जिद की इमामत करना कितनी जिम्मेदारी का काम है ! इबादत के लिए, चाहे आपका जी न चाहे, लेकिन साधारण लोगों जैसी छूट उनके नसीब में नहीं कि एक वक्त की नमाज टाल जाएं । मुअज्जन ने अजान दी कि उन्हें सबों के आगे खड़े हो जाना पड़ता है ।

आयतों में अगर एक जमाने का हाफिजा न होता और बरसों से दिन-रात पढ़ते-पढ़ते उनके अंतर्मन में यदि सारी कुरान न बस गई होती तो मन-ही-मन कट मरने की स्थिति आ गई थी । उन्होंने क्या पढ़ा, क्या पढ़ाया, यह याद नहीं । बस, सब लोगों के आगे वह चाबी भरे पुतले की तरह बेमन से पढ़ते और मशीन की तरह जिस्म को हरकतें देते चले गए ।

अंत में, इबादत की उस बेदिली के लिए खुदा से हजार-हजार माफी मांगने के बाद जब वह कमरे में लौटे तब भी मन पर वैसा ही बोझ धरा हुआ था । लेटने और आंखें मूंद लेने पर भी लगा, जैसे जाकिर का आंसुओं से तर चेहरा कमरे के हर कोने-अंतरे में पैवस्त है और पलकों के खुलते ही चारों ओर से निकट आने लगेगा । तब वह क्या करेंगे ? उस चेहरे से बचकर वह कहां जाएं ? जाकिर से आग्रह करके खुद उन्होंने ही तो वह सब मोल लिया था ।

सुनकर मौलाना कितने हतप्रभ रह गए थे । कई क्षण तक उन्हें बिल्कु विश्वास नहीं हुआ कि जाकिर जैसे शरीफ, खुदा से खौफ खाने वाले परहेजगार आदमी की बेटी वह सब कर गुजरेगी और फिर भी जाकिर जीते-जागते नजर आएंगे ।

"वह कौन दुश्मन है, जाकिर भाई ?"

बड़ी कठिनाई से उन्होंने अपनी उत्सुकता पर विजय पाई थी, लेकिन आखिर इस सूरत में निकल ही आया । दरअसल, वह जानना चाहते कौन आदमी है जिससे मिलकर उनकी बेटी ने जाकिर भाई की टो दी, लेकिन सीधे पूछना ओछापन लग रहा था । आखिर कोई भी

क्या फर्क पड़ता है ? चाहे वह पढ़ा-लिखा—भले घर का लड़का हो या कोई मामूली रिक्शा वाला, इज्जत गई, सो गई।

यह याद आते ही कि वह साधारण आदमी नहीं, मजहब के पेशवा भी हैं, मौलाना ने गंभीर और संयत स्वर में जाकिर को धीरज बंधाना शुरू किया। बोले, "मियां, मुसीबत किस पर नहीं आती, लेकिन जरा सब्र से काम लो, सबसे बड़ा कारसाज अल्लाह है। उससे किसका क्या छिपा है।"

लेकिन अजीब बात है कि अपने शब्दों में वह उतना जोर नहीं दे पा रहे थे जितना कि वे चाहते थे। उस सारे समय उनकी आंखों के सामने अपनी दोनों लड़कियों की तस्वीरें तैर रही थीं जिन्हें उन्होंने पिछले डेढ़ बरस से नहीं देखा था। वह उन्हीं के बारे में सोचने लगे थे।

उस रात उन्होंने सबसे पहला काम यह किया कि पेटी में बंद बरसों से अनछुई और पुरानी डायरी निकाली और दोनों लड़कियों की जन्म की तारीख देखकर उनकी सही-सही उम्र का हिसाब कर लिया। एक इक्कीस की हो गई थी और दूसरी को उन्नीसवां लगा था। इधर वह जब-जब अपने घर गए थे, बीवी घुमा-फिराकर लड़कियों के ब्याह की बात छेड़ दिया करती। वही दलील जो अमूमन हर बड़ी बेटीकी मां रखा करती है कि जमाना खराब आ गया है, किसी दिन ठांव-कुठांव पैर पड़ जाए, इससे पहले ही···

ऐसा नहीं है कि मौलाना ने अपनी बीवी की बातों पर इससे पहले ध्यान न दिया हो या स्वयं समझते न हों, लेकिन आज लगा कि बीवी की बात के मर्म को पहले वह सचमुच नहीं छू पाए थे। बाद में, उसी रात उन्होंने बीवी के साथ-साथ अपनी बड़ी लड़की के नाम भी अलग से चिट्ठी लिखी जिसमें जगह-जगह याद दिलाया कि बेटी, सबसे ज्यादा फिक्र मुझे तुम दोनों का ही है। इतनी दूर रहकर भी मैं एक लम्हे के लिए अपने दिमाग से हटा नहीं पाता कि तुम लोग मुझ खुदापरस्त और गरीब मौलाना की इज्जत हो।

इतना सब करके वह चैन से सोये थे और दूसरे दिन की दोपहर तक जाकिर की वेदना का प्रभाव धुंधला भी हो गया था, लेकिन अचानक जब मुअज्जन असगर कस्बे की एक ताजा और सनसनीखेज खबर लेकर पहुंचा तो मन पर गुमसुम-सी सोई पिछले दिन की वेदना फिर जागकर उठ बैठी।

मौलाना उस समय टाकी वाले नल के सामने बैठे वजू बना रहे थे। एकाएक न तो असगर के प्रवेश की ओर उनका ध्यान गया और न ही इस बात पर कि वह क्या कह रहा है।

"आपने सुना मौलाना ?" असगर ने इस बार अपनी बात जोर से दुहराई तो वह चौंके। पलटकर देखा तो असगर पास ही खड़ा नये जमाने को एक

सांग में कौन रहा था। वजू पूरा कर सकने के बाद मौलाना ने नल के पास से मुंह उठाया और नीचे के पत्थर पर पछाड़ खाती पानी की मोटी धार को हथेली से रोककर पूछा, "क्या हुआ, असगर मियां ?"

असगर पहले उसी तरह बड़बड़ाता रहा, फिर आश्चर्य और अविश्वास के मारे अपने चेहरे को रहस्यमय-सा बनाये हुए निकट आ गया, धीरे से बोला, "नारायण शर्मा को जानते हैं ? अरे वही छः फुट का ऊंचा-पूरा आदमी जो उस दिन आपसे सड़क पर मिला था ?"

"हां-हां !"

"कहिए कैसा आदमी है ? है न हजारों में एक ?"

"है, जरूर है, लेकिन···"

"उसकी बीवी को भी आपने देखा होगा," असगर ने जल्दी से कहा, "चालीस-बयालीस की ढलती उम्र, बहुत मामूली शरीर, साधारण-सा चेहरा-मोहरा···और भाई, जिसके जवान-जवान लड़कियां हों उसे बूढ़ी नहीं तो और क्या कहेंगे ?"

अब की बार मौलाना झुंझलाहट के मारे मुस्कराने लगे, धीरे से उठकर मुंह पोंछते हुए उन्होंने कहा, "असल बात तो कहो मियां, पहेलियां क्यों बुझा रहे हो ? क्या वह मर गई ?"

"मर ही गई होती तो अफसोस किस बात का था," असगर ने निहायत नफरत से कहा, "कम-से-कम उस बेचारे की आज भरे बाजार थू-थू न होती। मैं तो सुनकर शर्म से गड़ गया, मौलाना ! तौबा, इस उम्र में ऐसी भी क्या हविस कि···"

अपनी स्याह दाढ़ी में चार उंगलियों से कंघी करते हुए मौलाना सहज भाव से खड़े थे, असगर के अंतिम वाक्य को सुनते-सुनते उनका हाथ थम गया, फिर नीचे आया, ढीले-ढाले ढंग से खुले होंठ सहसा सिमटकर जुड़ गए और एक बार ठिठककर उन्होंने कहा, "तो क्या···"

दरअसल, उनकी आंखों के सामने रोशनी की गति से आकर जाकिर का गए दिन वाला चेहरा थम गया और वह भूली हुई घटना यूं याद हो आई जैसे उन्होंने स्वयं अपनी आंखों से देखा हो। बेचारे जाकिर का अब क्या हाल होगा ? क्या रोते-रोते भी अपने आप सब्र आ जाता है ?

"वही बात है मौलाना," असगर ने उनकी बात का ठंडे ढंग से जवाब दिया, "और हो ही क्या सकती है ? लेकिन सोचिए तो, सुना है वह आदमी नारायण शर्मा का पुराना दोस्त था और शर्मा की हाजिरी हो या गैरहाजिरी, घर पर बराबर रोज आया-जाया करता था। शर्मा बेचारे की सरकारी नौकरी है और वह भी ऐसी कि महीने में पचीस दिन दौरे पर रहना पड़ता है। अब

उन्हें क्या पता कि दोस्त होकर वह और अठारह साल की व्याही जिंदगी गुजारने के बाद उसकी बीवी···"

मौलाना को लगा कि वह खड़े नहीं, अधर टंगे हैं, घुटनों के नीचे का हिस्सा या तो है नहीं, या है भी तो उसे लकवा मार गया है। अपने चिपके हुए होंठों को जरा खोलकर उन्होंने एक सांस मुंह से भरी और जवान फेरकर होंठ गीले कर लिए।

असगर बताता रहा कि जैसे ही शर्मा जी के द्वारा वे दोनों रंगे हाथों पकड़े गए, पहले तो पत्नी सपकपायी, लेकिन फिर आवेश में सब-कुछ स्वीकार करके उसने साफ-साफ कह दिया कि उन दोनों के संबंध दो-चार दिनों के नहीं, सात बरस पुराने हैं ··अभागा शर्मा, उस मनहूस क्षण के पहले उसे शायद गुमान भी न रहा होगा कि जिस शाख की छांव-भरी संभावना में वह अब तक बैठा रहा, वह इतनी गंजी और खोखली होगी कि हाथ लगाते ही पेड़ से टूट जाएगी।

क्या सचमुच यह सब इसी जगत में संभव है, सोचते हुए मौलाना को अचानक अपने घर की याद आ गई और इस बार लड़कियों के साथ बीवी का चेहरा भी आंखों के सामने नाच गया। स्वयं उनके व्याह को क्या लगभग बीस बरस नहीं हो गए होंगे ? लेकिन इतने लंबे अरसे में जमकर इकट्ठे वे लोग कितने समय के लिए रहे ? शादी के बाद कठिनाई से तीन साल ही गुजरे होंगे कि घर-बार सब छोड़-छाड़कर उन्हें इतनी दूर आ जाना पड़ा और तब से पंद्रह-सत्तरह बरस हुए, कौम तथा मजहब की खिदमत करते हुए वह यहां पड़े हैं और बाल-बच्चे लखनऊ में। वैसे चिट्ठी-पत्री जाती है, पैसे-पार्सल हर माह डाकखाने से निकलते हैं और साल में एक बार लंबी छुट्टी लेकर खुद मौलाना फाल्की घर पहुंच जाते हैं।

लेकिन क्या वास्तव में घर-बार की जिंदगी वे जी रहे थे ? वह कौन-सा संबंध-सूत्र है जो इतने लंबे समय से सैकड़ों मील की दूरी के बावजूद दोनों को जोड़े हुए है और सब-कुछ ठीक-ठाक चल रहा है ? और कहीं ऐसा तो नहीं कि आंखों से दूर होने के कारण ही सब-कुछ साफ-सुथरा लग रहा हो, पर असल में···

टंकी के साथ नमाजियों के वजू बनाने के लिए जो कई नलों की कतार थी, उनमें से एक खुला रह गया था। शायद सर्दी की वजह से हड़बड़ी और जल्दबाजी में असगर बिना नल बंद किए ही खिसक गया था। उसकी मोटी धार नीचे के पत्थर पर 'च···ट···च···ट' करती हुई पछाड़ें खा रही थी

और बिल्कुल अनछुए सन्नाटे के कारण वह आवाज अजीब डरावनी-सी लगती थी।

धीरे-धीरे बढ़कर मौलाना ने नल बंद कर दिया। पानी कहीं व्यर्थ बह गया तो कल टाकी भरने के लिए इसी असगर की जान पर आएगा। फिर यही दलील होगी कि बूढ़ा आदमी हूं, जिंदा रहने के साथ-साथ खुदाखाने से जुड़ा रहूं, इसलिए मुअज्जनी कर ली है। इतनी बड़ी टाकी को रोज भरना तो किसी जवान आदमी का ही काम हो सकता है।

जब नल बंद करने के लिए मौलाना झुके थे तो रीढ़ की निचली हड्डी में एक बार फिर चिलक-सी उठी थी। हाथ भी उनके इतने बर्फ हो गए थे कि लगा जैसे हों ही नहीं। कमर सीधी करते हुए उन्होंने मुअज्जन की कोठरी की ओर निगाह डाली। एक तो वह कोठरी यूं ही अंधेरे कोने में पड़ती थी और उस पर टाकी तथा रातरानी आदि की झाड़ियों का ढंकाव। खूब अच्छी तरह पट-पल्ले लगाकर संभवत: असगर सो रहा हो या शायद आग के पास बैठा अलसाए शरीर से ऊंघ रहा हो। उन्हें इतनी देर तक ऐसी सर्दी में टहलते देखकर भला उसने क्या सोचा होगा? बूढ़ा और दुनिया देखा हुआ आदमी है, शायद है उनके मन की व्यथा भांप गया हो, शायद है मन-ही-मन उनके लिए सहानुभूतिपूर्वक विचार करता रहा हो, शायद है…लेकिन उनके मन की व्यथा आखिर है क्या? जब से असगर ने नारायण शर्मा के अभाग्य की खबर सुनाई है, उनकी व्याकुलता क्यों बढ़ गई? जैसे-तैसे इशा की नमाज पढ़ाने के बाद से लेकर अब तक वह क्या सोचते रहे? क्या वास्तव में उसके मन की सारी संवेदनात्मक उथल-पुथल नारायण शर्मा को ही लेकर रही है?

सहन से नीचे उतरकर वह उस कोठरी की ओर बढ़े और दरवाजे के पास पहुंचकर उन्होंने आहिस्ते से आवाज लगाई—

"असगर मियां!"

भीतर आग जल रही थी और हालांकि दोनों पल्ले भिड़े हुए थे, लेकिन जलती हुई लपटों की पीली-पीली आंच और रोशनी दराज में से बाहर अंधेरे में झांक रही थी।

उनके पुकारने पर भी एक क्षण सन्नाटा रहा फिर खखारकर गला साफ करने के साथ असगर की मुंह-ढंकी आवाज आई, "मौलाना-सा?"

थोड़ी देर बाद उनींदेपन से दरवाजा खुला और सीत्कार करते हुए मौलाना भीतर आ गए। उतनी रात गए मौलाना के अचानक आने के विषय में असगर ने अपनी ओर से कोई जिज्ञासा प्रकट नहीं की। ठिठुरता तथा हू-हू करता हुआ वह जल्दी से लौटा और बिस्तर में घुस गया।

"सचमुच, किस कदर सर्दी है।"

आग की आंच पर अपनी दोनों हथेलियां फैलाकर बैठते हुए मौलाना ने यूं कहा मानो उतनी रात गए असगर को तंग करने के लिए कैफियत दे रहे हों ।

"आज आपको नींद नहीं आ रही, मौलाना ?"

"क्यों ?" वह सहसा ऐसे चौंके जैसे एकाएक पकड़े गए हों; फिर असगर के नाक तक ढंके-मुंदे और गरमाई के सुख में लिपटे शरीर की ओर देखते हुए धीरे से मुस्कराए, "अभी कौन-सी आधी रात हो गई है, असगर मियां ! वह तो सर्दी के कारण ऐसा लग रहा है कि···"

उसी समय असगर ने सुखपूर्वक करवट बदली और परिणामस्वरूप खाट चरमराई । पांवों की सहायता से एक क्षण वह अपना ओढ़ना ठीक करता रहा फिर अपने-आप में अच्छी तरह सिमटते हुए उसने कहा—

"यकीन जानिए, जब से वह मनहूस खबर सुनी है, मुझे भी चैन नहीं ।"

मौलाना को लगा कि इस बार उनका चेहरा फक पड़ गया है । असगर ने वह बात क्या बिलकुल सीधे-सीधे उन्हें पकड़ने के लिए नहीं की थी ? वर्ना अचानक आई उस चर्चा की ओट था क्या ? किंचित् सम्हलकर, असगर के अनुमान को झुठलाने के प्रयत्न में, जैसे अनजान बनते हुए उन्होंने पूछा, "कौन-सी बात ?"

"अरे, वही बेचारे नारायण शर्मा की । सोचिए तो उस गरीब की जहनी हालत क्या होगी ?"

"छोड़ो असगर मियां," मौलाना ने टहलने के ढंग पर हंसकर कहा, "दुनिया में यह सब तो चलता ही रहता है ।"

असगर ने जोर देकर कहा, "छोड़ने की बात नहीं जी । आज जमाने में बाहर का विश्वास तो रह ही नहीं गया, अब अगर वह घर से भी उठ गया तो बताइए, कौन किसके सहारे जिएगा ?"

मौलाना कुछ कहना चाहते थे, लेकिन जवाब नहीं बना । उनकी आंखों के आगे अपनी बीवी की समूची तस्वीर तैर आई थी । औरतों के मामले में वह परदे के पाबंद जरूर थे, लेकिन अपनी ओर से उसकी सख्ती की ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया । शायद है, मजहब और समाज का खयाल न होता तो वह जरूरी भी न समझते । पहले ही दिन से उन्हें अपनी बीवी पर कितना गहरा विश्वास जम गया था !

असगर अपनी मरहूमा बुढ़िया की ईमानदारी और सच्चाई के विषय में बताता रहा । उसी संदर्भ में अपनी इकलौती बेटी की पाकदामनी की चर्चा करते हुए उसने वैवाहिक जीवन में उसकी नेकनामी के कई छोटे-छोटे ब्योरे सुनाए, लेकिन मौलाना का ध्यान वहां नहीं था । सुनते और हां-हूं करते हुए

भी जैसे वह वहां बिलकुल न थे, हालांकि सारे समय वह आग के पास ही बैठे रहे और उसकी आंच अगली पिंडलियों पर बराबर महसूस होती रही।

उन्हें घर गए क्या दो वर्ष होने को नहीं आए? मौलाना सोच रहे थे—पिछले पंद्रह-सत्तरह वर्षों से साल के आखिर में लंबी छुट्टी लेकर वह बाल-बच्चों को देख आया करते थे, लेकिन इस साल कई तरह की मजबूरियां आ गईं और उन्हें मन मसोसकर रह जाना पड़ा। इसी विवशता के लिए अफसोस करते हुए, परसों-रात उन्होंने बीवी को भी लिखा था। क्योंकि अपने हर खत में इधर वह यही पूछती थी कि उनका आना कब हो रहा है। अपने न आ सकने की मजबूरी को उन्होंने किसी तरह समझाया था?

सहसा उन्हें दाहिने पांव को हटाकर थोड़ा पीछे सरकना पड़ा, क्योंकि आग की आंच तेज हो गई थी। धीरे-धीरे बातें करते हुए असगर की आवाज अब काफी मद्धम होकर डूबने-सी लगी थी। उसके सो जाने में अधिक देर नहीं लगेगी। मौलाना ने एक बार उसके मुंह की ओर देखते हुए राहत की सांस ली।

जब असगर बातें कर रहा था तो रह-रहकर एक आशंका उन्हें अस्थिर किए हुए थी। उसकी एक बात के चुकने पर जैसे ही क्षण-दो क्षण का मौन पड़ता वह व्याकुल हो उठते। लगता जैसे असगर का अगला प्रश्न वही होगा जिससे मन-ही-मन वह बचना चाह रहे थे। बहुत संभव था कि पिछले कई अवसरों की तरह निहायत आत्मीयतापूर्वक वह पूछ बैठता, "मौलाना, आखिर घर-बार से इतनी दूर इस जंगल में आप अकेले क्यों पड़े हैं? या अपने बाल-बच्चों को यहीं क्यों नहीं ले आते? अथवा इस साल आप घर क्यों नहीं गए? अल्लाह, अल्लाह, इतने-इतने अरसे के लिए अलग रहना तो अच्छी बात नहीं, बाल-बच्चों का मन लगा रहता है…"

और मान लो, आज फिर कहीं वह पूछ बैठता तो वह क्या कहते? जहां प्रश्न को सीधे-सीधे झेलने का साहस न था वहां सच्चाई को खोलकर रख देने की बात कितनी कठिन थी। उनके जहन में पिछली रात बीवी को लिखे खत का मजमून उभर आया जिसमें उन्होंने अपने न आ सकने की खबर दी थी। वह अपने स्वभाव को कोसने लगे जिसके कारण वह किसी भी काम का निर्णय उतावलेपन से जल्दबाजी में ले लिया करते हैं। उन्होंने वह खत लिखा ही न होता तो कितना अच्छा था।

बड़ी देर बाद आग की दूसरी आंच से चौंककर उन्होंने देखा कि उनका शरीर तपिश के मारे जल रहा है। असगर एक भरपूर नींद में था और उसके खर्राटे सन्नाटे में पूरी शिद्दत के साथ गूंज रहे थे, इस कदर निपट अकेलेपन का अहसास उन्हें और कब हुआ था?

उस झुलसती आंच से अपने शरीर को बचाने के लिए वह दूर हटना चाहते थे, लेकिन पीछे ही दीवार लगी हुई थी। सामने फैले हाथ-पांव अच्छी तरह समेटकर उन्होंने चाहा कि शरीर का सारा भार दीवार पर डाल दें लेकिन अचानक एक मूर्खतापूर्ण अनुभूति से वह डर गए। लगा, जैसे दीवार पर चूने की चाहे जितनी सफेदी हो, भीतर से खोखली है और जांचने के लिए भी अगर उन्होंने पीठ टेक दी तो वह भहराकर गिर पड़ेगी ! △

बीच के लोग

शम्मी आपा की नंगी और सूनी कलाइयों पर नजर पड़ते ही मुझे धक्का-सा लगा। कई क्षणों तक मुझे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ लेकिन फिर देखा कि अविश्वास का कोई कारण है नहीं। वे सचमुच नंगी थीं!

शायद उसी पल शम्मी आपा ने मेरी नजरें भी पढ़ ली थीं। जल्दी से उन्होंने कलाइयां अपनी गोद में छुपा लीं और जैसे कुछ कहने के लिए ही बोलीं, "क्यों भैया, इस कमनसीब की याद तुझे बहुत दिनों बाद आई? तू तो इस शहर में दो साल से है न?"

मैंने अपराधी की तरह धीरे से सिर हिला दिया।

"नम्मू से मुझे तेरी खबर मिल जाया करती थी," वे बोलीं, "मैंने उससे कहलाया भी था कि हो सके तो थोड़ा-सा वक्त कमनसीबों के लिए भी निकाल लिया करें। पता नहीं उसने···"

"बताया था," मैंने जल्दी से उनका जुमला छीनकर पूरा किया, "शम्मी आपा, दरअसल मैं इतना उलझा हुआ रहता हूं कि क्या कहूं। तीन-तीन काम अपनी जान को एक-साथ ले रखे हैं—पढ़ता हूं, पढ़ाता भी हूं, फिर अखबार में

काम करता हूं। मालूम है, किस तरह ? सुबह जल्दी उठकर कालेज भागना, बारह से पांच तक एक स्कूल में पढ़ाना, फिर सात बजे शाम से लेकर एक बजे रात तक प्रेस की माथा-पच्ची । सोचता हूं प्रेस का काम अब छोड़ दूं, वरना…"

"दुल्हन कहां है ? अपने मायके न ?" आपा बोलीं ।

"हां।"

"यहां उसे अपने साथ क्यों नहीं रखता ?"

"कहां रखूं ?" मैं बोला, "मेरा कोई ठीक भी है । आज यहां हूं, ठीक है। कल अचानक यहां से जाना पड़ सकता है। उसे कहां लादे-लादे फिरूं ? सरकारी नौकरी के लिए मैंने दो-एक इंटरव्यू दिए हैं। एकाध जगह तय भी हो गया है। अब जब भी आर्डर्स आ जाएं…

"कहां जाना होगा ?"

"कहीं भी । किसी भी शहर में…"

शम्मी आपा ने एक गहरी सांस ली और दो-एक पल को चुप हो गईं । फिर बोलीं, "नम्मू कह रहे थे कि पढ़ाई खतम कर तू अपने गांव लौट जाएगा । मैंने कहा, घर लौटकर क्या करेगा । जो लोग आगे बढ़ना और तरक्की करना चाहते हैं वे गांव-घर से बंधे नहीं रहते ।"

हमारे कस्बे को शम्मी आपा गांव कहती थीं । दो साल पहले तक जब मैं खुद वहां रहता था मुझे वह छोटा-मोटा शहर लगता था । जिस जगह की आबादी चालीस-पचास हजार के आस-पास हो, जहां रियासती जमाने का शानदार महल खड़ा हो, साफ-सुथरी, चौड़ी-चौड़ी कोलतार की सड़कें हों, राहों में ट्यूब-लाइट्स की कतारें खड़ी हों, एक-दो नहीं, चार-चार पिक्चर हाउस हों और अंग्रेजी राज में बने हुए सिविल लाइंस का साहबी इलाका हो, उसे कस्बा भी न मानकर गांव कहना शम्मी आपा की जिद और ज्यादती दोनों थी। जब वे हमारे कस्बे में रहती थीं तब भी मैं उनसे इसी बात पर लड़ा करता था। वे शहर में पैदा हुई थीं और खालसा की रहने वाली थीं । मैं रियासती शानो-शौकत और ताम-झाम का चौंधा उनकी आंखों में फेंका करता था । मैं कहता, मालूम है, यह रियासत कितनी बड़ी थी ? इतनी…। इसकी सालाना आमदनी कितनी थी, पता है ? इतनी…। पता है, इसके राजा, महाराजा क्यों कहलाते थे ? इसलिए…। बताता कि इतिहास-प्रसिद्ध किस वंश से इस राजवंश की परंपरा चली आ रही है और क्यों उन्हें इक्कीस तोपों की सलामी दी जाती थी…।

"कितनी अजीब बात है," शम्मी आपा अचानक बोलीं कि, "मैंने आज तक तेरी दुल्हन को नहीं देखा । भैया, क्या यह नहीं हो सकता कि किसी दिन

उसे यहीं लाकर मुझसे मिला दे। देखूं तो सही, वह कैसी लगती है। तुझे जंचती भी है या नहीं।"

"अगर जंचती हुई नहीं लगी तो क्या करोगी ?" मैं हंसने लगा।

"वाह, लगेगी क्यों नहीं। तूने तो देख-सुनकर शादी की है, नहीं ?"

"शायद।"

"शायद यानी ?"

"शायद यानी शायद," मैंने हंसकर कहा। फिर थोड़ी संजीदगी से कहने लगा, "शायद यों आपा, कि शादी तीन तरह की होती है—एक प्यार के उफान और जोश में हुई, दूसरी देख-सुनकर या हिसाब-किताब के साथ की हुई और तीसरी जुए की बाजी की तरह—जीती या हारी हुई। बदकिस्मती से मेरी शादी इनमें से किसी में नहीं आती। लवमैरिज वह थी नहीं, देखने-सुनने की बात में सिर्फ इतनी सचाई है कि मैं उसे शादी के पहले भी जानता था और जहां तक जुए की बाजी का सवाल है, कम-से-कम अभी तक तो मुझे पता नहीं कि मैं जीता हूं या हारा हूं। पिता के बड़े अरमान थे, मां बहुत रोती थी, मैंने शादी की अहमियत के बारे में कभी सोचा नहीं था और अच्छा लड़का भी बने रहना चाहता था, चुनांचे मैंने अपने को सौंप दिया, बस···

"नम्मू दौरे पर हैं ?"

"हां दौरे पर," आपा बोलीं, "इस कमनसीब की नौकरी ही ऐसी है। काश, मेरा कहना मानकर उसने कुछ पढ़-लिख लिया होता तो आज यह नौबत नहीं आती। अब जिंदगी-भर कुत्ता-घसीटी में पड़े रहो···झींकने से क्या बनने-बिगड़नेवाला है ?"

शम्मी आपा का इकलौता बेटा नम्मू मिडिल स्कूल से आगे नहीं बढ़ पाया। साल-दो साल आवारागर्दी करने के बाद इधर वह एक सिलसिले से लग गया है। किसी फिल्म डिस्ट्रीब्यूटर्स कंपनी में वह एजेंट है और फिल्मों की पेटियां लेकर आस-पास के छोटे-मोटे शहरों के सिनेमाओं में जाया करता है। मैं जानता हूं कि शम्मी आपा ने चुप भले लगा ली हो, लेकिन अपने बेटे के पेशे से वह आज भी समझौता नहीं कर पाई हैं। शहर के एक अच्छे खासे अफसर की बेटी और एक वकील की बीवी शम्मी आपा को नम्मू का पेशा शुरू से जलालत और उचक्केपन का लगता रहा है। शायद इसीलिए नम्मू की हर छोटी-बड़ी हरकत को वे उसके पेशे से जोड़ देती हैं, चाहे वह छोटे साहब की आवारागर्दी हो, शराबनोशी हो या रातों को गायब रहकर उसका बीवी पर सितम तोड़ना हो। मैं शम्मी आपा को जानता हूं। वे उन लोगों में से हैं जो

हर बार गलती करते हैं, शायद इसीलिए अपनी हर गलती के बोझ से घबराकर दूसरों का कंधा तलाश किया करते हैं।

"खुद मुझे भी कई दिनों तक पता नहीं था। नम्मू ने तार पाने पर भी हफ्ते-भर तक मुझे नहीं बताया था। देखो तो सही, बदनसीबी इसे कहते हैं। इधर नम्मू के उबटना लग रहा था और ठीक रतजगे के दिन उसके अब्बा की मौत का तार आता है…"

फिर रुककर शम्मी आपा बोलीं, "जब तक शादी नहीं हो गई किसी ने मुझे पता चलने नहीं दिया। भाईजान ने भी नहीं। नम्मू को चुपचाप रोते देखकर मैंने एक-दो बार पूछा भी था, लेकिन वह टाल गया। कह दिया, कुछ नहीं अब्बा की याद आती है। बताओ, छिपाकर क्या हो गया? ये लोग शायद सोचते थे कि दुख के मारे मैं कुछ कर-करा लूंगी। अरे, जिसे आधी जिंदगी नहीं देखा और जिसके लौटने की उम्मीद ही न हो, उसका मेरे लिए मरना-न मरना क्या? वो तो रस्मन चूड़ियां तोड़ डाली हैं।"

बात एक हद तक सच थी। शम्मी आपा सुहागन बेवा का जीवन ढो रही थीं। शादी के बाद उन्होंने सुख नहीं पाया। जब तक वकील साहब उन्हें छोड़कर नहीं गए थे, दोनों एक-दूसरे की बराबर शिकायत करते रहे थे। अक्सर महीने-पखवाड़े में किसी-न-किसी बात पर झगड़कर शम्मी आपा मायके आ बैठती थीं। पहले यह कभी-कभी होता था, बाद में वह रोज-रोज की बात हो गई। यह बार-बार मायके आने और समझा-बुझाकर पहुंचाए जाने का सिलसिला इतना चला था कि दोनों को पति-पत्नी के रूप में जोड़नेवाले बीच के नाजुक धागे में ढेर-सी गठानें पड़ गई थीं।

जब पाकिस्तान की भगदड़ मची थी और वकील साहब ने भी जाने की तैयारियां चुपके-चुपके कीं तो शम्मी आपा साफ यह कहकर मायके आ गई थीं कि चाहे जो हो जाए, अपने तमाम रिश्तेदारों को छोड़कर अजनबी देश में मरने के लिए वह नहीं जाएंगी। तब सभी ने समझाया था—जैसा भी हो, है तो पसली का जोड़ा। रोजे-हश्र में जिसके दामन से लगकर खुदा के हुजूर में पेश होना है, उससे मुंह मोड़कर आखिर क्या बनेगा! लेकिन शम्मी आपा अपनी जिद लिए बैठी रही थीं और वकील साहब उनकी या नम्मू की परवाह किए बिना, आखिर अकेले ही पाकिस्तान चले गए।

बहुत दिनों बाद चिट्ठियां आनी शुरू हुई थीं। पहले खैरियत की, फिर छोटे-मोटे हेल-मेल की और बाद में इस आशय की कि भाई-भाभी और दीगर लोगों के रहते हुए भी वकील साहब बहुत अकेलापन महसूस करते हैं, हर घड़ी नम्मू की याद आती है। कम-अज-कम अब शम्मी आपा चली आएं। उन्होंने उन्हें माफ कर दिया है।

सी भी खत का यहां से कोई जवाब नहीं गया था । रात आने पर दो-
न उसे लेकर शम्मी आपा कोने-अंतरों और अंधेरे में बैठतीं, बेआवाज
चुपचाप रोतीं फिर उसे तह कर कपड़ों के उस अम्बार में रख देतीं, जिनमें
पत्ते और जालियां काढ़कर वह अपना और नम्मू का गुजर-बसर कर रही
।

चार साल बाद वकील साहब महीने-भर के लिए वापस आए थे, लेकिन
म्मी आपा के मायके या अपनी ससुराल में वे नहीं रुके । तब भी उनके एक
ाई अपना बड़ा-सा परिवार लिए वहीं रह रहे थे । पाकिस्तान से आने की
खबर सुनकर कई दिनों तक शम्मी आपा तथा मायके वालों ने उनका रास्ता
देखा था, लेकिन घर आने की बात दूर वह उस मुहल्ले से गुजरे तक नहीं, सिर्फ
शम्मी आपा को खबर भेज दी थी कि मिलना चाहें तो वे चली आएं । उस
पर भी वावेला मचा था, मायकेवालों ने बड़ा विरोध किया था, पर आखिर में
शम्मी आपा ने बुरका उठाया और किसी को साथ लिए बिना, दिन को अकेली
ही मिलने चली गईं थीं । जब तक वकील यहां रहे, शम्मी आपा नियमित
रूप से जाकर मिल आती थीं । लौटने के दिन उनसे फिर चलने का आग्रह
किया गया तो शम्मी आपा जवाब न दे सकीं, बस गर्दन डालकर चुपचाप रोने
लगी थीं—पहले उनके सामने, फिर कोने-अंतरों और अंधेरे में बैठकर । और
वकील साहब उस बार भी अकेले ही वापस हुए थे ।

पाकिस्तान पहुंचने के बाद शम्मी आपा के नाम एक बड़ी दर्दभरी चिट्ठी
आई थी । लिखा था कि वे बड़ी उम्मीदें लेकर आए थे, लेकिन शम्मी पत्थर-
दिल औरत है, उसने उन्हें जीते-जी बेटे से छुड़ा रखा है, खैर, अब तो किसी
तरह सब्र करके उन्होंने भी यह समझ लिया है कि दोनों एक-दूसरे के लिए
मर गए ।

उस खत से शम्मी आपा के सारे बंद टूट गए, रहा-सहा धीरज जाता रहा
और पहली बार वह सब लोगों की मर्जी के खिलाफ उठ खड़ी हुई थीं । उन्होंने
मायके वालों से झगड़ा कर लिया और साफ-साफ कहकर निकल गई थीं कि
चाहे जो हो वह अपने शौहर के पास पाकिस्तान चली जाएंगी ।

जब जाने की आधी तैयारियां हो चुकी थीं तो उनके सामने एक नय
रहस्य खोला गया कि वकील साहब ने वहां दूसरी शादी कर रखी है । शम्
क्या उसकी बांदी बनने के लिए जाना चाहती है ?

कुछ देर हतप्रभ देखते और सिर्फ देखते रहने के बाद, शम्मी आपा चिल
कर रोई थीं । वह बेवकूफ थीं कि लोगों के कहने-सुनने में आकर उस ह
को पहुंच गईं, लेकिन अब कुछ भी हो जाए वह किसी की बात नहीं
की । वह बांदी बनकर ही सही, बाकी जिंदगी अपने शौहर की दहलीज

गुजार देंगी। लेकिन आवेश समाप्त होने के बाद उन्होंने उस बात पर और गहराई से सोचा था। दो-तीन रातें ठीक से नहीं सो पाईं और अंत में आगे की तैयारियां रुक गई थीं। अगर सचमुच वकील साहब ने शम्मी आपा को अपने घर पर पांव धरने न दिया तो परदेश में उनका क्या होगा?…

मैंने शम्मी आपा को एक बार फिर गौर से देखा—कहां लगता था कि वे चालीस की हैं? कौन कह सकता था कि उनका एक जवान बेटा है, जिसके लिए वह दो-एक माह हुए बहू भी ले आई हैं? यों उनके चेहरे पर चाहे जितने उदास साये हों, शरीर काम करते रहने से बराबर स्वस्थ रहा आया है।

नम्मू जब छोटा था और पहली बार वह अकेली पड़ गई थीं तब भी वे सुबह से रात देर तक कशीदाकारी किया करती थीं और आज जब नम्मू जवान होकर नौकरी करने लगा है और घर में महीने के महीने पैसे आते हैं, तो भी सारे मुहल्ले-पड़ोस के कपड़े इकट्ठे होते हैं और वह घंटों आंखें गड़ाए झुकी रहती हैं।

वह चौंक न जाएं, इस तरह मैंने धीरे से कहा, "शम्मी आपा, एक बात पूछूं? मुझसे अपनी कलाई छिपाकर क्या…" कहते-कहते आगे मैं स्वयं रुक गया।

थोड़ी देर शम्मी आपा मेरी ओर टकटकी बांधे देखती रहीं, फिर अचानक भीग गई बरौनियों को कई बार डालकर बोलीं, "छिपाकर कहां जाऊंगी? मुमकिन है गुनाहगार होने का लिहाज हो। भैया, मेरे ऐसे नसीब कहां कि अपने शौहर का कंधा पाकर कब्रिस्तान पहुंचूं?"

—शम्मी बेगम!

तभी सामने वाली खिड़की से एक आवाज भीतर आई और हम लोगों के देखते-देखते खिड़की के फ्रेम के बीच एक आकृति आकर ठहर गई। कुरते में उभरा हुआ अजीब चेहरा, अधपके बाल और खिचड़ी दाढ़ी। वह जैसे निर्भीक और बेबाक होकर आपा को घूरे जा रहा था, उससे मुझे डर-सा लगा, लेकिन आपा ने कोई असर नहीं लिया। आवाज सुनकर उन्होंने सिर्फ एक बार सिर उठाया था, फिर गर्दन झुकाकर काम में यों लग गईं जैसे खिड़की पर कोई आदमी न हो, हवा हो—आएगी और खिड़की से एक-दो झोंके फेंककर चली जाएगी।

कुछ पल और बीते, लेकिन शम्मी आपा ने सिर नहीं उठाया। खिड़की के पास जमे हुए व्यक्ति की उपस्थिति बिलकुल भुलाकर वे चुपचाप अपना काम करती रहीं। जब खिड़की का फ्रेम खाली हो गया और वह चला गया तो

मैंने पूछा, "यह आदमी कौन था, शम्मी आपा ?"

"पिछली बार तुम कब आए थे ?"

"दो बरस हुए···"

तभी, शम्मी आपा धीमे से हंसकर बोलीं, "शायद तुम भूल गए। याद है पिछली बार मैंने तुम्हें बताया था कि एक आदमी मेरी खिड़की के पास रोज सुबह-शाम आकर खड़ा हो जाता है और सारे मुहल्ले को सुना-सुनाकर कहता है, मैं शम्मी बेगम से निकाह करूंगा ?"

"हां···हां, नारमा हाफिज गया यही है ?"

जरा कौतुक से मुस्कुराकर शम्मी आपा ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया और बोलीं, "पहले मैं बहुत चिढ़ती थी। इसे देखते ही मेरे तन-बदन में आग लग जाती और मैं अनाप-शनाप गालियां तक बक जाती थी। एक बार भाई-जान भी बुरी तरह बिगड़ गए। नम्मू ने उसे बेहद फटकारा कि अगर उसने अपनी हरकत बंद नहीं की तो किसी दिन उसकी टांगें तोड़कर वह फेंक देगा। उसका असर दो-एक दिन तो रहा, लेकिन उसने आना बंद नहीं किया और अब इस पर किसी का ध्यान नहीं जाता। पहले बुरा लगता था, अब आदत हो गई है। पहले मैं गालियां बक देती थी, अब चुप रहकर टाल जाती हूं।"

"मुझे तो कुछ पागल लगता है।"

"कहते तो सब यही हैं, लेकिन शायद है नहीं। सुना है कि अपनी बीवी के मरने के बाद यह ऐसा हो गया। कोई आल-औलाद तो है नहीं और उम्र भी नहीं रही, शायद बीच के लोगों का यही हाल हो जाता हो···

शायद दो माह बीत गए थे। इस बीच शम्मी आपा की याद भी आई और अपना वादा भी, लेकिन हर बार ये दलीलें रखकर टालता गया कि अखबार-नवीसी करना और बड़े शहर में रहकर रिश्तेदारी निभाना साथ-साथ नहीं चल सकता। घंटों खटने के बाद भला किसमें साहस है कि तीन मील दूर के मुहल्ले में सिर्फ किसी से मिलने के लिए जाए ? फिर झूठ नहीं कहूंगा, मन में दबी हुई यह बात भी थी कि शम्मी आपा कौन सगी हैं ? ससुराली रिश्ता है और वह भी इतनी दूर का कि मेरी पत्नी तक ज्यादा परवाह नहीं करती।

लेकिन एक इतवार को मेरे मकान की तलाश करता नम्मू स्वयं आ पहुंचा। कोई विशेष बात नहीं की। उदास लगा। केवल इतनी खबर देने आया था कि शम्मी आपा ने मुझे बुलवाया है, किसी तरह थोड़ा-सा समय निकालकर मिल सकूं तो अच्छा हो।

पहुंचने पर देखा कि दो माह बाद भी सब कुछ वैसा ही है। कहीं कोई

अंतर नहीं। दरवाजे पर पड़ा वही छींट का परदा, जिसमें क्रोशिये के काम वाली सफेद जालियां झूल रही थीं, कोने में पड़ी वही बिना हत्थे वाली कुरसी, चटायी-बिछा दालान, खुली खिड़की और संयोग से वही उस दिन वाली साड़ी में, कपड़ों पर वैसी ही झुकी शम्मी आपा; अंतर कहीं था तो सिर्फ उनके चेहरे पर, जो पिछली दफा से ज्यादा गंभीर और उदास था।

मैं जब पहुंचा तो नम्मू घर पर ही था, लेकिन थोड़ी देर बाद वह बाहर निकल गया। शायद जान-बूझकर।

औपचारिक बातों के बाद देर तक हम लोग चुप बैठे रहे। इस बीच शम्मी आपा की दुल्हन पहली बार मेरे सामने चाय लेकर आई। नम्मू और मेरी उम्र में एक-दो बरस से अधिक का अंतर नहीं था, लेकिन रिश्ते के नाते नम्मू की दुल्हन ने घूंघट खींचकर मुझे सलाम किया।

"तुम्हें न बुलाती," अंत में जैसे मौका पाकर शम्मी आपा धीरे से बोलीं, "लेकिन मुझे लगा, तुम इधर का रास्ता भूल गए। तुम्हें शायद मालूम न हो, नम्मू कई दिनों से मुझसे लड़ रहा है। अभी ब्याह हुए छह महीने भी नहीं हुए और मैं उसे अब फूटी आंखों नहीं सुहाती।"

मैं क्या कहूं, कुछ नहीं सूझा। रुक-रुककर शम्मी आपा और भी बहुत-सी बातें कहती रहीं। छोटी-बड़ी सभी घटनाओं का उल्लेख किया और आंसू पोंछे। जिन मुश्किलों से जूझकर शम्मी आपा ने नम्मू को जवान किया, उसे समझे बिना उल्टे सारा दोष वह उन पर डालता है कि उन्हीं की वजह से वह किसी फिल्म-डिस्ट्रीब्यूटर की नौकरी में सड़ रहा है। शम्मी आपा ने ही सोच-समझकर कदम उठाया होता तो ये दिन क्यों देखने पड़ते ?

सारी बातें मैंने सुनीं, लेकिन सोच कुछ और रहा था—शायद नम्मू के पक्ष की बात, शायद शम्मी आपा के भाग्य की बात या शायद उनकी बहू की बात। जब ठिकाने से कुछ नहीं कहा गया तो मैंने विषय ही बदल दिया और नारमा हाफिज की बात करने लगा।

जाने क्यों, अचानक नारमा हाफिज की बात सुनकर शम्मी आपा ने मुझे संदेह-भरी आंखों से घूरा और बोलीं, "क्या नम्मू ने तुम्हें कुछ बताया है ?"

"नहीं। किस बारे में ?"

प्रश्न को बिलकुल टालती हुई शम्मी आपा ने कहा, "इधर महीने-डेढ़ महीने से नारमा हाफिज नहीं आते।"

बस, सारी बातों को जैसे वहीं चुक जाना था। प्रयत्न करने पर भी और फिर कोई सिलसिला नहीं निकला और अंत में एकाएक पड़ गए मौन का लाभ लेकर मैं वहां से उठ गया।

रात के दो बजे होंगे। मैं प्रेस में था। मशीनमैन को आखिरी हिदायत देकर उठने ही वाला था कि किसी की परवाह किए या पूछे-ताछे बिना, नम्मू बड़-बड़ाता हुआ घुस आया। अजीब उखड़ा-सा रंग, मुर्दनी लिए हुए चेहरे और परेशान-सी आंखों को देखकर लगा कि कहीं कोई अप्रिय बात न हो।

पिछली शाम उससे रास्ते में भेंट हुई थी। दो क्षण रुककर बातें भी हुई थीं। पता लगा था कि उसकी दुल्हन मायके चली गई है और वह उसी रात की ट्रेन से दौरे पर बाहर जा रहा है।

कुछ भांपकर भी मैंने जरा अनजाने स्वर में पूछा, "तुम दौरे पर नहीं गए?"

"गया था," बात जल्दी से समाप्त कर देने के ढंग पर नम्मू ने जवाब दिया, "एक काम की वजह से अभी लौटा हूं।"

फिर एक-दो बार अपने आस-पास सशंकित नजर डाल, वह धीरे से बोला, "थोड़ी देर के लिए मेरे साथ घर चलिए।"

और कुछ कहने-सुनने की जरूरत न थी, सो चुपचाप मैं साथ हो लिया। प्रेस से मम्मी आपा का घर दूर पर नहीं था, लेकिन अपने थके होने की बात कहकर नम्मू ने आग्रहपूर्वक एक रिक्शा रुकवा लिया। दोनों बैठे, लेकिन सारे रास्ते कोई बात नहीं हुई।

कोई आधे घंटे बाद एक नयी और अपरिचित गली पर आकर रिक्शा रुका। रिक्शेवाले को पैसे दिए, विदा किया। कुछ दूर पैदल चलने के बाद एक मकान के सामने अंधेरे में सहसा नम्मू ने मुझे रोक लिया।

वह सारा रहस्य मुझे कुछ उबाए दे रहा था। झल्लाकर मैंने कहा, "तुम कुछ कहते क्यों नहीं, क्या बात है?"

मेरी बात अनसुनी कर नम्मू बोला, "अम्मी आपसे और कई लोगों से मेरी शिकायत करती हैं और आप सभी लोग उन्हें चुपचाप मान लेते हैं। सभी सोचते होंगे कि घर में जो घुटन का माहौल बन गया है, वह मेरी या मेरी बीवी की वजह से होगा। मैंने सोचा कि क्यों न आपको अपनी आंखों से कारण दिखा दूं।"

मैंने सशंकित आंख अपने चारों ओर डाली तो अकारण डर-सा लगा। समूचे मुहल्ले में सन्नाटा पड़ गया था। किसी की आवा-जाही, कोई स्वर-आहट नहीं। ऐसे में चोरों की तरह, अंधेरे में खड़े रहकर, इतनी रात गए किसी मकान की ओर ताकने में बड़ी ग्लानि हो रही थी।

अचानक बाईं ओर के एक मकान से दरवाजा खुलने की आवाज आई।

क्षण-भर बाद कोई उनींदा-सा निकला और इधर-उधर देखे बिना, सामने की नाली पर आ बैठा। बगलवाले मकान में कोई जोर-जोर से खांसने लगा, बरामदे का स्विच ऑन हुआ और टीन की पट्टियोंवाले जंगले से कटकर रोशनी की जालियां अंधेरी गली में लोटने लगीं। तभी नम्मू ने एकाएक हाथ पकड़कर सामने की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। नारमा हाफिज के मकान का सामनेवाला दरवाजा हालांकि बंद था, लेकिन उसके पल्लों से सटी एक आकृति वहां ठिठकी हुई खड़ी थी।

कुछ देर हम लोग उसी ओर देखते खड़े रहे। फिर इससे पहले कि मैं नम्मू ने कुछ कहूं, उसने अपने टार्च की रोशनी उधर ही फेंक दी। रोशनी के पड़ते ही वह आकृति हड़बड़ाई और अपनी चौंधियाई आंखों पर हथेली की आड़ लेकर जल्दी-जल्दी सीढ़ियां उतरने लगी।

लगा, जैसे सैकड़ों बड़े-बड़े सितारे एकसाथ टूटें और आंखें झकझक होकर रह जाएं। मुझे बिल्कुल यकीन नहीं हुआ कि नारमा हाफिज की दहलीज से उतनी रात गए शम्मी आपा उतर रही हैं△

एक पागल आदमी

वह तो वक्त-वक्त की बात है, वर्ना मतीश बाबू क्या डेढ़ सौ रुपयों की मास्टरी के लिए रह गए थे ?

मैंने खोजती-सी आंखों से उनकी सत्रह साल पुरानी तस्वीर की ओर देखा—जो उनके यौवन की थी और उस जमाने का रक्त उनकी गुलाबी नसों में जैसे फूटा पड़ता था। तस्वीर में वह काला गाउन पहने और हाथ में बी० ए० की डिग्री लिए खड़े थे और चेहरे-मोहरे तथा सेहत को एक नजर देखकर ही लगता था कि वह सचमुच सुंदर रहे होंगे ! वह दप्-दप् करता तेजोमय चेहरा, होंठों की निष्कलुष मुस्कान और आत्मविश्वास से चमकती हुई आंखें…

समय और उम्र आदमी को इतनी दूर तक बदल सकते हैं, इसका एहसास मुझे नहीं था लेकिन आज जैसे बिलकुल उदास मन से उस अनुभव को सहेज लेना पड़ा।

मतीश बाबू अपनी पुरानी तस्वीर हाथों में लिये मुझे दिखा रहे थे। घड़ी-घड़ी खुद उनकी निगाह उधर लौट जाती थी और मैं एक-एक नजर दोनों पर डालकर उस अंतराल को देख रहा था। सचमुच, उन्हें कौन पहचानता ?

आदमी को देखकर भी क्या कभी खंडहर की याद आती है ? कौन कह सकता है कि कोटरों में धंसी छोटी-छोटी निस्तेज आंखों, झुलसे रंग, गिरी हुई सेहत, किंचित् झुकी पीठ और वक्त से पहले बुढ़ापा झेलने वाले मतीश बाबू पहले ऐसे रहे होंगे !

अभी कुछ दिनों पहले बिलकुल अचानक उनसे परिचय हो गया था। यों भी उस जैसे छोटे कस्बे में कौन किससे अपरिचित रह सकता था ! फिर मनीश बाबू की तो बात ही और थी !

पेशे के लिहाज से निहायत गैर-मौज़ूं किस्म की पोशाक, चौंकाने वाली हुलिया, अजीव-अजीव शगल, फिलासफरों जैसा स्वभाव और अपने बेतहाशा सिगरेट पीने के कारण वह सारे कस्बे में जाने जाते थे। स्कूल की छुट्टी के दिनों दिन-दिन-भर वह सड़कों में भटकते और कस्बे के इकलौते चायघर में इधर-उधर से बीसों बार चाय पीने के लिए आते लेकिन कभी किसी से दोस्ती-यारी की हो, लोगों को साथ लेकर घूमे-भटके हों—यह कहना कठिन था। लोग मिलते तो अलैक-सलैक के बाद गर्दन झुकाए वह खुद आगे बढ़ जाते और प्रायः सारे समय सिगरेट होती, एकाध शगल होता, वह होते और होती उनकी अपनी अलग दुनिया !

अपने इसी स्वभाव के कारण स्कूल के मास्टरों तथा बाहर के कुछ लोगों के बीच उनके बारे में अजीब धारणा बना ली गई थी। भला कहीं अच्छे-भले दिमाग का आदमी ऐसा होता है ? यह अलग-अलग और नालियों के किनारे-किनारे चलना, चलते-चलते बिजली के खंभों को बच्चों की तरह छूना, कहीं ठहरकर किसी गाय-बैल को घूरने लगना, अपने-आप बातें करते हुए किसी पुलिया पर बैठे रहना अथवा दिन-रात एकाध कोई शगल लिए घूमते फिरना —यह सब क्या है ? जिन दिनों मुझसे परिचय हुआ वह बांसुरी लेकर भटका करते थे।

शायद अंत तक मैं भी यही धारणा बनाए उनसे छिटका रहता और उन्हें निकट से देखने का कभी मौका ही नहीं मिलता यदि उनकी उस छोटी-सी पुस्तिका ने मुझे चौंकाया न होता।

हुआ यह कि मैं उस दिन चायघर में बैठा हुआ था। रोज की तरह लोग जुटे थे, कप-सॉसर की खनक और बेयरे की आवाज के साथ ताजा अखबारों के पन्ने पलटे जा रहे थे और स्थानीय राजनीतिक दांव-पेच की बातों के साथ अंतर्राष्ट्रीय मंच तक की चर्चा हो रही थी। इसी बीच चाय-घर के मालिक को पता नहीं क्या हुआ कि ग्राहकों को छोड़कर सीधे मेरे पास आया, अपनी जेब से एक छोटी-सी किताब निकालकर मेरे सामने रख दी और बोला, "यह देखिए, मनीश बाबू ने लिखी है।"

नीय-सी लगी। कुछ दिनों पहले बंगला के लेखक नारायण सान्याल वहां जरूर रहते थे लेकिन वह दंडकारण्य योजना की नौकरी थी। इधर उनकी भी बदली हो गई।

"कौन मतीश ?" मैंने अपने अनुमान को पक्का करने के लिए पूछा।

"यही," उसने कहा, "अपने यही मतीश बाबू, जो थोड़ी देर पहले यहां चाय पी रहे थे।"

झूठ नहीं कहूंगा, आश्चर्य और प्रसन्नता ने मुझे हतप्रभ कर दिया। जिज्ञासा और उत्सुकतावश सारी किताब वहीं उलट-पुलट डाली। भाषा अंग्रेजी थी और विषय था मनोविज्ञान। किताब खुद अपने पैसों से छपायी थी—पॉकेट डायरी की साइज में करीब सौ-सवा सौ पृष्ठ···बहरहाल, वही किताब परिचय का माध्यम बनी।

ऊपर से ऐसे ठंडे और बेजान दिखने वाले आदमी में मिलने पर ऐसी ललक-झलक होगी, यह मैंने कभी नहीं सोचा था। मिलते ही जैसे सौ जान से बिछने के लिए अधीर हो गए। तुरंत ले जाकर चाय पिलायी और मुझे लिए-लिए घंटों भटकते रहे। अकेली उस दिन की बातचीत से विश्वास हो गया कि दूर से किसी के बारे में राय बना लेना कभी सही नहीं होता !

फिर अनेक अवसर आए। अक्सर वह शाम को किसी न किसी सड़क, राह की पुलिया पर या चायघर में मिल जाते और चाय के एक प्याले के साथ (चाहे उसके पहले कितनी ही क्यों न पी हो) बात शुरू होती। उनकी वही हुलिया—सिर पर छोटे-छोटे अधपके बाल, किंचित् झुकी हुई पीठ, शरीर पर कुरता-धोती और कमर अथवा जेब में खुंसी हुई बांसुरी।

परिचय के उन दिनों मेरा ध्यान बराबर एक बात पर गया कि बात करते-करते वह अक्सर बहक जाते। मसलन, चर्चा हो रही है कथा-साहित्य की, अचानक वह जैनेन्द्र, अज्ञेय से आइन्स्टीन, रसेल अथवा विज्ञान पर कूद जाएंगे और घंटों उसी बात को खींचते चले जाएंगे। मैं किसी नयी कविता की पंक्तियां दुहरा रहा हूं और वह कला की उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट करना शुरू कर देंगे या कोई अच्छा-सा शेर पढ़िये, वह शास्त्रीय संगीत की बात करने लगेंगे। फिर जब चर्चा समाप्त होगी तो एक सांस भरकर कहेंगे, "गया ? सब छूट गया ? अब तो स्कूल-मास्टरी में सड़ रहे हैं !"

"मतीश बाबू, यह बांसुरी का शौक आपको कब से है ?" एक दिन साहस करके मैंने पूछ लिया। दरअसल, उनकी बांसुरी और उसे सीखने के उनके जुनून को लेकर लोगों में गाहे-ब-गाहे मजाक चला करते। इधर बांसुरी उनके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग बन गई थी। जहां जाते उनके साथ-साथ

चलती। यहां तक कि स्कूल में पढ़ाई के दौरान भी उनकी जेब से वह अलग न होती।

"अरे यह ?" मतीश बाबू ने बांसुरी निकालकर हाथ में रख ली और मुझे दिखाकर बोले, "अभी हाल में शुरू किया है। बात यह है कि अब तो पढ़ने-लिखने में भी जी नहीं लगता। सोचा, बैठे-बैठे क्या करेंगे; लाओ, बांसुरी सीख लें···सुनोगे !"

सुना था कि वह बांसुरी बाहर से पचपन रुपयों में मंगायी गई है। खूब उलट-पुलटकर उसे देखा लेकिन बांस के जरा-से टुकड़े के लिए उतने रुपए खर्च करने की बात कभी समझ में न आई। कुछ पहले उनकी ऐसी ही धुन हारमोनियम के लिए थी। उसमें भी सौ-सवा सौ खर्च किए और कई महीने उसी के पीछे पड़े रहे। बाद में पता नहीं क्या हुआ कि ऊबकर वह छोड़-छाड़ दिया और कुछ दिनों में हारमोनियम भी उनके पास से उठकर किसी दूसरे के घर जा पहुंचा। सोचा, इस नयी हॉबी की उम्र भी जाने कितनी होगी !

वह दिन मुझे याद है। मेरे एक मित्र बाहर से आकर एकाध हफ्ते के लिए ठहरे थे। साहित्यिक हैं और पढ़ते-लिखते हैं। शायद मतीश बाबू ने उनका नाम-धाम सुना था। परिचय हुआ तो तत्काल ही हम दोनों को अपने साथ खाने की दावत दे डाली। उनकी पत्नी मायके गई हुई हैं और वह होटल में खाते-पीते हैं, यह मैं पहले ही जानता था; अतः टालने की कोशिश की पर वह माने नहीं। कहा, "वाह, वह नहीं है तो क्या मेरे दोस्त-अहबाब घर पर ही नहीं आएंगे ? नहीं, नहीं, आप लोगों को खाने पर आना ही पड़ेगा।"

यहां बहस-मुबाहसे से काम नहीं चलेगा, सोचकर चुप रहना पड़ा।

अप्रैल के अंतिम दिन थे। हम लोग घर पर मतीश बाबू की प्रतीक्षा कर रहे थे। ग्यारह बजे की दावत दी थी, दो बज गए ! एक तो गर्मी, उस पर इतनी लंबी प्रतीक्षा—ऊबकर हम लोग घर में ही खाने जा रहे थे कि बाहर दरवाजे पर आहट हुई। निकलकर देखा कि नंगे पांव, पसीना-भरा शरीर और खुला गिरेबान लिए मनीश बाबू हमारी दहलीज पर खड़े हैं। बोले, "चलिए, सब तैयार करके आ रहा हूं।"

हम लोगों ने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा लेकिन वही रास्ते में खेद प्रकट करते हुए बोले, "देर बहुत हो गई न ? मैं तो बड़ा शर्मिन्दा हूं कि आप लोग पता नहीं क्या सोच रहे होंगे।"

इससे पहले मनीश बाबू के घर नहीं गया था। देखा, अच्छा-खासा सरकारी क्वार्टर है लेकिन लगता है जैसे महीनों से वीरान पड़ा हो। फर्नीचर के नाम पर एक स्टूल तक नहीं था। भीतर के दोनों कमरे ऐसे थे जैसे कोई मकान खाली करके चला गया हो। उनमें से एक के फर्श पर शतरंजी बिछी

थी और उसी पर धरे दो-चार वर्तनों में जैसे-तैसे खाना परोस दिया गया था। दूसरा कमरा भी लगभग खाली था, सिवाय इसके कि एक ओर नारियल की रस्सी वाली खुर्री व आरामकुर्सीनुमा खाट बिछी थी और सारे फर्श पर अधजली सिगरेटों व जली हुई तीलियों के टुकड़े बेहिसाव फैले हुए थे।

"वाइफ नहीं है तो सब कुछ ऐसे ही पड़ा है।" हम लोगों को शतरंजी पर बैठाते हुए मतीश बाबू ने हंसकर कहा, "आप लोग शुरू कीजिए न ! वह होती तो कुछ ढंग का खाना खिलाया होता। खैर···"

कहकर वह उठे, सामने की खिड़की पर रखी कागज की एक पुड़िया उठायी और उसे लाते हुए बोले, "वैसे खाना मैं बुरा नहीं बनाता, लेकिन देरी हो जाती है।" फिर पुड़िया खोलकर साग के वर्तन में यह कहते हुए कुछ घोल दिया कि मसाला छोड़ना भूल गए थे। उसी तरह उन्होंने कच्चा घी उठाया और चम्मच में लेकर उसे भी घोलने लगे। सिवाय एक-दूसरे की ओर देखकर रह जाने के हम लोगों ने कुछ नहीं कहा। शोरबे में ऊपर-ऊपर तैरते घी के सफ़ेद और अनघुले थक्कों से बच-बचाकर किसी तरह रोटियां निगलनी पड़ी थीं और दोपहर के गए हम लोग शाम को लौटे थे।

बीच में वह बड़ी देर तक अपने आरंभिक जीवन, भूलों और अनुभवों की बातें कहते रहे। सुना, कॉलेज की पढ़ाई के बाद बरसों नौकरी नहीं की। घर में अनाज का खासा बड़ा रोजगार था। उसे अपने हाथ में लेकर सात-आठ बरसों में बेहद प्रगति की और बेशुमार पैसे कमाए लेकिन कुछ ऐसी-वैसी सोहबत में पड़ गए और जितनी तेजी से पैसे आए थे उसी रफ्तार से निकल भी गए। हजारों से हाथ धुल गया। अंत में वह घर वालों तथा पत्नी को नाराज करके शहर से भी निकल भागे और इधर सात-एक बरस से ले-देकर स्कूल की नौकरी निभा रहे हैं।···

उस समय फिर लगा था कि मतीश बाबू ने सचमुच जीवन को हजार-हजार रंगों में देखा है। यों शायद विश्वास नहीं होता इसलिए मतीश बाबू अपनी सत्रह साल पुरानी तस्वीर निकाल लाए थे। उसे अपने ही हाथों में लेकर हमें दिखाते हुए वह अंत तक मुस्कराते रहे, जैसे कहते हों—क्यों, क्या झूठ कहता हूं ?

लगा, यह तो वक्त की बात है वर्ना मतीश बाबू क्या डेढ़ सौ रुपयों की मास्टरी के लिए रह गए थे ? वही मतीश बाबू जिन्होंने कभी मिनटों में हजारों का वारा-न्यारा किया था !···

"और भी तस्वीरें हैं," मतीश बाबू ने गाउन वाली तस्वीर एक ओर रखकर कहा, "लेकिन वाइफ सब कमरे बंद कर गई है।"

कहकर वह एक लमहे क लिए रुके, सामने वाले बंद कमरे की ओर देखा

और जैसे जबरन हंसकर बोले, "बात यह है कि वाइफ मेरी बड़ी सख्त है! है बड़े घर की बेटी लेकिन मेरे पल्लू से बंधकर सारे दुर्दिन देख चुकी है। और मेरा स्वभाव आप जानते हैं। एक बार वह गई तो घर के फर्नीचर, बर्तन सब चले गए। पिछली बार मायके से लौटी तो घर में एक शतरंजी के सिवाय और कुछ बाकी नहीं था। शायद इसीलिए मुझ पर विश्वास नहीं करती।"

यकीन शायद मुझे भी नहीं होता लेकिन उनकी बेपरवाही अपनी आंखों से देख चुका था। चाहे कहीं और कभी भी जाना हो, घर का दरवाजा बंद करते या ताला लगाते उन्हें कभी किसी ने नहीं देखा। जब मर्जी होती, निकल जाते और सब-कुछ जैसे का तैसा खुला छोड़ घंटों गायब रहते। इस बीच अगर किसी की फिक्र होती तो वह बांसुरी ही थी जिसने उन्हें कस्बे-भर में रुसवा कर रखा था। हालांकि दिन-रात और महीनों की कोशिश के बाद भी उसे ठीक-ठिकाने से बजाना उन्हें अंत तक नहीं आया।

गर्मी की छुट्टियां हो गई थीं और बाहर से आए सारे मास्टर अपने-अपने घर लौट रहे थे। सतीश बाबू के भी लौटने की सारी तैयारी हो चुकी थी। उनके जाने के एक दिन पहले की बात है। शाम को हम लोग टहलने के लिए दूर तक निकल गए थे। लौटते तक बुरी तरह अंधेरा हो गया। जब चायघर तक पहुंचकर अलग-अलग होने लगे तो अचानक अपने कुरते की जेब टटोलकर सतीश बाबू ने अपना हाथ बाहर निकाला और उस फोल्डिंग बांसुरी का केवल ऊपरी सिरा पकड़े हुए बोले, "अरे, देखो तो, इसका दूसरा हिस्सा जाने कहां गिर गया!"

बड़ी ढूंढ-खोज हुई। तुरंत वह साइकिल लेकर दौड़े। चायघर से लेकर तालाब तक देखा, यहां-वहां पता लगाया लेकिन मिला कुछ नहीं। उस पर मैं दुख करने लगा तो बेपरवाही से जैसे तसल्ली देते हुए बोले, "भाई, वह कहीं जाएगी नहीं। मैं जानता हूं, जिस किसी के हाथ पड़ेगी वह मुझ तक जरूर पहुंचा देगा। और सोचो न, सिर्फ उतना हिस्सा तो वैसे ही बेकार है, भला उसे अपने पास रखकर कोई क्या करेगा?"

बहरहाल रात आई। शाम से बदली और हवा में खुनकी थी शायद इसलिए भी अंधेरा और रातों की अपेक्षा अधिक गाढ़ा था। दस बजे होंगे लेकिन सारी बस्ती सुनसान पड़ गई थी। मैं इस उम्मीद पर निकला था कि शायद चायघर खुला हो तो उसके सहारे थोड़ी देर और काम हो जाए।

कस्बे की इकलौती और खास सड़क और वह भी वीरान तथा घुप्प? सड़क के दोनों ओर कतार से लगे आम के पेड़ों के कारण यहां से वहां तक का हिस्सा अमराई की तरह लगता था। उसी बियाबान अंधेरे में दूर से एक

लालटेन धीरे-धीरे खिसकती दिखाई दी। नजदीक आने पर देखा कि सड़क के किनारे व पेड़ों के आसपास कोई आदमी झुका और कुछ खोजता हुआ एक-एक कदम सरक रहा है और रोशनी के गज-भर टुकड़े के अलावा किसी दूसरी ओर उसका ध्यान नहीं है।

जब मैं पास से गुजरने लगा और उस आकृति के चेहरे पर निगाह पड़ी तो मन करुणा से भर आया और मेरे सहमे हुए डग अपने-आप तेज हो गए—वह मतीश बाबू ही थे△

धूप के टुकड़े

दोपहर में ढेर-सा सन्नाटा जाने कहां-कहां से आकर सड़क पार के पेड़ में लटक आता है और आसपास फैली झाड़ियों से एक तीर की तरह तीखी सीटी की आवाज उभरने लगती है।

रोज इस समय यही होता है।

सुबह वाली आंगन की धूप फैलती-फैलती ओलती तले आ जाती है और लकड़ी के जंगले पर चढ़ने लगती है। जब तक वह उटंग होती-होती कवेलू नहीं पहुंच जाती, सरला का नहाने का मन नहीं होता। टाइम पीस होने पर भी जाने क्यों धूप के उतार-चढ़ाव के साथ अपने को बांध लेना उसे शुरू से अच्छा लगता है।

यह मोह आज का नहीं, तब का है जब वह हाई स्कूल में पढ़ती थी और ठीक से पंद्रह की भी नहीं रही होगी। आखिरी पीरियड में उसका पढ़ने में कभी मन नहीं लगा—एक तो वह अक्सर हिसाब का पीरियड होता या फिर केमिस्ट्री के मनहूस टीचर का साथ! दिन-भर की उस कैद से छूटकर घर पहुंचने की उसे कितनी जल्दी पड़ जाती—भले ही वहां पहुंचकर बैठी ही रहे! क्लास

रूम के रोशनदान से ढलते सूरज की धूप का एक टुकड़ा फर्श पर लोट जाता था। सारे समय सरला की आंख धूप के उस टुकड़े पर लगी रहती कि कब वह सरककर उसके लगाए हुए निशान तक आ जाए और आम के पेड़ पर लटका हुआ घंटा बज उठे।

लेकिन धूप का वह टुकड़ा हमेशा ठीक वक्त का संकेत देता हो, ऐसा न तब था और न अब है। अक्सर यह होता है कि जैसे-जैसे दिन गुजरते जाते हैं; धूप आपके निशान का बंधन तोड़ती-लांघती निकल जाती है। अधिक से अधिक एक या दो दिन साथ देती है; उसके बाद धूप निशान तक आ भी जाती है मगर वक्त नहीं आता; लिहाजा अगले दिन के छल से बचने के लिए उठकर निशान बदल देना पड़ता है!

स्कूल के उस जीवन को सरला आठ बरस पीछे छोड़ आई है। तब वह पंद्रह बरस की एक बेवकूफ-सी लड़की थी। इस उम्र में ढेर सारी मूर्खता की बातें हो जाती हैं—मसलन स्कूल जाने के दौरान अक्सर सड़क पर एक लड़के का मिलन, आपस की देखा-देखी, पत्रों का आना-जाना, प्रेम-ब्रेम जरा भी न समझते हुए उस पर कई-कई पैरा लिखना, फिर एक दिन घर में किसी तरह पता लगने और पिटाई होने के बाद तमाम अफसाने का अंत!

सरला मुस्कराई और आंखें बंद करके स्मृति के पुराने और धुंधले चित्र समेटने लगी। आज कई चेहरे याद भी नहीं आते। उस लड़के का चेहरा भी जेहन में नहीं, केवल घटनाएं याद आती हैं और हर बार सरला अपनी उस मूर्खता पर हंसने लगती है। वह सब कौतुक था और ऐसी बेवकूफी शायद हर लड़की करती है। वह उम्र मूर्खता की होती है और यह उम्र उस पर यों ही हंसने की। आज सरला तेईस बरस की औरत है। एक जिम्मेदार पुलिस अफसर की गंभीर और समझदार पत्नी है और चंद हफ्तों बाद मां भी बन जाएगी···

सरला ने कंधों पर फैले बाल छुए—सूख गए थे। गोद की किताब अलग करके हाथ में ली और धूप में चिलचिलाती साजा की नर्म और गुलाबी पत्तियों को देखने लगी।

रोज इस समय यही होता है।

दोपहर में नहाने के बाद गीले या बेतरतीब बाल कंधों पर लिए सरला बरामदे में निकल आती है। कोई किताब लेकर बरामदे की आराम कुर्सी पर बैठना और दुपहरी में सने साजा पेड़ और छींद की झाड़ियों का आहिस्ता-आहिस्ता शोर चुपचाप सुनना, नशे की तरह लगता है। किताब हालांकि वह हर बार साथ ले आती है लेकिन एक-दो पन्नों से अधिक उससे पढ़ी नहीं जाती। सामने जरा-सा खटका होता है और उधर ध्यान फेंक, किताब गोद में

डाल, सरला इस या उस पेड़ को देखने लग जाती है।…

सहसा छींद की झाड़ियों के पीछे सूखे पत्तों को रौंदने की आहट आई और उत्सुकता में थोड़ी देर टंगे रहने के बाद सरला ने देखा कि चारे की तलाश में घास सूंघती फिरती एक मरझल्ली-सी गाय निकली।

आसपास कहीं चारा नहीं। मवेशियों की हड्डियां निकल आई हैं। पालने वाले अपनी ही खुराक जुटा नहीं पाते; गाय-बैलों के लिए कहां से क्या आएगा? मवेशी अक्सर दूर-दूर तक जंगलों में निकल आते हैं और आए दिन हर दो-चार दिनों में एक न एक शेर-बाघ की चपेट में आ जाता है।

'अब हमें भी एक गाय पालनी होगी।'—सोचकर सरला मुस्कराई; लेकिन इस बार शरीर में कांटे-से उग आए। दाहिने कंधे से फिसलकर चेहरे तक आए बालों को हथेली से पीछे सरकाकर उसने किताब खोल ली और उसमें दबा लिफाफा खोलकर चौथी बार पंकज का पत्र पढ़ने लगी।

यों दौरे पर जाने के बाद पंकज पत्र नहीं लिखता। दौरा होता ही कितना है—अधिक से अधिक पांच दिनों का और फिर पास-पड़ोस के देहातों में डाक-आक की सुविधा भी नहीं होती। लेकिन इस बार की बात और थी। सरला को ऐसी हालत में अकेली छोड़कर वह जाना ही नहीं चाहता था लेकिन दुर्भाग्य से पंकज के हल्के में ऐसा केस हो गया कि उसे स्वयं मौके पर पहुंचना ही पड़ा।

जाने के दूसरे-तीसरे दिन ही उस गांव से पंकज का पत्र लेकर एक आदमी आया। लिखा था :

"प्रिय सल्लो,

"हालांकि मैं यहां आ गया हूं लेकिन क्षण-भर के लिए भी अपने मन को तुम्हारी ओर से फेर नहीं पाता—बस, बार-बार यही ख्याल आता है कि जाने तुम कैसी होगी!

"जिस मामले के सिलसिले में यहां उम्मीद लिए मैं आया था उसका कोई पता नहीं लगता। शायद लगेगा भी नहीं, इसलिए आज रात रुककर कल सुबह यहां से बीस मील दूर के गांव चला जाऊंगा। पता नहीं, इस बार कब लौटना हो!

"अब तक तुम्हारी बात पर सोचा नहीं था लेकिन लग रहा है कि तुम सच कहती हो—पद-प्रतिष्ठा और अधिक पैसों के लोभ में आकर शायद मैंने अच्छा नहीं किया। जब तक यह अफसरी नहीं थी और मैं स्कूल में सौ रुपल्ली की मास्टरी करता था तब यह सब-कुछ दूर की पहाड़ी जैसा आकर्षक लगता था। आज इसके निकट आ गया हूं, तो इसकी कुरूपता और कठोरता मेरे मन को सालती है। बार-बार पीछे लौटकर देखता हूं। मेरे उस मास्टरी जीवन में

चाहे अधिक मान-सम्मान न रहा हो, भले ही पद, अधिकार या पैसों का रौब न पड़ता रहा हो मगर यह तय है कि सुकून मुझे बहुत था। झूठी मर्यादा और शान से बड़ी मन की शांति होती है। यह क्या है कि चोरी-चकारी, डाकेजनी या खून के मुजरिमों के पीछे जीवन-भर केवल गांव-गांव भटका जाए और अपना स्वयं का जीवन अभिशप्त-सा होकर रह जाए।

"जब से इस पुलिस स्टेशन के चार्ज में आया हूं, दिन में कितने घंटे हम लोगों ने इकट्ठे गुजारे हैं—कहो भला? पहले जब शहर में मां-बाप, भाई-बहन आदि के साथ रहता हुआ मास्टरी करता था तब रात-दिन की कैद और लिहाज से जी ऊब गया था। तब हम दोनों सोचा करते थे कि नये-नये ब्याह के बाद ऐसी दबी और घुटी जिंदगी जीने में कितनी कोफ्त होती है! कितना अच्छा होता कि कहीं दूर के एकांत देहात में हम दोनों अपना छोटा-सा संसार बसाकर रहते!

"शायद इसलिए भी तुम्हारी सलाह लिये बिना मैंने बाहर ही बाहर पुलिस इंस्पेक्टरी का फार्म भर दिया और एक दिन ट्रेनिंग में भी चला गया।

"यहां आकर जब चार्ज लिया उस दिन शायद मैं दुनिया का सबसे खुश-नसीब आदमी था। पहली बार मुझे लगा कि तुम समूची मेरी हो और किसी तरह का कोई अधिकार तुम पर जताये, ऐसा कोई यहां नहीं है। अपने ब्याहे जीवन में यह पहला अवसर था कि मैं तुम्हारे साथ इतने इत्मीनान और बेफिक्री के साथ हंस-बोल रहा था। बातें करते-करते न तो घर के और लोगों के सुनने की आशंका थी और न ही बंद दीवारों के भीतर की घुटन—यहां का सब कुछ हमारा अपना था। यह घर, यहां की हर छोटी-बड़ी चीज, यह तुम और तुम्हारे-मेरे बीच की कशिश। यहीं मैंने जीवन के कुछ बहुत अच्छे दिन तुम्हारे साथ गुजारे हैं, इस बात को भी नहीं भूलूंगा।

"तुम्हें ऐसी हालत में भी छोड़कर जो आना पड़ा, उससे जी बड़ा डर रहा था। एक बार तुम्हें फिर अपनी सौगंध दिलाता हूं कि उठने-बैठने और लेटे रहने के सिवाय कोई काम तुम नहीं करोगी। मैं कहे देता हूं, कहीं कुछ भी हुआ, तो उसके लिए तुम्हीं को जवाब देना पड़ेगा…!"

पत्र से आंखें हटाकर सरला ने सामने देखा, थोड़ी देर साजा की नयी-नर्म कोंपलों की ओर देखती रही, फिर आंखें मूंदकर आराम कुर्सी पर अपना सिर टेक दिया। एक बार फिर अनायास ही जिस्म में कांटे-से उग आए और दोनों कंधे थोड़े-थोड़े हिल गए। चिट्ठी को वैसे ही गोद में फैलाए वह बड़ी देर तक बैठी रही, फिर वहां से उठकर भीतर आ गई।

भीतर के पलंग पर आकर लेट जाने पर भी पिछले आंगन से संबंध बना रहता है। आंगन की ओर खुलने वाले दरवाजे का परदा जब हवा से कांपकर आहिस्ता-आहिस्ता आगे-पीछे डोलने लगता है तो हर बार हर खुलाव के साथ आधा आंगन दिखाई दे जाता है—बाथरूम की दीवार, उसके पास वाला सफेद गुलाब का पौधा और उससे जरा हटकर सीमेंट-उधड़ा टाका जहां बैठकर कुचाल बर्तन मलती है।

कुचाल की पीठ दरवाजे की ओर थी और बर्तन को पूरी ताकत से मांजने के लिए उसे बार-बार सामने झुकना-उठना पड़ता था। ऐसा करने में उसके शरीर के पिछले उभार कपड़ों में कसते और तनते थे। कुचाल ब्लाउज या पोलका नहीं पहनती। उसकी घुटनों तक ऊंची साड़ी का एक पल्ला उरोजों को ढकता हुआ बायें कंधे से पीठ के पीछे जाकर दाहिनी कमर में खुंस जाता है लेकिन तो भी लगभग सारी पीठ नंगी लगती है। धूप में चमकते उसके सांवले मांसल शरीर पर आंखें रोककर सरला ने सोचा कि वह पुरुष होती तो उसे यह सब अवश्य अच्छा लगता! कुछ देर उसे देखती रही फिर अचानक कुछ याद करके पुकारा, "कुचाल!"

टाके पर बर्तन छोड़कर राख-सने हाथ लिए कुचाल सरला के पास आ गई।

"मैं जब नहा रही थी, तो कोई आया था?"

"कौन?"

"वही आदमी, जिसने चिट्ठी लाकर दी है? जवाब लेने आने को कह गया था न?"

"हां!"

सरला अपना प्रश्न भूलकर थोड़ी देर के लिए चुप हो गई, और कुचाल की ओर एकटक देखने लगी। शक्ल-सूरत या शरीर से कुचाल नहीं लगती कि बीस-बाईस से अधिक की होगी। मां बन गई है, यह भी नहीं जान पड़ता। उसके शरीर का हर गठन अभी युवा है।

अपनी गर्दन के नीचे तकिया सरकाकर सरला ने ठीक से पांव फैलाये और सोने की तैयारी करते हुए कहा, "मेज पर साहब की चिट्ठी का जवाब रखा है। मेरी आंख लग गई और वह आदमी आया, तो उसे दे देना, अच्छा!"

सुनकर कुचाल लौटने लगी तो उसे फिर रोकते हुए सरला ने कहा, "अपनी बच्ची आज भी लेकर नहीं आई, क्यों?

परदे का एक कोना पकड़कर उसे बिला वजह अंगुली से लपेटती हुई कुचाल लज्जित हंसी हंस दी, "उसे कल से बुखार था। आज सुबह से कम है। शाम तक अच्छी रही तो कल से जरूर लाऊंगी।"

"तेरा आदमी क्या करता है, यह तो मैं पूछना ही भूल गई थी।"

इस बात के जवाब में कुचाल क्षण-भर के लिए गर्दन झुकाए खड़ी रही, फिर धीरे से बोली, "आदमी होता तो दूसरों के जूठे पर क्यों पलती ?"

उस दो टूक जवाब के रूखेपन को सोचकर सरला को क्रोध भी आया और पछताई भी कि एक नौकरानी के मुंह लगाकर उसने अच्छा नहीं किया। यही होता है, छोटी जात-औकात वालों से हमदर्दी जतलाने वालों को इसी तरह अपमान झेलना पड़ता है।

उसके बाद और कुछ पूछने का साहस सरला को नहीं हुआ। प्रकट में वह केवल हंसकर टाल गई, और कुचाल अपने काम पर लग गई।

कुचाल के जाने के बाद सरला ने लगभग घंटा-भर सोने की कोशिश की लेकिन नींद नहीं आई। किताब पढ़ने में मन नहीं लगता और अकेले चुप-चाप पड़े रहने पर बड़ी डरावनी बातें याद आती हैं। पलंग से उठकर सरला ने पानी पिया। दूसरे कमरे तक गई—कुचाल नहीं थी। अपने घर लौट गई होगी और अब दो घंटे से पहले नहीं आएगी।

अपने कमरे में लौटकर सरला ने घड़ी देखी। अभी तक केवल ढाई बजे थे। कुछ देर चुप रहने के बाद उसने मेज पर से अपना लिखा पत्र उठा लिया और लिफाफा खोलकर स्वयं पढ़ने लगी। पहले जब सरला पंकज को पत्र लिखती तो पत्र 'प्राणनाथ' से शुरू होता था लेकिन बाद में उसे यह संबोधन बड़ा वैसा-सा लगा और उसने बंद कर दिया। नाम से संबोधित करने का साहस उसे कभी नहीं हुआ, इसलिए केवल प्रिय लिखकर वह छोड़ दिया करती थी। लिखा था :

"प्रिय···

" तुम्हारा समाचार लेकर जो आदमी आया है, उसने मुझे दो-तीन घंटों की मोहलत दी है, इसलिए सोचती हूं कि अभी ही लिखकर मैं निश्चिंत हो जाऊं। एक और कारण है—जो घड़ी गुजर जाती है, उसे मैं गनीमत मानती हूं। आने वाला पल न जाने कौन-सी वेदना मुझ पर लाद दे और शायद होंठ खोलकर कुछ कहने की भी सकत न रह जाए, तो क्या होगा ? सच, मैं बहुत डरती हूं—विशेष तौर पर तब जब तुम नहीं होते और मैं इतने बड़े जंगल के बीच अकेली रहती हूं।

" यों तुम्हारे जाने से लेकर अभी तक मैं अच्छी हूं। पिछली रात जरा सिर भारी था, उससे देर में नींद आई। जब तक मैं सो नहीं गई, तुम्हारे बारे में ही सोचती रही। मैं पहले भी कहती थी और आज भी कहती हूं कि तुम्हारा यह अफसरी जीवन मुझे जरा भी पसंद नहीं। जाने कहां-कहां मारे-मारे भट-कते होगे ! जाने कैसी-कैसी मुसीबतें झेलनी पड़ती होंगी ! हर बार, जब खाने

ा कौर उठाती हूं, तो यह सोचकर हाथ रुक जाता है कि पता नहीं तुमने क्या ाया होगा या खाया भी होगा अथवा नहीं।

" तुम जिस दिन गए उसी शाम को एक नौकरानी मिल गई। यह अजीब ात है कि जब तक हम लोग नौकरानी की तलाश करते रहे कोई मिली नहीं ौर जब निराश होकर कोशिश ही छोड़ दी, तो घर बैठे मिल गई।

" कुचाल इसी गांव की है—यूं काम-आम में अच्छी है, लेकिन है जरा मुंह-ट और उसका चरित्र मुझे संदिग्ध-सा लगता है। सुनती हूं, उसके एक बच्ची ी है और बड़ी सुंदर है। कल तुम्हारा कमरा साफ करते-करते वह तुम्हारी स्वीर देखने लगी। मैं पहुंची तो चुपचाप काम में लग गई। कमरा बुहारने े बाद मुझसे अचानक पूछा, 'साहब यही हैं ?'

" 'हां, क्या बात है ?'

" 'कुछ नहीं, इन्हें पहले भी देखा है', वह बोली, 'तीन साल पहले इस गांव में अक्सर आया करते थे।'

" अवश्य कुचाल को धोखा हो गया है। तुम इस गांव में पहले आए होते तो मुझसे छिपाने की क्या बात थी, और फिर तुम यहां आओगे ही क्यों ? मैंने उससे बहस नहीं की और हंसकर चुपचाप टाल दिया।

" तुम्हारा सफेद गुलाब का पौधा रोज खिलता है। कभी-कभी चार-पांच फूल निकल आते हैं। देखकर खुशी तो होती है लेकिन टहनी से अलग करने को मन नहीं होता। उन्हें तोड़कर भी क्या होगा ? तुम होते तो मेरा जूड़ा भी सजता। अपने हाथों अपना जूड़ा सजाऊं और स्वयं को देखूं, तुम जानते हो, यह मुझसे नहीं होता !

" तुम आओगे तो हर दिन एक फूल के हिसाब से मेरा सारा जूड़ा सजाना पड़ेगा, हां···"

सरला ने फिर से घड़ी देखी—अभी केवल तीन बजे थे ! उसने पत्र फिर लिफाफे में बंद कर मेज पर रख दिया और उठ खड़ी हुई। उसे लगा कि हल्की-हल्की अलसता और नींद से उसकी पलकें भारी होने लगी हैं।

वह पलंग पर लेटकर ऊंघने लगी।

जब नींद खुली तो बाहर की धूप आंगन से सरक गई थी और किचन से कुचाल की उपस्थिति की आहट मिल रही थी। वह कब लौट आई यह सरला ने नहीं जाना। कई पल आलस्य में बदन तोड़ती वह पड़ी रही फिर धीरे से उठकर किचन में आ गई।

कुचाल सचमुच काम में लगी थी और उसकी बच्ची पास बैठी साग के

लिए कटे हुए कुंदरू फैलाकर खेल रही थी। दरवाजे पर ही रुककर सरला थोड़ी देर दोनों को देखती रही। कुचाल की बच्ची सचमुच प्यारी और बेहद सुंदर थी—गोरा गुलाबी रंग, तीखे नक्श और छल्लेदार भूरे-भूरे-से बाल !

सरला ने एक अजीब-सी कैफियत अपने भीतर महसूस की। पहले तो लगा कि वह उसी क्षण मां हो गई है और इतने दिनों का संजोया वात्सल्य छातियों से अचानक उमड़कर उसे भिगो रहा है; फिर दूसरे ही क्षण एक आशंका-मिश्रित ईर्ष्या आई और लौट गई—इस भिखारिन के आंचल में इतना उज्ज्वल हीरा कहां से आ गया ? इसका नहीं, शायद किसी से छीन लाई है ··छीन लायी है···

कुचाल को सिर से पांव तक जांचती-सी आंखों से देखती हुई सरला पास आ गई और बोली, "कब से आई है ? मुझे जगाया भी नहीं।"

हड़बड़ाकर कुचाल पलटी और एकाएक सरला को अपने पास खड़ी देखकर संभलने की कोशिश करने लगी। तभी उसकी निगाह बच्ची पर गई। उसे डांटकर कुचाल ने उसके हाथों से कुंदरू छुड़ाए और कटी हुई सब्जी दूसरी ओर रख दी। सरला को लगा जैसे बच्ची के खेल में बाधा देने और उसे डांटने के लिए वह कुचाल पर बिगड़ने जा रही है। छाती भीतर ही भीतर भीग रही है और उसकी बांहों में बच्चे का फूल जैसा कोमल स्पर्श समा रहा है लेकिन उसका चेहरा सहसा कठोर हो आया और वह गंभीर स्वर में बोली, "कुचाल, तेरे ब्याह को कितने साल हुए ?"

कुचाल ने बच्ची को गोद में भर लिया, उसके मुंह में अपनी छाती खोलकर दी और दूसरी ओर देखकर बोली, "शादी नहीं हुई, मैं कुंवारी हूं !"

काफी देर बाद जब सरला ने अपने को संयत किया तो उसे महसूस हुआ जैसे युगों से वह किचन के दरवाजे पर ही खड़ी है और उसके शरीर की बोटी-बोटी में थकान और पीड़ा भर गई है। कुचाल से बिना कुछ कहे-सुने वह सीधे अपने कमरे में लौटी, लेकिन तभी बाहर किसी के पुकारने की आवाज सुनकर उसे बरामदे तक जाना पड़ा।

पंकज के लिए खत ले जाने वाला आदमी अब आया है। सफाई देने लगा कि वह कोशिश करने पर भी जल्दी नहीं आ सका क्योंकि उसका बच्चा बीमार है और घर में कोई दवा लाने-ले जाने वाला नहीं।

उसकी बात पर ध्यान न देकर सरला दरवाजे के परदे तक आई और बोली, "साहब से कहना कि चिंता की कोई बात नहीं; खैरियत से हैं इसलिए चिट्ठी नहीं दी।"

धूप के

और उसके बाद, भीतर आकर सरला ने पत्र उठाया और उसके कई टुकड़े करके खिड़की के बाहर हवा में बिखेर दिए।

दूसरी सुबह सरला ने अपने भीतर तमाम तपिश, हरारत और टूटन-सी महसूस की। पंकज के होने पर काम न हो तो भी वह बिस्तर छोड़कर जल्दी उठ जाती है। कोई न हो तो नींद खुल जाने पर भी देर तक चुपचाप पड़े-पड़े कुछ सोचते रहना अच्छा लगता है।

सुबह की धूप पूर्व की खिड़की से फिसलकर पलंग के पास वाली दीवार पर पड़ रही थी। अभी सूरज ऊंचा नहीं हुआ, इसलिए केवल ऊपरी सिरे से बिछती हुई धूप का एक छोटा टुकड़ा-भर आया है। धीरे-धीरे समूची खिड़की का अक्स दीवार पर आईने की तरह जम जाएगा और कमरे की हर छोटी-बड़ी चीज झक-झक करने लगेगी।

उन पर आंखें रोककर सरला को एक बार फिर स्कूली जिंदगी की याद आ गई—वह सब कैसा पागलपन था! किसी पेंसिल या खड़िया-मिट्टी के निशान से धूप को बांधकर अपने को आश्वस्त कर लेना अपने को जान-बूझकर छलना नहीं तो और क्या है?

सरला बिस्तर छोड़कर उठी। किचन और बाहर के आंगन में देखा—अभी कुचाल नहीं आई थी। उसी आलस्य को लादे हुए सरला ने ब्रश उठाया और बाथरूम में घुस गई।

लेकिन बाथरूम से निकलकर स्टोव जलाने, चाय बनाकर पीने और पिछली रात को छोड़ी हुई किताब के दस-पंद्रह पन्नों के पढ़ जाने तक भी कुचाल नहीं आई। सरला का मन पढ़ने से उचटने लगा, बार-बार उसकी आंखें दरवाजे की ओर उठ जातीं और किसी को न पाकर लौट आती थीं। कुचाल की प्रतीक्षा में भी इतनी बेचैनी हो सकती है, यह उसने पहली बार जाना।

कोई आध घंटे बाद, दूर से कुचाल आती हुई दिखाई दी। सरला तेजी से भीतर गई, ट्रंक से मनीबैग निकाला, मेज पर पड़ा हुआ कागज का पैकेट संभाला और बाहर आकर कुर्सी पर बैठ गई।

जाने क्या बात थी कि कुचाल आज अपेक्षाकृत अधिक प्रसन्न लग रही थी। सरला के आग्रह किये बिना भी आज वह बच्ची को साथ ले आई थी। बच्ची शायद सुबह ही नहलाई गई होगी—और अधिक प्यारी लग रही थी। साफ-धुली फ्राक, आंखों में काजल की मोटी रेखाएं और छल्लेदार बालों से घिरा हंसता हुआ चेहरा।

लेकिन रोज के नियम के विपरीत, कुचाल को सीधे किचन में जाने से

रोककर सरला ने अपने पास बैठने को कहा। कुछ देर इधर-उधर की बातें करती रही। फिर दोनों चुप हो गईं। कुछ देर जब सन्नाटा रहा और काम की आड़ ले कुचाल उठने लगी तो सरला ने उसे रुखाई से मना कर दिया। जो कहना था, वह वाक्य उसने कई बार मन में दोहराया और फिर संयत स्वर में बोली, "बात यह है कि मेरी तबीयत अब ठीक रहने लगी है। यों भी घर में काम ही कितना है! सोचती हूं, निठल्ले बैठे रहने के बदले स्वयं कर लिया करूं। तुम्हें तो कोई और भी काम के लिए बुला रहा था न? क्यों नहीं उसे कर लेती?"

अचानक यह सब कुचाल की समझ में नहीं आया। वह आश्चर्य-भरी आंखों से सरला को ताकने लगी। पर सरला उससे आंख मिलाए बिना कुर्सी छोड़कर उठ गई और कागज का पैकेट तथा कुछ रुपए कुचाल की ओर बढ़ाकर बोली, "हालांकि तुम्हें काम करते हफ्ता नहीं हुआ लेकिन यह पूरे महीने की तनख्वाह है और इस पैकेट में कपड़ा है। अपनी बच्ची के लिए मेरी ओर से फ्राक बनवा लेना, अच्छा!"

और जैसे-तैसे बात समाप्त कर सरला भीतर आई तो अंदर ही अंदर जैसे हांफ रही थी। कुचाल के पास अधिक देर ठहरे रहने का साहस उसे नहीं हुआ।

जब बरामदे से पांवों की आहट बाहर हो गई और कई मिनट बीत गए तो खिड़की के पास आकर सरला क्षण-भर के लिए खड़ी हो गई; फिर इस आशंका से कि कुचाल पलटकर न देख ले, जरा हटकर पल्ले की आड़ में हो गई।

सामने का गेट खोलकर कुचाल बाहर निकल रही थी। गोद में उठाए होने पर भी बच्ची का मुंह कुचाल के कंधे से लगता हुआ सरला की ओर मुड़ा हुआ था। खिड़की के पल्ले से लगी हुई सरला बच्ची के लच्छेदार भूरे-भूरे बालों को उस समय तक एकटक देखती रही जब तक कि उसकी आंखें छल-छलाकर धुंधली न हो गईं △

सच और झूठ

अगले दिन यूं अचानक सुधाकर राय मिल जाएंगे, यह मैंने नहीं सोचा था।

पिछली शाम उनसे कॉफी-हाउस में परिचय हुआ था। बड़ी देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं और कॉफी के तीन-तीन प्याले पीकर हम लोग बाहर आए थे।

कॉरीडोर में अंग्रेजी पत्रिकाओं की दूकान के पास, किसी मैगजीन के पन्ने पलटते हुए हम दोनों ने और कई सिगरेटें जलाई-बुझाई थीं। दरअसल थोड़ी देर में इतना घुलमिल जाने की बात मेरे जहन में नहीं आई थी। कॉफी-हाउस का परिचय होता ही कितना है, लेकिन उस शाम तमाम बातें कुछ इस सिलसिले और ढंग से हो रही थीं, जैसे लंबे सफर वाली बस किसी छोटे-से स्टेशन में पांच मिनट के लिए रुके और वहां वर्षों का बिछुड़ा साथी अचानक दीख जाए। बातों के दौरान समय का अभाव भी हो, और इस बात का दुख भी कि दूसरी भेंट जाने कब होनी है या होती भी है अथवा नहीं।

सचमुच, दिल्ली जैसे नगर में इतने शीघ्र फिर से भेंट करने की आशा कौन करता है, फिर मैं तो दूसरे दिन ही वहां से लौटने को था।

देखा कि जिस दूकान की सीढ़ियां मैं चढ़ रहा हूं, उसी के दायें किनारे सुधाकर राय किसी महिला के साथ छोटे-बड़े पैकेट्स संभाले हुए, बहुत ही व्यस्त भाव से नीचे आ रहे हैं। उन्हें देखकर भी एकाएक टोकने का साहस नहीं हुआ। एक तो इसलिए कि परिचय नया था और दूसरे वह किसी महिला के साथ थे। सोचा जाने उन्हें यूं रोकना अच्छा लगे, न लगे, अतः मैं दूसरी ओर आंखें किये हुए आगे सरक ही रहा था कि राय की आवाज आई, "हैलो शेखर !"

मैं कुछ कहूं इससे पहले ही नीचे तक जा चुकी साथ की महिला को छोड़ कर, राय मेरी ओर लपके और बहुत गर्मजोशी से हाथ मिलाते हुए कहा, "अभी आप यहीं हैं ? कल तो कह रहे थे..."

"हां, दिल्ली क्या इतनी आसानी से छूटेगी ?" मैं हंसने लगा। "कल झूठ नहीं कहा था, लेकिन आज ऐसा काम निकल आया है कि दो रोज और जाना नहीं होगा।"

तत्काल ही हंसकर राय बोले, "नाइस ! चलिये, इसी बहाने आपसे और मुलाकात हो गई।"

और मेरा हाथ लिए-लिए ही राय अपने साथ मुझे नीचे उतारने लगे। तब तक जान लिया था कि साथ वाली महिला मिसेज राय हैं। वह सीढ़ियों के किनारे खड़ी प्रतीक्षा कर रही थीं। निकट जाने पर परिचय हुआ। मिसेज राय ने हाथ जोड़े और मुस्कराकर औपचारिक प्रसन्नता प्रकट की।

मेरी ओर देखकर राय बोले, "मैंने कल इनसे आपकी चर्चा की थी। आपकी हुलिया भी बताई और नाम भी, लेकिन यह पहचान नहीं पाईं। शायद आप दोनों में वहां परिचय नहीं था।" फिर मिसेज राय की ओर मुड़कर कहा, "तुम्हें बताया था न, इंदर ! कल कॉफी हाउस में इनसे बड़े अजीब ढंग से परिचय हो गया। यह अपने मित्र से बार-बार बस्तर की बात किए जा रहे थे और पास बैठा मैं सारी बातें सुन रहा था। जब नहीं रहा गया तो उठकर स्वयं परिचय कर लिया।"

राय हंसने लगे और जवाब में मिसेज राय बस बारी-बारी से हम दोनों की ओर देखतीं और मुस्कराती चली जातीं। वहां थोड़ी देर और ठहरना हुआ। मिसेज राय ने इस बीच एक शब्द नहीं कहा। जब राय ने पता देकर दूसरे दिन अपने यहां आने का बार-बार मुझसे आग्रह किया, अंत में वचन भी ले लिया और चलने लगे तो मिसेज राय मुस्कराकर बस इतना ही बोली, "सो यू आर कमिंग, आरंट यू ?"

जब तक वे दोनों भीड़ में नहीं मिल गए, मैं एकटक मिसेज राय के लौटते शरीर को देखता रहा—वह हल्के सब्जई रंग की देह से सटी पड़ती साड़ी,

पिछली गर्दन से बहुत नीचे तक आया हुआ शार्ट-ब्लाउज (जिससे तीन-चौथाई पीठ खुली थी) और पीछे से गुवा-गठन को दो भागों में विभाजित करने वाली पीठ की मोटी और गहरी लकीर, जहां घूम-फिसल कर आंखें अटक जाती थीं।

सहसा मुझे शरद की याद आ गई। क्या होता यदि आज वह भी मेरे साथ यहां होता ?

पिछले दो वर्षों से शरद का कोई पता मुझे नहीं है। जब तक वह बस्तर में रहा मुझसे एक दिन भी मिले बिना कभी नहीं रह पाया। बस्तर छोड़कर अकस्मात् चले जाने के कुछ दिनों बाद इन्दौर से एक-दो चिट्ठियां आई थीं, लेकिन थोड़े समय बाद वह इन्दौर छोड़कर भी कहीं चला गया, क्योंकि मेरी चिट्ठियां लौट आईं। नजरों से ओझल होने के बाद सचमुच प्यार प्यार नहीं रह जाता।

शरद से जब मेरी मैत्री गहरी हो गई, वह मेरे साथ दिन-रात उठने-बैठने लगा तो एक दिन कुछ संकोच और कुछ दर्द के साथ उसने अपने और इन्द्रा के विषय में बातें कीं। तब नहीं जानता था कि उस इन्द्रा से कभी मैं स्वयं मिलूंगा।

"तुम इन्द्रा को जानते हो ?" शरद ने मुझसे पूछा था।

सच बात तो यह थी कि मैंने इन्द्रा को तब नहीं देखा था, लेकिन उसके विषय में इतनी बात कहना झूठ बोलना जैसा लगता। अतः मैंने स्वीकार में हामी भर दी।

वास्तविकता यह थी कि इन्द्रा दो वर्ष बस्तर में रही, खूब चर्चे कराए, बड़ी-बड़ी कहानियां मशहूर हुईं, और चली भी गई, लेकिन मैंने उसे कभी नहीं देखा। उत्सुकता हुई भी हो तो ऐसा अवसर मुझे नहीं मिला।

इन्द्रा के चले जाने के बाद शरद मेरे पास आया। पहले नहीं जानता था कि इन्द्रा के बारे में इधर-उधर की घटनाओं के साथ जो नाम सुने थे, उनमें एक निकट का नाम शरद का है, जो आगे चलकर दिन में कई-कई बार इन्द्रा की बातें करेगा।

आज उसी इन्द्रा को मिसेज राय के रूप में देखकर सोचता हूं तो अपने पर क्रोध आता है। शरद की इन्द्रा संबंधी तमाम बातें मैंने महज सुनने के लिए सुनी थीं। बिल्कुल याद नहीं कि उसके रूप का उसने किस तरह बखान किया था। सोचा, जो भी हो मिसेज राय सचमुच सुंदरी हैं।

उसके बाद फिर अकारण ही भारी हो गए अपने मन को लेकर मैंने उसी दूकान की सीढ़ी पकड़ी जहां से उतर आया था।

दूसरे दिन शाम को बड़ी परेशानियों और चक्कर के बाद सुधाकर राय का मकान मिला। दोस्तों से उनके विषय में और भी बहुत-सी सूचनाएं मिल

गई थीं। यह कि सुधाकर राय बड़े मिलनसार, व्यवहार-कुशल और सज्जन आदमी हैं। किसी विदेशी कंपनी में अच्छे पद पर हैं और इंद्रा से उनके व्याह को पांच वर्ष हुए हैं आदि।

विना सूचना दिये पहुंचना अभद्रता होती है, यह वार-वार मन में आ रहा था, लेकिन सूचना देने का उपाय ही कहां था? वात केवल आने की हुई थी, समय की नहीं। सो दरवाजा खोलकर जैसे ही मिसेज राय ने मुझे देखा, अचानक पहले तो हतप्रभ हो गईं, फिर तत्काल ही दरवाजे का पल्ला छोड़, परदानशीनों की तरह अपना आंचल संभालती हुई वोलीं, "अरे आप!"

उस क्षण विश्वास करना कठिन हो गया कि यही मिसेज राय उस दिन आधुनिक प्रसाधनों से लिपटी-लिपटाई तीन-चौथाई पीठ खोले वाहर घूम रही थीं। आज उसका अंश तक नहीं देखता—वहुत ही साधारण साड़ी, अनसजे और खुले केश, साफ जिल्दवाला चेहरा और नंगे पांव···

हंसकर कहती हैं, "आइए, आइए न।"

कमरा खूव अच्छा है। वढ़िया फर्नीचर, कीमती परदे, गलीचे, गोदरेज की एक से अधिक अलमारियां और मेज के वुक-शेल्फ में चुनी हुई अंग्रेजी की किताबें···

"दोपहर में हम लोगों ने आपकी वड़ी राह देखी। फिर सोचा कि आपने शायद मन रखने के लिए आने की वात कह दी, आएंगे नहीं।" कहकर मिसेज राय शिकायताना ढंग से देखती हुई हंस दीं।

मैं सफाई देने लगा। मांफी मांगी। चुप हुआ। मौसम की वात की, फिर सुधाकर राय को पूछा।

"आते ही होंगे, मैं क्या आपको वोर कर रही हूं?" वे हंसने लगीं। "दरअसल नये आदमी से देर तक वातें कर ले जाना मुझसे नहीं होता, लेकिन आप तो नये नहीं हैं।"

मैं राय परिवार के लिए नया हूं, तो भी मिसेज राय की वात झुठलाने का मन नहीं हुआ। तिपाई पर रखी हुई किसी पत्रिका के पन्ने चुपचाप उलटने लगा।

"आप वस्तर में दो वर्ष रहीं, लेकिन अजीव वात है कि मैंने आपको कभी नहीं देखा।"

सुनकर क्षणकाल के लिए मिसेज राय का चेहरा कठोर हो आया, थोड़ी देर एक ओर देखती रहीं फिर वाईं पेशानी से लेकर वार-वार आधे सिर तक हाथ ले जाती हुई वोलीं, "आप वुरा न मानें, आइ हेट टु वी इन वस्तर··· वहां के दो वरस किस तरह काटे हैं, यह मैं ही जानती हूं। वहां से नौकरी छोड़कर नहीं आती तो पागल हो जाती। इतने ओछे लोग···ऐसी टुच्ची वातें

"...मैं आपसे क्या कहूं ?"

कई पल हम दोनों चुप रहे। मिसेज राय अपने टखनों से जरा ऊपर तक खुली पिंडली पर दाहिना पांव रखकर उसका अंगूठा हिलाती और उसे ही देखती बैठी रहीं। केश खुले होने के कारण एक ओर की कई लंबी लटें उनके दाहिने गाल के पास झूल आई थीं।

अपनी स्मृति को मैंने दूर तक झकझोरा, लेकिन याद नहीं आई कि शरद ने तब की इन्द्रा और आज की मिसेज राय के रूप का किस तरह बखान किया था। अपने पिछले दिन के विचार पर आश्चर्य हुआ। उस दिन शायद मुझे धोखा हो गया। आज लगता है कि मिसेज राय उतनी सुंदरी नहीं, जितना मैंने सोचा था।

"आप शायद मिस नायक को जानते हों," मिसेज राय सहसा बोलीं, "बहुत दिनों तक हम दोनों इकट्ठे ही रहे। मैं उसे नहीं जानती थी। उसका किस्सा क्या था, यह भी उस वक्त तक नहीं मालूम हुआ, जब तक कि वह 'स्कैंडल' नहीं हो गया। उसी की आंच में तो मैं भी झुलस गई हूं। आप सच जानिये, मिस नायक..."

एकाएक बाहर किसी की आहट सुनकर मिसेज राय चुप हो गईं और बात रोककर दरवाजे की ओर देखने लगीं। सुधाकर राय परदा उठाकर मुस्कराते हुए भीतर आए। मुझे देखा तो खूब ललककर मिले। कितनी देर से बैठा हूं, यह पूछा और इस बात के लिए अफसोस करने लगे कि पहले मेरे आने के विषय में पता होता तो वह जल्द लौट आते।

मिस नायक की बात फिर जहां की तहां धरी रह गई। उसके बाद ताज, आगरा, कुतब, लाल किला आदि दुनिया-जहान की बातें हुईं और घूम-फिरकर चर्चा बस्तर की आदिम जातियों पर आ गई।

जितनी देर तक वहां बैठा रहा क्षण-भर के लिए भी शरद को अपने मन से निकाल नहीं पाया। लगातार उस एक प्रश्न के लिए ही साहस बटोरता रहा। जब बातें चुक गईं और सुधाकर राय शायद कपड़े बदलने के लिए लगे हुए कमरे में चले गए तो कई पल सोचने के बाद मैंने अनायास पूछा, "अच्छा, आप शरद को जानती हैं ?"

प्रश्न के साथ ही साथ मैंने मिसेज राय के चेहरे पर अपनी पलकें रोक रखी थीं, पर वह निहायत ही प्रेम भाव से बोलीं, "शरद कौन ?"

"शरद...अ...शरद मिश्र !"

सुनकर जवाब में मिसेज राय ने मेरी ओर देखते हुए मुस्कराहट लिए-लिए ही ऐसे निर्विकार भाव से अस्वीकृति-सूचक सिर हिलाया जैसे किसी बिल्कुल अजनबी का नाम सुना हो और जैसे उस बात पर कुछ कहना-सुनना

तक जरूरी न हो।

तभी कमरे के दरवाजे के पास सुधाकर राय दिखाई दिए और उन्हें निकट आने तक का भी अवसर दिए विना मिसेज राय ने शिकायत की, "देखती हूं, आज फिर 'फीडर' नहीं लाए। वताओ, वेवी के दूध का आज क्या होगा ?"

सुधाकर राय ने आते-आते अपने चेहरे पर भूल जाने और खेद करने के भाव-संकेत दिए। उस वात की प्रतिक्रिया जानने के लिए अनजाने ही मेरी आंखें मिसेज राय की ओर गईं। अपने पति की ओर उठी हुई उनकी आंखों में जो तरलता घिर आई थी, उसे पहली वार देखकर अचानक मुझे विश्वास हो गया कि शरद ने वह सव मुझसे झूठ कहा होगा△

चील

और वह कोसुम पेड़ के पास टोकनी लिए कौन खड़ा है ? वो कत्थई पत्तोंवाले आम के पीछे जहां छींद के चंद नुकीले बूटे खड़े हैं और जिसके पास से बांस की झाड़ियां शुरू हो जाती हैं ? बिल्कुल वही तूस की साड़ी···काला रंग, दूर से ही चमकते हुए कोहनी भर-भर गिलट के कड़े और सिर धरी तीन-तीन टोकनियों की ऊंचाई···

उत्सुकतावश टोकी खड़ी हो गई और आंखों के ऊपर एक हथेली की छांव देकर उधर देखा। पर तभी वह कोसुमवाली वहां रुकी, सिर की टोकनियां उसने जमीन पर उतारीं और बैठ भी गई; तो टोकी ने निराश होकर अपनी हथेली आंखों पर से हटा ली और एक बार इधर-उधर निस्सहाय-सी आंखों से ताका ? नहीं, वह नहीं थी। होती तो क्या सीधे इधर ही चली न आती ?

दोपहर की सीधी खड़ी धूप अमराई के बाहर टूट कर फैली थी। उसमें सामनेवाले अनगिनत पेड़ों की हरी गाढ़ी या कोमल पीकोंवाली गुलाबी पत्तियां चमक रही थीं। कभी जब हवा उधर से ही होकर आती तो शाल-पत्तों की गंध के साथ कई अनजाने पेड़-पत्तों की महक आ जाती और टोकी को लगता

कि जंगल अब फिर जवान हो रहा है।

हालांकि वह बुरी तरह थक गई थी, लेकिन यह सोच कर संतोष हुआ कि वह धूप में नहीं चल रही, बाजार पहुंच गई है और बहुत इत्मीनान के साथ झाड़ की छांव में बैठी है।

देर से उकड़ू बैठे रहने के कारण एक पांव सुन्न हो गया था, सो टोकी जरा सरकी, दरख्त की पींड से पीठ टेक कर, पटके का निचला पल्लू संभालते हुए, उसने पांव फैलाये और थकी हुई आंखों से फिर वही सब देखने लगी।

बस्तर के देहात का बाजार ऐसा ही होता है। थोड़ी देर पहले कुछ नहीं होता, इक्के-दुक्के लोग टपकते हैं, बाजार जमने की प्रतीक्षा में यूं ही बैठे या सुस्ताते हैं अथवा गप्पें लगाते हैं। इस बीच शहर से आए कपड़े, किराने या मनिहारी के व्यापारी अपनी दूकान जमाते या खाते-पीते नजर आते हैं।

टोकी को फिर से प्यास लग आई। उसने चाहा कि हाथ बढ़ाकर अपनी पेज की तूंबी उठा ले और गट-गट पी जाए, लेकिन बिल्कुल हिले-डुले बिना अपाहिज और निरुपाय-सी वह तूंबी को देखती रही। उसे आश्चर्य हुआ—वह इतनी देर से प्यासी है, बाजार पहुंचते ही हलक तर करना चाहती थी, लेकिन पास ही सब कुछ रहते हुए उसने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

जब वह बाजार पहुंची तो अमराई में बहुत ही कम लोग थे। हर सप्ताह की तरह निश्चित स्थानों में बैलगाड़ियां टिकी पड़ी थीं और उनकी आड़ में लोग खाना बना अथवा खा-पी रहे थे। धीरे-धीरे बोझेवाले, सब्जीवाले और बहुत से दूसरे लोग पहुंच रहे थे और एक ओर कतार से भटों की मंडी लग रही थी। टोकी अपने निश्चित स्थान की ओर बढ़ी। हालांकि वह कई हफ्तों के बाद आज आई थी और बाजार भी कुछ नया-नया-सा लग रहा था, लेकिन अपनी पुरानी जगह का मोह उससे नहीं छूटा। जब से उसने इस बाजार में आकर बैठना शुरू किया है, उसे गठानों और करपनवाले टेढ़े आम के नीचेवाली जगह ही पसंद आई है। यों जगह जरा किनारे पड़ती थी, लेकिन टोकी को कौन ऐसी बड़ी या खास दूकान लगानी थी। पहले कुछ महीने जब घर में थोड़ा बहुत धान था तो कूटने पर जरा-जरा करके टोकनी, दो टोकनी भूसी निकल आती थी। बहुत दिनों तक उसी के बहाने वह बाजार आकर बैठ जाती थी लेकिन इधर धान के खत्म होते ही वह सिलसिला और सहारा भी गया। आखिर दूसरों के खेतों में काम करने पर मिला धान कितने दिनों चलता?

अपने पास ही खट की आवाज से टोकी चौंकी। देखा कि किसी बिल्कुल अजनबी और अपरिचित औरत ने उसकी बगल में ही अपनी मचिया पटक दी है और अपनी दूकान लगाने की तैयारी में है। टोकी कुछ कहना चाहती थी, लेकिन फिर यह सोचकर चुप लगा गई कि जगह किसी की खरीदी हुई तो है

नहीं। ठीक है, वह चाहती थी कि उसके बाजू में किलेपालवाली ही बैठे जैसा कि एकाध साल से होता आ रहा था। आज बाजार पहुंचने से लेकर अब तक वह उसी की प्रतीक्षा कर रही थी और अभी थोड़ी देर पहले कोसुम पेड़ के पास उसी का भ्रम भी हुआ था।

नहीं, यह उसने कहां सोचा था ? हफ्ते में एक बार कुछ घंटे साथ बैठने से ही इतनी आत्मीयता की बात अजीब लगती है। बाजार में सैकड़ों लोग दूर-दूर और अपरिचित गांवों से पहुंचते हैं, सालों साथ-साथ बैठते हैं, लेकिन कौन किसके इतने निकट आता है ?

उसके मन में एक बार आया कि वह नयी पड़ोसिन से किलेपालवाली के बारे में पूछे। पता लगाए कि वह कब से और कैसे किलेपालवाली की जगह में बैठ रही है और आखिर वह कहां चली गई ? लेकिन उस औरत के चेहरे-मोहरे और ऊपरी रंग-ढंग से बात करने का मन नहीं हुआ। इधर कई हफ्ते वह बीच में आई नहीं, कुछ पता भी नहीं लिया। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इस बीच वह मर गई हो ?

'अरे भागती कहां है ?' सामने की कतार में, भटे और टमाटरोंवालों के बीच किसी ने रोबीली आवाज में चिल्ला कर कहा। टोकी ने सहसा चौंक कर देखा कि कोई औरत अपना बोझा छोड़कर एक ओर खिसक रही है और बाजार का टैक्स वसूल करनेवाला सरकारी आदमी हाथ में टिकट-बुक लिए उसे पुकार रहा है। आवाज सुनकर वह औरत क्षण के लिए ठिठकी और फिर धीमे कदमों से डरती-डरती लौटने लगी।

यह बात टोकी की समझ में कभी नहीं आई कि चीजें वे लाएं, खरीदे कोई और, लेकिन सरकारी आदमी सिर्फ इसी बात पर टैक्स वसूल करे कि वे बाजार में आकर बैठते हैं। कोई चाहे न चाहे, दे सकने की हैसियत हो अथवा नहीं, कानून तो अपनी जगह है। स्वयं उसने सभीत आंखों से उस आदमी की ओर देखा और उसकी पीठ पर पलक रोक, धड़कता जी लिए प्रार्थना करने लगी कि भगवान के लिए वह इधर पलट कर न आए…न आए…

कुछ दूर पर दो औरतें अपनी-अपनी आंखों पर आंचल दिए, एक-सा राग बांध कर जोर-जोर से रो रही थीं। हर बाजार के दिन किसी न किसी कोने पर यह होता ही रहता है। दूर-दराज के गांवों के लोग बाजार के दिन ही अक्सर आपस में मिलते हैं और इस बीच कोई मर-मरा गया तो संवेदना प्रकट करने के लिए ऐसी ही मातमपुर्सी होती है।

उधर देखते-देखते टोकी का जी अनायास ही भर आया। यही हुआ था जब उसका आदमी सलपी पेड़ से रस उतारने में गिर कर मर गया। वह विधवा होकर पहली बार बाजार आई तो किलेपालवाली भी इसी तरह चीख-

चीख कर देर तक रोई थी और आसपास के दूसरे लोगों ने च्च्-च्च् करके बड़ी सहानुभूति प्रकट की थी।

अपने दो बच्चों के साथ गांव में अकेली होकर पहले-पहल वह कितना डर गई थी! हालांकि अपने आदमी के जीवनकाल में वह कभी एक दिन बैठकर नहीं रही—रोज जंगल जाकर पत्ते तोड़ लाना, कंद-मूल खोद लाना या लकड़ियां चुन लाना बराबर चलता रहा, लेकिन पुरुष का सहारा और ही होता है। पहली बार उसे लगा कि अब सचमुच दिन बहुत कठिन आ गए हैं, इतने कठिन कि गांव में रहकर, जंगल-झाड़ी से गुजारा करना भी मुश्किल हो गया है। आसपास के सारे वन किस बुरी तरह कटते जा रहे हैं! इतने घने पेड़-पौधों वाली हरी-भरी धरती बंजर और उजाड़ लगती है। दिन भर वहां हू-हू करती हुई हवाएं दौड़ती हैं और सिवाय धूल-कचरे के छोटे-मोटे बवंडरों के, और कुछ दिखाई नहीं देता।

ऐसी कितनी धूल उसे फांकनी पड़ी होगी? घर में कुछ नहीं है···न पैसे, न नमक। कई हफ्तों से बाजार-हाट भी बंद है, देखकर जंगल जाना पड़ा था। सोचा कि बाजार ले जाकर बदले में नमक ले आने के लिए जो कुछ मिल जाए, काफी है। देर तक उसे भटकना पड़ा था, पर दूर-दूर तक निकल जाने पर भी तेंदू चार की सूनी टहनियों के सिवाय और कुछ देखने में नहीं आया। शायद उस बवंडर में अकेली वही थी।

अंत में हार-थक कर वह पीपल के नीचे सुस्ताती हुई बैठी थी कि उसकी टहनियों से फूटती कोमल पीकों और नर्म गुलाबी पत्तियों पर निगाह गई। एक जमाना था कि पीपल-पान के साग के लिए वह मरी जाती थी। अपने आदमी के जीवनकाल में गाहे-ब-गाहे खुशामदें भी की थीं क्योंकि पीपल के इतने-इतने बड़े पेड़ों पर चढ़कर डगालियां छांटना उससे कभी नहीं हुआ। शायद इस बार भी न होता, अगर निराशा के कारण उसने जी-तोड़ मेहनत न की होती।

दोपहर की धूप और सारे वन का अकेला सन्नाटा। जंगल ही जंगल। वह दो कोस निकल आई थी। खाली हाथ लौटने की वेदना ने इतना साहस भर दिया कि जब कोई और सूरत नहीं निकली तो इधर-उधर देखकर वह खुद उतने मोटे पेड़ पर चढ़ गई। हालांकि इस कोशिश में कई बार फिसल-फिसल कर नीचे आना पड़ा और दोनों रान के कई हिस्से बुरी तरह छिल गए थे···

'हात ा ा त···हा ा ा ा त!'

अचानक एक ओर कुछ इस तरह का हल्ला उठा और टोकी ने चौंक कर देखा कि उससे थोड़ी दूर पर, बाजार के करीब-करीब छोर पर बैठी हुई एक औरत खड़ी होकर चिल्ला रही है और आसपास के अधिकांश लोग ऊपर देख अथवा एक-दूसरे को दिखा रहे हैं।

आखिर असल बात मालूम हुई कि कोई औरत नौ-दस मील दूर के अपने गांव से दो-तीन बटेर लेकर बाजार आई थी। सबके पांव एक-दूसरे से बांध कर जोड़ दिए गए थे, अतः बेफिक्री थी। अपनी जगह छोड़कर अभी मुश्किल से एक मिनट के लिए ही हटी होगी कि पास के पेड़ पर जाने कब से बैठकर ताक रही चील ने तीर की तरह उतर कर झपट्टा मारा और तीनों बटेर दबाकर यह जा, वह जा।

टोकी ने वेदना-भरी आंखों से अपनी छोटी-सी दूकान की ओर देखा जो कुल मिलाकर गज भर जगह घेरे हुए थी। एक छोटा-सा टाट का टुकड़ा बिछा है। उस पर पीपल के गुलाबी पत्तों और कोमल पीकोंवाली भाजी की दो ढेरियां रखी हैं, दो घंटे गुजर गए, लेकिन शायद इतना छोटा ग्राहक अभी तक नहीं आया।

अरे, मान लो, बाजार में भटकती कोई आवारा गाय ही उन दो ढेरियों में मुंह मार देती तो क्या होता? उसकी हालत भी क्या उस बटेरवाली जैसी न हो जाती? शायद उसी तरह पथराती आंखों से खाली टाट को बेकार घूरना और अंदर ही अंदर ऐसे कलपना कि आंसू ही न निकलें और मन डबडबा कर रह जाए...

दरख्त की पीठ से अपनी पीठ हटाकर टोकी ने अपने कूल्हे सरकाये, संभलकर बैठी और पटके के भीतर धीरे से हाथ डालकर रान के उन हिस्सों को आहिस्ते-आहिस्ते सहलाने लगी जिनके छिलाव पर अब पपड़ियां जम गई थीं। एक दिन के पुराने घावों के कोनों में ऐसी खुजलाहट हो रही थी कि उंगलियों का वैसा सहलाव खूब अच्छा लगा। उसके सारे शरीर के रोंगटे खड़े हो गए और आंखें अपने-आप ढंपने लगीं। बड़ी कठिनाई से उसने अपनी आंखें खोलकर देखने की कोशिश की, लेकिन जैसे ही अपनी ओर बढ़ आते एक आदमी पर निगाह पड़ी, हड़बड़ा कर उसने हाथ बाहर खींचा और बेपरवाही के कारण झोल खाए पटके को ठीक करती हुई सीधी संभल कर बैठ गई।

"इतने दिन कहां रही, टोकी?" आकर चुहचाप बैठ जाने के बाद उस आदमी ने पूछा।

टोकी पहले जवाब नहीं दे पाई। भाजी की दोनों ढेरियां धूप के कारण, बिल्कुल अल्लर होकर कुम्हला गई थीं। उस पर पानी छिड़क कर, अलटते-पलटते हुए टोकी ने कुछ गुनगुना कर जवाब दिया, हालांकि उसकी आंखों के सामने अचानक किलेपालवाली तैर गई थी।

"बच्चे-वाले ठीक हैं?" एक सवाल और हुआ।

किसी तरह उसके जवाब से भी छूटने के बाद अंत में टोकी ने पूछा, "क्या लाए हो?"

"अरे, क्या लाना है ? थोड़ी इमली थी, सेठ को वेच आया हूं।"

थोड़ी याने एक कावड़ इमली आई होगी, टोकी ने सोचा। अच्छा धंधा है, इस हाथ दे, उस हाथ ले। माल लेकर आओ और शहर से आए किसी इमली के व्यापारी के पास जाकर एक भाव में नपा दो, छुट्टी ! वाजार के किसी कोने-अंतरे में वैठकर ग्राहक की राह में ऊंघना नहीं पड़ता।

"और मुझे देखो, यह भाजी लेकर आई हूं।" टोकी जैसे अपने पर ही तरस खाकर हंसती हुई वोली।

एकाएक वाजार के किसी दूसरे छोर पर जोर-जोर से मृदंग वजने लगा और हवा का रुख इधर ही होने के कारण, सारा शोर वह आया। टोकी को लगा कि वाजार का जोश अव उस नुक्ते पर है, जहां से थोड़ी देर वाद ही उतार शुरू होता है। धूल की गुवार-सनी धूप पहले से हलकी हो गई थी और सूरज उस वड़ी इमली के पार हो गया था। वाजार के विखरने में अव अधिक देर नहीं लगेगी।

सारे समय वह किलेपालवाली के वारे में सोच रही थी। मन-ही-मन जाने कितनी वार उसने हिम्मत की होगी, लेकिन उससे किलेपालवाली के वारे में पूछते नहीं वना। आखिर थोड़ी देर वाद वह चला गया।

जव से आत्मीयता हुई थी, टोकी ने जान लिया था कि इस आदमी और किलेपालवाली में कहीं कुछ है। इस वात को समझते हुए भी दोनों होंठों में हंसते थे। प्रायः हर वाजार की भेंट-मुलाकात का उसे ठीक-ठीक पता था, लेकिन वहां तक की वात किलेपालवाली ने भी नहीं की थी।

ठीक यही समय था जव उस दिन किलेपालवाली किसी वहाने से वोझा छोड़कर जो गई तो घंटे भर वाद लौटी और उसकी राह देखते-देखते टोकी वुरी तरह झल्ला गई थी। उसे यह सव क्या मालूम था ? केवल इतना देखा कि वह अकेली जंगल में घुस रही है। वार-वार लौटकर चौकन्नी नजर से देखती जाती है। उसके वाद सचमुच क्या हुआ और एक घंटा उसने कहां लगाया, टोकी यह तव भी नहीं जानती थी। लौटने पर इतना ही अनुमान लगाया कि किलेपालवाली वुरी तरह थक गई है। सीधे आंखें मिलाकर वातें नहीं करती, उसकी पिछली पिंडलियों, कूल्हों, पीठ और सिर के वालों में तमाम छोटे-छोटे फांस चुभे हैं और गर्दन झुकाए एक-एक करके वह उन्हें वीन रही है···

वह सव याद करके टोकी के कंधे सिहरन के मारे वैसे ही कांपे जैसे ठंड के दिनों में कभी-कभी अचानक कंपकंपी आती है। वह हंसना चाहती थी—अजीव वात है ! शायद यह आदमी उसे भी किलेपालवाली समझ रहा है···

"चल, पैसे निकाल !"

पीछे से एक तीखी आवाज आई और टोकी ने जैसे ही लौटकर देखा, कांप कर रह गई। वही सरकारी आदमी जिसे उसने बड़ी देर पहले बोझेवालों से पैसे वसूल करते देखा था, अब ठीक उसके सामने खड़ा था !

क्षण भर के लिए वह घबरा-सी गई। एक बार उसे छिछलती नजर से ताका, आसपास टटोलती-सी निगाहें डालीं और कातर आंखों से भाजी की कुम्हलाई ढेरियों को घूरने लगी।

बड़ी देर बाद जब किलेपालवाली के संगी—उसी आदमी के साथ, टोकी घर लौट रही थी, एक बार आंखों के आगे, झपट्टा मारती चील और बटेरवाली का दयनीय चेहरा, दोनों उभर आए थे।

वह बिल्कुल खाली हाथ लौट रही थी ! गए बार की तरह बाजार कभी न आने की सौगंध खाते हुए उसे घर-गांव का ख्याल आया। डबडबाई आंखों ने उसने देखा कि बारह मील दूर के एक धूल-भरे गांव में दो छोटे-छोटे बच्चे गुमसुम बैठे हैं। दोनों एक-दूसरे को तसल्ली देते हुए अपनी मां के बाजार से लौटने की राह देख रहे हैं, लेकिन निर्मोही मां है कि मन से लौटना नहीं चाहती—जैसे-जैसे गांव निकट आता जाता है, पांव ठिठकते हैं और जी बुरी तरह बैठा जाता है△

एक काली लड़की

लेकिन मेहरून का यह रूप निश्चय ही उस दिन से बिलकुल भिन्न लगा। वह तसवीर भी एकदम अलग और दूसरी थी जब मैं पहली बार उससे स्कूल में मिला था। कहां उस दिन की सफेद धुली साड़ी का पल्लू सम्हालती वह घबराई-घबराई-सी लड़की और कहां यह···

मैंने पहली बार सारे साहस से काम लिया। अपने को काफी निर्लज्ज बनाकर उसे मैंने गहरी आंखों से देखा, ताकि कभी बीच का अंतराल बड़ा होने पर भी उस चेहरे को याद रख सकूं।

सचमुच मेहरून का शरीर खूब अच्छा था—औसत से ज्यादा कद वाला तथा भरा-पूरा—ऐसा कि थोड़ी लंबाई कम होने पर उसे लोग मोटी कहते। नाक-नक्श बेहद तीखे, निहायत आकर्षक और लंबी बरौनियों वाली आंखें और इतना चटक काला रंग कि चेहरे का नमक मांस की परतों से झांकता था! मैं कल्पना करने लगा कि मेहरून का रंग कहीं थोड़ा भी साफ होता तो वह कितनी आकर्षक और सुंदर दिखाई देती।

"अरे आपने तो यह बिलकुल नहीं लिया!"

"सहसा मेहरुन ने मुझे चौंकाते हुए अधिकारपूर्वक कहा। उसका इशारा नमकीन की प्लेट की ओर था, जिसका एक टुकड़ा उसके दांतों तले दबा हुआ था।

"लेता हूं," मैंने धीरे से मुस्कराकर संकोच दूर करने का अभिनय किया, "दरअसल मुझे चाय ठंडी करके धीरे-धीरे 'सिप' करना अच्छा लगता है!"

"ओह! भई, हमारी आदत एकदम उलटी है," वह शायद हंसकर बोलना चाहती थी; लेकिन कमरे के नीम अंधेरे में उसके काले रंग के चेहरे के बीच चमकते हुए सफेद दांत ही दिखाई दिए।

"अम्मी मुझे अक्सर डांटती हैं," उसने कहा, "एक-दो बार इसी बात पर ताने भी सुने कि ऐसी खौलती चाय पी-पीकर ही मेरा रंग जल गया है। पर जब आदत ही बन गई है तो क्या करूं?"

कहकर वह विवश-सी हंसी हंसने लगी, पर बड़ी देर तक मेरी समझ में नहीं आया कि मुझे क्या कहना चाहिए।

"मिस खान, यह जगह आपको कैसी लगी आपने बताया नहीं?" कुछ देर बाद केवल बात चलाने के लिए मैंने पूछा।

"जगह अच्छी या बुरी कैसे होती है?" मेहरुन धीरे से हंसी, "कोई भी जगह हो, रहते-रहते ही अच्छी लगती है कि नहीं? मैंने सारा बचपन बिलासपुर में बिताया, हाईस्कूल की आधी पढ़ाई भी वहीं की। तब सोचती थी कि बिलासपुर छोड़कर रह सकना बड़ा कठिन होगा, लेकिन रायपुर आकर उसका मोह ऐसे टूट गया जैसे वहां से कोई संबंध ही न रहा हो। यही बात जगदलपुर आकर भी धीरे-धीरे हो जाएगी—अब बताइए। जगह अच्छी-बुरी कहां हुई?"

बाहर शाम का अंधेरा पूरी तरह उतरकर फैल चुका था। पहले कमरे से बाहर आते-जाते लोग या खेलते हुए बच्चे दीख जाते थे। धीरे-धीरे करके उनकी आकृतियां धुंधली हुईं, कुछ भी देख सकना कठिन हो गया और वही धुंधलका घर के भीतर घुस आया। थोड़ी देर में मेहरुन का चेहरा भी लिप-सा गया और इतना-भर दिखलाई देने लगा कि वह मेरे सामने बैठी है।

"आपको यहां घुटन होती हो तो कुर्सियां बाहर निकाल लूं?" अचानक बात पलटकर मेहरुन सामने अपनी गोद पर झुक आई और शायद मेरी ओर देखने लगी।

"नहीं, नहीं, घुटन क्यों होगी?" मैंने सम्हलकर हंसते हुए कहा, "आखिर इसमें आप रहती ही हैं। जब आप रात-दिन रह सकती हैं तो मैं क्या थोड़ी देर नहीं बैठ सकता?"

"हम लोगों की बात और है। एक तो आदत हो गई है, दूसरे न भी हो

तो मजबूरी में निभाना पड़ता है।"

मकान सचमुच छोटा, झुका हुआ और इतना कच्चा था कि भीतर बैठे रहने में कोफ्त हो रही थी। न रोशनी न हवा, न खिड़की न दरवाजे, काल-कोठरी की तरह एक कुंद-सा कमरा, जहां हम लोग बैठे थे, लेकिन उस बात को सीधे कह देना शायद ठीक न होता। अतः औपचारिकता के मारे मैं हंसकर टाल गया।

"इस मकान के बारे में मुझसे ज्यादा शिकायत अम्मी को है," वह बोली, "आपको बताऊं, वह सिलाई करने बैठती हैं तो दिन में भी ठीक से रोशनी नहीं आती। रोज कुढ़-कुढ़कर कोसती हैं और मुझसे मकान बदलने के लिए आग्रह करती हैं। आप यकीन कीजिए, चाहे कितनी गरीबी रही हो, ऐसे मकान में हम लोग पहले कभी नहीं रहे, लेकिन अब क्या किया जाए। अच्छी जगह के अच्छे मकान के लिए उतने पैसे भी तो चाहिए।"

याद आया कि शाम को मेहरून का मकान ढूंढ़ निकालने में मुझे कितनी परेशानी हुई थी। केवल मोहल्ले का नाम लेकर चला आया था, अतः घंटा-आध घंटा भटकना पड़ा। मोती तालाब की इस-उस गली में धक्के खाता रहा, लेकिन देर तक किसी मेहरून खान का पता नहीं चला। वह तो खैर से एक परिचित मिल गए, वर्ना शायद यों ही लौट आना पड़ता।

"कौन मेहरून ?" परिचित महाशय ने लड़की का नाम सुनकर कान खड़े करते हुए पूछा था, "वह तो नहीं, जो एक बेवा की लड़की है, काली-काली-सी, ऊंची पूरी···हमेशा रेशमी साड़ी पहनती है और···"

"कहीं मिस्ट्रेस है ?"

"हां···शायद पढ़ाती-वढ़ाती है। लेकिन आपको उससे क्या काम पड़ गया ?"

कहकर उन्होंने ऐसी राजदाराना मुस्कराहट-सहित मेरी ओर देखा कि एकाएक हां-ना करते मुझसे नहीं बना।

"क्यों, क्या वह इन्सान नहीं ?" मैंने बात को मजाक में उड़ाते हुए कहा।

"वाह साहब, है क्यों नहीं ? इन्सान न होती तो दिन में आप-जैसे इतने सारे लोग आ-आकर क्यों टकराते ? इस सामने वाली गली में सीधे चले जाइए। तालाब के पास ही कच्चा मकान है।"

दरअसल मन तो वहीं खट्टा हो गया था। कई बार अपने पर क्रोध आया कि मैं भी कहां-कहां की बेवकूफी में फंस जाता हूं। हटाओ मेहरून-वेहरून को और लौटो अपने घर, लेकिन एक बिलकुल दूसरी बात मेरे साफ-सुथरे और पढ़े-लिखे दिमाग में उभरी—किसी भी लड़की के विषय में क्या दूसरों का मत ही सब कुछ होता है। अक्सर इस तरह की फैली हुई बातों में कितना

सत्यांश होता है ? और विशेषकर ऐसी लड़की के बारे में जो परंपरा से आगे निकल आई हो और जिसने खूब संघर्ष-भरे दिन देखे हों ?…और वह उस दिन की सफेद धुली साड़ी का पल्लू सम्हालती घबराई-घबराई-सी लड़की…

"अरे मैं भी कैसी बेवकूफ हूं !" अचानक एक झटके से उठकर मेहरून बोली, "देखिए तो, आपको अंधेरे में ही बिठा रखा है। ठहरिए…मैं एक-दो मिनट में कंदील लेकर आई।"

और मेरे मना करने के बावजूद कि क्यों तकलीफ करती हैं, मैं अभी चला जाऊंगा, जब वह उठकर चली गई तो लगा, मेहरून के चले जाने के बाद कमरे का कुंदपन और बढ़ गया है तथा सांस लेने तक में दिक्कत हो रही है। मैंने घबराकर छुटकारे के लिए इधर-उधर देखा, पर कहीं कोई राह नहीं थी। गर्मियों की उमसाती सांझ वाला छोटा और चारों ओर से बंद कमरा, जिसमें भीतर जाने के खिड़कीनुमा दरवाजे के अलावा कोई प्रवेश-द्वार न था। सिर के ऊपर की नीची और झुकी आती छत और कमरे की हवा में पुराने मकान की विशिष्ट तथा प्याज-भरी-सी गंध ! मैं मन-ही-मन मेहरून के जल्दी लौटने की प्रार्थना करने लगा।

शायद इस विपत्ति की भूमिका वहीं बन गई थी जब चार-पांच माह पहले रायपुर की एक शाम मैं इसरार के यहां गया था। इसरार पुराना दोस्त है, बरसों की आत्मीयता और अपनापन के मारे रायपुर जाकर उससे मिले बिना लौट आना कभी नहीं हुआ, अतः उस शाम भी, हालांकि जल्दी में था, लेकिन चला गया।

अप्रत्याशित रूप से उसकी बैठक में किसी लड़की की आवाज सुनकर मैंने बाहर से ही पुकारा था। इसरार ने न सुना हो, ऐसा नहीं है, मेरी आवाज भी निश्चय ही पहचानी होगी, लेकिन 'आता हूं' की सूचना के बड़ी देर बाद उसका निकलना हुआ। पर उससे भी पहले हड़बड़ाकर मेहरून निकली थी।

एक तो शाम का झुटपुटा, दूसरे लड़कियों का मामला ! मैंने देखकर भी नहीं देखा। लेकिन गली के लैंप-पोस्ट से उछली रोशनी ने एक लमहे-भर में जो दिखाया, वह थी सफेद धुली साड़ी का पल्लू सम्हालती घबराई-घबराई लड़की…

"वह कौन थी, जानते हो ?" अंत में स्वयं अपनी ओर से इसरार ने कहा। मैंने अस्वीकृति-सूचक सिर हिलाया तो बोला, "मेहरून थी ! याद नहीं, मैं इसके बारे में तुम्हें कई खतों में लिख चुका हूं ?"

याद थीं, वे सारी बातें याद थीं कि मेहरून एक गरीब वेद्य की लड़की है,

इसरार के पड़ोस में आकर रहने लगी है। मां सिलाई-बुनाई करती है और वह पढ़ती है। उन लोगों ने अपने प्रेम और स्वभाव के कारण ऐसा संबंध बना लिया है कि दोनों परिवारों में बिल्कुल घरोबा हो गया है। कोई दिन ऐसा नहीं जाता कि कई-कई बार आना-जाना न हो। कोई ऐसा त्योहार न था जो उन लोगों के बिना मनाया जाता हो, ऐसी कोई नयी सब्जी न थी जो उनके बिना खाई जाती हो, आदि।

"उस लड़की की बातें सुनो तो बेहद खुशी होती है।" इसरार ने बताया था, "पढ़ने-लिखने और आगे बढ़ने की ऐसी साध है कि रश्क होता है। प्राइवेट तौर पर उसने हाईस्कूल पास किया, इस साल इंटर कर रही है और ऐसा ही जोश रहा तो दो-चार साल में जरूर एम० ए० कर लेगी।"

लेकिन मेहरून की प्रशंसा-भरी बातों से हटकर एक बात और थी जिसके आस-पास पहुंचकर इसरार खामोश हो जाता था। शायद वह चुप न होता तो उसके आगे बहुत कुछ खुलने-खुलने को मैं कभी न फड़फड़ाता और न ही ऐसा कोई अवसर आता कि मैं मेहरून से मिल सकूं।

"मैं तुमसे मिलाना चाहता था," इसरार ने कहा, "लेकिन वह जल्दी में थी। सच मानो, उससे बातें करके तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। अगर मुमकिन हुआ तो कल कोशिश करके मैं तुमसे मिला दूंगा।"

मैंने कोई दिलचस्पी न दिखाते हुए हंसकर टालना चाहा तो बोला, "अभी न सही, फिर कभी सही, और खासकर उस स्थिति में जबकि वह भी जगदलपुर ही जा रही है, मिलना तो हो ही जाएगा।" तब भी अपनी ओर से मैंने कोई उत्सुकता प्रकट नहीं की थी, लेकिन एक-एक करके खुद इसरार ने सारी बातें खोल दीं कि जगदलपुर के एक स्कूल में उसकी नौकरी लग गई है और अपनी अम्मी के साथ कुछ दिनों में वह चली जाएगी।

"तुम मेरे जगदलपुर न आने की शिकायत करते थे न?" इसरार ने प्रसन्नतापूर्वक कहा था, "अब आऊंगा, जरूर आऊंगा। इसलिए भी आना पड़ेगा कि वहां मेहरून है।"

ईमान से कहूं तो इसरार की यह बात मुझे लग गई। उसके कहने से साफ जाहिर था कि वह जगदलपुर आएगा तो केवल इसलिए कि मेहरून है, मेरे लिए नहीं। पर उसके उत्साह को तोड़ने का मन नहीं हुआ और मैं चुप रह गया।

उसके दूसरे दिन भी मैं रायपुर ठहरा था, लेकिन मेहरून से परिचय की बात फिर नहीं उठी और उसे देखे बिना ही मैं लौट आया। शायद इसरार की बात भी झूठ हो जाती और मेहरून से मैं कभी न मिल पाता यदि उसकी वह चिट्ठी न मिली होती।

दो-तीन महीने बाद की बात है। तब तक मेहरून का नाम भी शायद मेरे जेहन से उखड़ चुका था कि एक दिन इसरार का खत आया। लिखा था कि उसकी अम्मी बीमार है, घर में देखभाल करने वाला कोई नहीं इसलिए अम्मी मेहरून को बुलवाना चाहती हैं। इसरार ने इस आशय का एक तार मेहरून को पहले भेज दिया था, लेकिन शायद जवाब नहीं गया। मुझसे आग्रह था कि मैं व्यक्तिगत रूप से उससे मिलकर उसके आने या न आने की खबर दूं।

बस यही था परिचय का आधार, जिसे लेकर मैं पहली बार मेहरून से मिला था, लेकिन ऐसी निराशा हुई कि दोबारा कभी न मिलने की वहीं से सौगंध खा ली। सोचा था कि इसरार की उस खबर को सुनकर मेहरून को उदास हो जाना चाहिए। अपने न पहुंच पाने को लेकर खेद प्रकट करना चाहिए। शायद वह तुरंत जाने की तैयारी करे और मुझे यह लिखने को कहे कि वह कुछ उलझनों में फंस गई थी।

पर उसका शतांश भी नहीं हुआ। उस समाचार को उसने इतने निर्विकार भाव तथा बेपरवाही से लिया कि मैं आश्चर्यचकित रह गया।

"ठीक है, उनको लिख दूंगी, आप बेफिक्र रहें।" उसने कहा, "यों भी मैं जाना चाहूं तो मुमकिन नहीं। नयी-नयी नौकरी है, भला छुट्टी कहां से मिलेगी। और फिर ऐसी कोई खास बात तो है नहीं…"

उस दिन लौटने पर रास्ते-भर यही विचार आता रहा कि इसरार मूर्ख है इस काली-कलूटी लड़की में आखिर उसने क्या देख लिया कि इस तरह बिछा जा रहा है!

"इससे पहले क्या इस मोहल्ले में आप कभी नहीं आए थे?" मेरे सामने के स्टूल पर कंदील रखते हुए मेहरू ने मुझसे पूछा और गोद में हाथ रखती हुई अपनी जगह पर बैठ गई।

कंदील की रोशनी ने एक और नयी चीज की ओर ध्यान खींचा कि मेहरून ने अपने जूड़े में फूल लगा रखे हैं। देखा, आंखें सचमुच बड़ी आकर्षक हैं, शरीर यौवन से गदराया हुआ भी है, लेकिन बातें करते-करते उसके होंठ के कोनों में थोड़ी-थोड़ी थूक इकट्ठी हो जाती है तो अच्छा नहीं लगता।

"मेरा इस मोहल्ले से क्या मतलब हो सकता है?" मैंने हंसकर दूसरी ओर देखते हुए जवाब दिया, "बिलकुल पहली बार इधर आया हूं। आपके घर से तालाब कितनी दूरी पर है?"

"बस, घर के पीछे ही समझिए। इतना लगा हुआ है कि मछुआरों के जाल की आवाज तक साफ-साफ सुनाई देती है। कभी दिन को आइए तो दिखाऊं…"

कहते-कहते बीच ही में बात तोड़कर मेहरून ने उस कमरे की ओर देखा जहां से कंदील लेकर वह आई थी। थोड़ी देर उधर ही देखती रही फिर हंसकर गर्दन फेरती हुई वह धीरे से बोली, "अम्मी हैं! मुझे आने के लिए इशारा करती हैं। उनसे यहां आने के लिए मैं कह-कहकर थक गई लेकिन वह टस-से-मस नहीं होतीं। आपको बताऊं, पुराने लोग सभी ऐसे ही होते हैं, लेकिन हमारी अम्मी का हाल और भी अजीब है। चाहे बेटे की उम्र का क्यों न हो, वह उससे भी परदा निभाती हैं।"

शायद वह घरेलू बातों का अंतिम सिरा था, जिसके जवाब में औपचारिक हंसी बिखेरने के बाद कई मिनट का मौन पड़ गया। इस बीच दो-एक बार उठकर मैंने चलने की बात भी की, लेकिन उसने आग्रहपूर्वक बिठा लिया। यह स्थिति शायद और भी अजीब होती है जब बातचीत के विषय चुक जाएं फिर भी कोई बार-बार बिठा ले और अपनी ओर से कोई बात न छेड़े।

"हां, एक खास प्रश्न तो रहा ही जा रहा था। आप कल घर कैसे आई थीं, यह तो आपने अभी तक नहीं बताया।"

पूछते हुए मेरी आंखों के सामने पत्नी का चेहरा तैर आया था। मेरी अनुपस्थिति में बिना किसी सूचना या परिचय के मेहरून कल घर आई थी, यह खबर देते हुए पत्नी की आंखें कैसे तपने लगी थीं। बातचीत के दौरान में वह यह बताना न भूली कि मेहरून ने जूड़े में फूलों की कतार सजाई हुई थी और हाव-भाव से 'यों ही-सी' लगती थी।

"बताती हूं," वह एक-दूसरी पर पड़ी अपनी जंघा बदलती हुई बोली, "क्या इधर आपके पास इसरार भाई का कोई खत नहीं आया?"

"नहीं तो।"

"मैं दरअसल इस साल बी० ए० करना चाहती हूं। रायपुर में थी तो इसरार भाई बता दिया करते थे। क्या यह मुमकिन है कि आप मेरी थोड़ी मदद करें?"

मदद का अर्थ है ट्यूशन, और रोज आना-जाना! मैं चुप रहा।

वह थोड़ी देर मेरा मुंह ताकती रही फिर कंदील की बत्ती उठाने लगी और उस क्षण मैंने देखा कि मेहरून के चेहरे में एक अजब कठिनता का भाव जाग आया है, कुछ वैसा, जैसे किसी सूखे जाते जख्म की पपड़ी खींचकर अलग करने से पहले का निर्मम, साहस-भरा भाव होता है।

"आपके इसरार भाई के बारे में कुछ कहूं तो बुरा तो न मानेंगे?"

"मेरे इसरार भाई!" मैंने आश्चर्य से पूछा, "क्या वह आपके नहीं हैं?"

एक क्षण कौतुक करती आंखों से घूरने के बाद हंसकर मेहरून बोली, "नहीं, मेरे नहीं। अभी तो आप ही को मुबारक हों। और खुदा का शुक्र है कि यह

बात आपने उनके सामने नहीं कही, वरना…"

"वरना क्या ?"

"कुछ नहीं।" सुनकर मैंने सोचा, आश्चर्य-वाश्चर्य लड़कियों के मामले में नहीं करना चाहिए। चुपचाप मैंने इसरार के बारे में वे सारी बातें सुन लीं और विरोध तक नहीं किया। एक शब्द भी समेटने में शायद चूक नहीं हुई होगी। गर्दन झुकाए मेहरुन की उन दोनों तसवीरों को मन-ही-मन मिलाता रहा। एक सफेद धुली साड़ी का पल्लू सम्हालती वह घबराई-घबराई-सी लड़की और दूसरी बालों में फूल लगाकर मेरे पास बैठी हुई।…अच्छा, उन बातों को मुझे सुनाने के पीछे क्या छिपा है ? क्या मेहरुन ने जो कुछ कहा वह सब सच है और क्या यह भी सच कि…

"आपको बुरा नहीं मानना चाहिए।" वह बोली थी, "अकेले इसरार की ही बात नहीं, आप सभी लोगों की मुझे यह एक खास कमजोरी लगती है। क्या यह जरूरी है कि लड़की जिस-जिससे मिले उन सबको प्यार करती चले ? मैं कल आपके घर चली गई या मैंने आज आपको बिठा रखा है, क्या इसका मतलब यही होता है कि मैं आपसे शादी करना चाहती हूं ?"

एकाएक कोई जवाब न सूझने के कारण या संकोच के मारे मैं हंसने लगा था। पर क्या वह हंसी सचमुच हंसी-जैसी थी ? और काफी देर वहां से बाहर निकलते समय मेरा चेहरा क्यों उतरा हुआ था ? क्या सचमुच इसरार पर क्रोध के बदले अब मुझे दया आने लगी थी ? △

छल

दीवार की ओट में दबे पांव खड़ी हो गई और सांस रोके हुए प्रतीक्षा करने लगी कि देखूं राशिद भाई क्या कहते हैं।

बीच वाले दरवाजे पर परदा पड़ा हुआ था। हवा से परदे के हिलने या आगे-पीछे डोलने से, दालान की कुर्सी पर बैठे राशिद भाई के रूखे खुरदरे पांव दीख जाते थे। पापा एकदम उधर बैठे थे। बीच में दीवार की जड़ भी थी, लेकिन मेरी आंखों के सामने खिंच आया कि नीचे टांगें डाले और एक ओर गर्दन फेरे पापा चारपाई पर बैठे हैं और राशिद भाई की बातें सुनकर पिघले जा रहे हैं।

संभवतः अम्मी का विश्वास सबसे अधिक डिगा हुआ था। राशिद भाई को देखते ही उनके चेहरे का रंग बदल गया था। तब वह दालान में बैठी पान लगा रही थीं, धीरे से सिर झुकाकर, पापा के सुनते और राशिद भाई के न सुनते तक हताश स्वर में बोली थीं, "लो, राशिद आ रहा है!"

राशिद भाई सचमुच सुन नहीं पाए। आकर चौखट पर खड़े हो गए, एक

बार सहमती आंखों से अम्मी की ओर देखा, मानो कुछ सुनना चाहते हों, फिर पापा की ओर ताकते हुए भराए स्वर में बोले—

"भाई जान, मैं माफी मांगने आया हूं।"

चूना-कत्था लगे और सामने फैले अवबने पान ज्यों-के-त्यों छोड़कर अम्मी वहां से तत्काल उठीं और गुस्से से कसा तथा रूखा चेहरा लिए किचन के भीतर हो गईं। मैं बाथरूम से निकल रही थी। राशिद भाई को देखकर थोड़ा ठिठकी। फिर दोनों के बीच वाले दालान से गुजरकर सीधे अपने कमरे में चली आई।

किचन में अम्मी क्रोध के मारे बर्तनों की उठा-पटक करती हुई बड़बड़ा रही थीं। पहले जूठे और सूखे जाते बर्तनों को लेकर झल्लाती रहीं कि नौकरानी भी नसीब से मिली है। उसके बाद मुझे कोसने मिले कि पढ़-लिखकर नौकरी क्या करने लगी हूं, इधर चूल्हे-चौके से मैंने दिलचस्पी हटा ली, जब देखो अपना कमरा है, किताबें हैं या स्कूल है···

उसी समय बीच में अचानक एक पर्दा पड़ गया। कहीं से एक लोडेड डीजल ट्रक आकर ठीक मकान के सामने रुका और उसके शोर में भीतर की आवाज मिलकर रह गई। कुछ देर मैं सब्र किए पड़ी रही, लेकिन जी जल-भुनकर रह गया, जब देखा कि न तो ट्रक हटता है और न उसका इंजिन बंद होता है।

मैं जैसे ही उठी कि बढ़कर बाहर वाली खिड़की बंद कर दूं, देखा सिर-पल्लू का ध्यान रखे बिना बिल्कुल धड़धड़ाती हुई अम्मी मेरी ओर चली आ रही हैं। मैं अवाक् और चुप। कुछ पूछूं कि सीधे मेरे पास पहुंच कर वह घबराए हुए स्वर में बोलीं, "नाजो, चलकर देख तो, राशिद गिड़गिड़ाकर माफी मांग रहा है और ये पिघलते जा रहे हैं। इनका क्या भरोसा, अपनी इसी दरियादिली से हम लोगों को यहां तक पहुंचा दिया है, अब रहा-सहा भी कहीं मिट्टी में मिल गया हो तो···"

कोई नयी बात नहीं है। जब से होश संभाला है, पापा पर इल्जाम लगाकर अम्मी को उसी तरह सांस भरते हुए सुना है। ठीक है, अपनी भूलों, नासमझी या सादालौही के कारण पीढ़ियों की पुश्तैनी जायदाद पापा ने खो दी, आज ये दिन भी आ गए कि मुझे नौकरी करनी पड़ रही है, लेकिन हर बार उसी बात पर मातम करने से क्या गुजरा सब लौट आएगा।

लेकिन जाने क्या बात थी कि इस बार के अविश्वास से न तो चोट लगी और न दुःख हुआ। अलबत्ता पापा पर दोहरा प्यार उमड़ आया। अम्मी वापस लौटीं तो उनके पीछे सहमे हुए डग उठाती मैं भी गई और चुपके से दीवार की ओट दबे पांव खड़ी हो गई कि देखूं राशिद भाई पापा से क्या कहते हैं।

बाहर की सड़क पर खड़ा ट्रक जा चुका था और दूर से उसके स्पीड लेते

इंजिन की आवाज आ रही थी। अम्मी मेरे पास लौटकर फिर किचन में घुस गई थीं। पापा शायद उसी करवट बैठे थे। परदे के निचले छोर और चौखट के बीच की पोली जगह से देखा कि राशिद भाई के खुरदरे पांव तथा सूखे टखने कुर्सी के नीचे बराबर जमे हुए हैं।

अंत में पापा ने ही सांस भरकर कहा—

"राशिद ! मेरे नसीब ही बुरे हैं। सोना छूता हूं, मिट्टी होती है। जिसके लिए नेकी करता हूं, वही मुझे दरिया में धकेलता है। जिंदगी-भर मैंने तुझ पर एहसान किए और बदले में हमेशा तूने हम लोगों को यही दिया है।"

क्या राशिद भाई का सिर अपराध भाव से झुक न गया होगा ? अधीर स्वर में गिड़गिड़ाए—

"कौन नहीं जानता कि मां की लाश बेकफन पड़ी थी, तुम्हीं लोगों ने उसे इज्जत की मिट्टी दी। बीमारी में दवा-दारू हो या तीमारदारी, नाजो ने हमेशा सगे भाई की तरह संभाला है। और बताओ, मेरा यहां कौन बैठा है ? तुम लोगों को तंग न करूं तो किसे करूं ? खुदा गवाह हैं, मैं अपनी गलती पर शर्मिन्दा हूं और माफी चाहता हूं···"

"अभी मांग ले माफी, क्योंकि मतलब है न ?" अपना धैर्य छोड़कर एकाएक किचन से निकलती हुई अम्मी चिल्लाईं—"कल जब काम होगा तो जूते लेकर खड़े हो जाना। नहीं-नहीं भैया, माफ करो, नेकी करके हमें थाने की सीढ़ियां नहीं चढ़नी हैं।"

शायद कुछ क्षण हतप्रभ से राशिद भाई ताकते रहे। फिर एकाएक भर्राई आवाज से बोले, "भाभी, गलती के लिए मेरी पीठ पर लात मारो, पेट पर नहीं। बुढ़ापे के इन छोटे-छोटे बच्चों का क्या करूंगा···"

राशिद भाई रोने लगे थे।

और मुझे लगा कि घर में सबसे ज्यादा कच्चा और कमजोर मन शायद मेरा ही है। इतना कमजोर कि जरा-सा धक्का लगे कि अपने पर अधिकार नहीं रख पाती, लड़खड़ाकर वह जाती हूं, वर्ना राशिद भाई के जरा-सा रो देने भर से मेरे पांव क्यों उखड़ने लगते ? या हठ-मर्यादा की कसावट वाले समस्त बंद क्यों एक-एक कर टूटने लगते ?

वैसे राशिद भाई मेरे फूफीजाद भाई होते थे। अपने भाग्य के कारण बड़े बाप के बेटे होकर पैदा हुए थे। शुरू की जिंदगी खूब लाड़-प्यार और चोंचलों में भी गुजरी थी, लेकिन जवान होते-न-होते तकदीर ने उनसे ऐसा मुंह फेरा कि वह सीढ़ी-दर-सीढ़ी उतरते चले गए थे। दरख्वास्तें लेकर सरकारी दफ्तरों को खटखटाते फिरे थे, लेकिन बाद में मजबूर होकर दर्जीगीरी की शरण लेनी पड़ी थी। इस आखिरी राह पर भी वह इतनी देर से आए थे कि न आए होते

तो अच्छा था। जितने समय में उन्हें मशीन चलाना आ जाना चाहिए था, उतने में काज-बटन से छुट्टी नहीं मिल पाई थी और उम्र के लिहाज से जबकि उनकी खुद की दूकान होनी चाहिए थी, वह दूसरों की नौकरी ही कर रहे थे और उस नौकरी का भी यह आलम कि आज इसके यहां हैं, कल उसके यहां और परसों अपने ही घर पर बेकार बैठे हैं।

शायद राशिद भाई का भाग्य गुलाब के उस पौधे की तरह था जिसने फूलना शुरू किया तो पत्ती-पत्ती से ढंक गया और वीरान होने लगा तो सारी टहनियां सूखी झाड़ी बन गईं। पहली-पहली उमर के कई महत्त्वपूर्ण साल जमने-जमाने की चिंता में ही निकल गए थे। शादी-ब्याह के बारे में सोचना ही दूर की बात थी। लेकिन एक दिन किसी रिश्तेदार की बात लग गई कि संघर्ष तो जीवन-भर लगा ही रहता है, उससे डरकर कोई अपना घर-बार ही न बसाए, यह कहां की बात हुई?

राशिद भाई ने इसे भी महसूस करने में इतनी देर कर दी कि उनकी उम्र के लिहाज से कुंआरी लड़कियां मिलना आसान बात न थी। आखिर उनके भाग्य में आई एक अधेड़ उम्र की परित्यक्ता स्त्री और उसी के साथ चालीस की अवस्था में उन्होंने अपना दूसरा जीवन शुरू किया था।

कारण कुछ भी हो, चाहे गलत वक्त पर किया गया अनमेल ब्याह, राशिद भाई की गरीबी और असमर्थता अथवा उनका स्वभाव, वह ब्याह उन्हें फला नहीं। बरसों बाद जिस सुख की साध उन्होंने डरते-डरते की थी वह भी छलना-मय सिद्ध हुई। ब्याह के पांच साल बाद ही वह टूट गए और ढलती उम्र में दो बच्चों के बाप बनने की खुशी, जीवन-संघर्ष की कटुता में ऐसी घुलकर रह गई कि शरीर पर कई साल बाद का बुढ़ापा पहले से ही आकर बैठ गया।

भाई-भाभी में छत्तीस का संबंध हो गया है। दिन हो या रात, अक्सर उनके घर कुहराम मचा रहता है और दोनों के झगड़े की आवाज सारे मुहल्ले में गंदी गालियों व चुनौतियों के साथ गूंजती रहती है, भले ही उसका आधार मामूली-सा क्यों न हो।

अक्सर यूं होता कि हम लोग सब थके-मांदे सोए हैं और नींद अचानक उचट जाती। न झगड़े की शुरुआत का पता होता न अंत का। बस यही सुनते कि गले की पूरी ताकत से चिल्ला-चिल्लाकर सवाल-जवाब किए जा रहे हैं, गालियां बकी जा रही हैं या एक-दूसरे का जनाजा उठने की कामना की जा रही है।

अल्लाह-अल्लाह का वक्त है, अधिकांश अपने-अपने घरों में चुपचाप बंद हैं, लेकिन राशिद भाई का घर है कि बाकायदा आबाद। थोड़ी देर में सुनते हैं कि एक-दूसरे के खानदान की बखिया उधेड़ी जा रही है, आपस में छीना-

झपटी तथा मारपीट चल रही है और आवेश में राशिद भाई शाम तक पंचों को बुलाकर तलाक दे डालने की घोषणा करने लगते हैं···

झगड़े के दौरान राशिद भाई जैसे बिल्कुल नंगे हो जाते थे। न आस-पड़ोस का लिहाज रहता था और न बाल-बच्चों का ख्याल। ऐसी-ऐसी फूहड़ गालियां बकते कि पापा-अम्मी के साथ मेरा आंगन में रहना कठिन हो जाता। अम्मी गुस्से में दांत पीसकर दबे स्वर में बोलतीं, "यह राशिद कितना कमीना और नीच हो गया है—नंगे लुच्चों से भी बदतर और बदजात, तोबा?"

और मेरे लिए एक ही उपाय रह जाता कि मैं वहां से गर्दन झुकाकर चुप-चाप अपने कमरे में उठ आऊं।

दरअसल, वे चाहे जैसी गालियां बकें और चाहे जैसा तमाशा खड़ा करें किसी में साहस न था कि उनसे सीधे-सीधे कुछ कह सके। एकाध बार मुहल्ले वालों के आग्रह पर अम्मी ने उन्हें समझाने की कोशिश की थी।

"राशिद मियां! भले आदमी की औलाद होकर रोज यह क्या तमाशा करते हो? क्या इज्जत-आबरू का रत्ती-भर भी ध्यान नहीं? अरे अपना नहीं तो दूसरों का तो ख्याल रखो···"

राशिद भाई उस समय गुस्से में थे, बिगड़ गए और तमककर बोले थे, "अजी हम चाहे भले आदमी हों या कमीने, अपने लिए हैं। अपना कमाते हैं, अपना खाते हैं, किसी साले के यहां मांगने तो नहीं जाते कि दबकर रहें? तुम्हें अगर इज्जत-आबरू का इतना ही ख्याल है तो कमीनों के मुंह क्यों लगती हो?"

बात शायद उसी समय बढ़ जाती, लेकिन अम्मी गुस्से को पी गई थीं। बाद में पापा के आने पर बात फिर उठी थी तब भी राशिद भाई इसी तरह बकने लगे थे और उसका नतीजा यह हुआ था कि जब बात हद से गुजर गई तो गुस्से में कांपते हुए पापा उठे थे और कई लात-घूंसों से राशिद भाई का मुंह बंद करके लौट आए थे।

उस दिन के बाद झगड़ा-कुहराम तो नहीं रुका, हां दो बातें हुई थीं। एक तो राशिद भाई का हमारे घर आना-जाना रुक गया था और बातचीत बिल्कुल बंद हो गई थी। दूसरे, हम लोग बस्ती भर में बदनाम हो गए थे। राशिद भाई ने हम लोगों के बारे में कई गलत-सलत और वाही-तबाही बातें बस्ती में फैलाई थीं और वैसा करते वक्त एहसानों की बात तो दूर, एक मिनट के लिए भी यह नहीं सोचा था कि मैं रिश्ते में उनकी बहन लगती हूं और घर पर कुंवारी बैठी हूं···

घर पर राशिद भाई का आना-जाना बंद होने से अम्मी को खुशी ही हुई थी, लेकिन शायद राशिद भाई इस तरह आसानी से छोड़ने वाले न थे। चूंकि

दोनों घरों के बीच एक दीवार की ही आड़ थी, इसलिए अपने घर से हम लोगों को सुना-सुना कर बीसियों उलाहने दिया करते थे। उनका मकसद यह होता था कि किसी तरह अम्मी को इस बात पर ताने तिरने दे सकें कि वह अपने मायके वाले रिश्तेदारों का घर भरती हैं और अब्बा के लोगों को हमेशा दुर-दुराती हैं।

"सुनती है नाजो, सुनती है ?" अम्मी सहसा अपना काम छोड़कर कहती थीं। वह कुत्ता मुझे कैसी बोलियां मारता है। अरे मेरा बस चले तो इस कमीने की गर्दन का चुल्लू भर लहू पी लूं।"

सचमुच, अगर मैं घर पर न रहा करती तो किसी भी दिन ले-दे हो गई होती, लेकिन फिर जाने कैसे यह सब अचानक बंद हो गया था और करीब माह-भर वे आश्चर्यजनक रूप से चुप रहे थे। यहां तक कि बाद-बाद में उनकी उपस्थिति का भी पता नहीं चल पाता था।

एक दिन शाम को पापा बाजार से लौटे तो काफी झिझकते-झिझकते घर के अंदर घुसे थे और बड़ी देर तक कुछ कहने के लिए माहौल बनाते रहे थे। अंत में धीरे से उन्होंने कहा, "राशिद अभी मेरे पास पहुंचा था।"

"कहां !" अम्मी ने आश्चर्य के साथ पूछा।

"मिर्जा साहब के यहां। उसे मालूम है कि शाम की मेरी बैठक वहीं होती है।"

"क्या कह रहा था ?"

थोड़ी देर ठहरकर पापा ने जवाब दिया था, "दो महीने हुए उसकी नौकरी छूट गई है। कहता था कि सिलाई की मशीन खरीदकर अपनी दूकान खोलेगा।"

"तो ? क्या पैसे चाहिए ?"

"नहीं, मेरे पास ही कौन कारूं का खजाना है। सुना है, यहां कोई ऐसा सरकारी दफ्तर खुला है जो छोटे-मोटे उद्योगों को बढ़ाने के लिए कर्जा देता है। वहीं से राशिद भी एक हजार रुपए उठा रहा है।"

"फिर !"

"कहने लगा, पैसे मिलने में देर नहीं, सिर्फ किसी की जमानत चाहिए। भाई, मिर्जा साहब व दूसरे दोस्तों के सामने बहुत रोने-गिड़गिड़ाने लगा, सो मैंने जमानत के लिए हां कर दी है।"

अम्मी बड़ी देर तक पापा को अविश्वास भरी आंखों से घूरती रहीं, फिर एक बार मेरी ओर देखा और जहां खड़ी थीं वहीं एक सांस भरकर पसरती हुई बैठ गईं।

और उसके बाद कम हाय-तौबा नहीं मची थी। जो कुछ अम्मी के मन में

आया उन्होंने सब कह डाला था। वे सारे पुराने आरोप दुहराए गए थे कि सब कुछ तो गया ही, सारी जिंदगी की जमा-पूंजी से एक सिर पर साया बना है उसे भी झोंक दो और उसके बाद बाल-बच्चों का गला घोंट देना। हद है, यह किसकी जमानत ली जा रही है? उसकी, जिसने अब तक का सारा किया-कराया भुलाकर रख दिया है? उसकी, जिसने सारे समाज में हम लोगों के मुंह पर थुकवा दिया है?"

पापा पर उन बातों का असर नहीं हुआ था। वह बराबर अड़े रहे थे कि उन्होंने वादा कर दिया है तो पूरा करेंगे ही। आखिर इन्सानियत भी कोई चीज होती है। क्या महज अपनी जिद के लिए देखते-देखते भी किसी को मर जाने दिया जाए?"

उस रात बावर्चीखाने में कोई नहीं गया था। सारा पका हुआ खाना ज्यों-का-त्यों ठंडा हो गया था।

लेकिन दूसरे दिन ही सारा तनाव जाता रहा था और घर की नार्मल जिंदगी लौट आई थी। मैं अपने कमरे में थी कि अचानक पापा आकर मेरे सामने खड़े हो गए थे। रूखा और उदास चेहरा लिए हुए उन्होंने शायद पल-भर मेरी ओर देखा था। फिर गंभीर स्वर में बोले थे, "नाजो, अपनी अम्मी से कहना कि मैं अपने वादे से मुकर गया हूं। राशिद को मैंने कहला दिया है कि वह दूसरा इंतजाम कर ले। उम्मीद है, अब तुम लोगों को खुशी होगी।"

और इतना कहकर जैसे आए थे, उन्हीं पांवों से वह लौट गए।

"नाजो!"

बिल्कुल अपनी पीठ से लगी-लगी एक मोटी तथा भर्राई आवाज से चौंकते हुए मैंने देखा कि पपीते के सूखे जाते पत्ते की तरह अल्लर और उसकी बनी नलिका की तरह टूटे-टूटे से राशिद भाई मेरे पास खड़े हैं।

अनचाहे ही एक क्षण के लिए उनके चेहरे की ओर नजर गई थी, पर कठिनाई से दो पल देखने के बाद मैंने आंखें हटा लीं। लगा, उनकी निस्तेज-सी दीखती आंखों की तरलता को झेल पाने की हिम्मत मुझमें ही नहीं है। क्या यह वही राशिद भाई हैं जिन्होंने बहन का रिश्ता भुलाकर मेरे बारे में वैसी हल्की बातें फैलाई थीं?

"मैं," एक पल ठहरकर राशिद भाई ने गला साफ करते रहते हुए धीरे से कहा, "मैं तुमसे भी माफी मांगता हूं..."

राशिद भाई का स्वर और अंदाज ऐसा था कि मैं भीतर से अचानक पिघल कर रह गई। सचमुच, ऐसे क्षणों को जीतना मुश्किल है! लेकिन अंत में अपने-

आपको बांधकर, पूरी निर्ममता के साथ मैं रूखी बन गई। बोली कि राशिद भाई, माफ करने वाली मैं कौन ? हम लोगों की नेकी का जो बदला तुमने दिया है, उसकी ओर से इंसान की आंखें चाहे मूंद लो, खुदा जरूर देख रहा है।

राशिद भाई ने फिर उसी अधीर और पश्चात्ताप-भरे स्वर में अपनी गलती स्वीकार की। हाथ में धरे कागजों को मेरे सामने फैलाकर दयनीयता से बोले, "यह देखो···मामू के कहने के मुताबिक जमानत के ये कागज मैंने टाइप भी करवा लिए थे, लेकिन अब वे इनकार करते हैं। कहते हैं कि जायदाद भले मैंने बनाई है, लेकिन वह है नाजो के नाम और उसके बिगाड़ने का हक मुझे नहीं···"

उस समय मैं पापा का चेहरा देखना चाहती थी, लेकिन वह तब भी आड़ में थे। क्या सचमुच, यह पापा ने कहा है ?

"राशिद," अबकी बार अचानक सामने पहुंचकर अम्मी ने कहा, "माफी-आफी की बात नहीं, भैया। और माफी भी तुम क्या मांगोगे ? उल्टे हमीं लोग तुम्हारे हाथ जोड़ते हैं···"

राशिद भाई ने वेदनापूरित और थरथराती पलकों से अम्मी की ओर देखा, कई पल मुझे देखते रहे फिर निढाल-से पड़कर, कागजात उन्होंने वहीं धर दिए। बड़ी देर तक पत्थर बने हम तीनों-चारों वहीं खड़े रहे। खुदा बेहतर जानता है, क्षणों की लंबाई का वैसा एहसास उससे पहले जीवन में कभी नहीं हुआ था। उतनी ही देर में राशिद भाई की कर्कशा पत्नी और उनके बेशऊर बच्चों के चेहरे आंखों के सामने उभर आए थे।

लगा, उस वक्त अपनी ऊपरी कसावट जरा-सी ढीली करते ही हम लोगों के मन की असलियत खुल जाएगी कि दरअसल नाराजगी के बहाने असमर्थता और मजबूरी छिपाई जा रही है।

"ठीक है···"

कहकर अंत में राशिद भाई संभले और पापा से मिले बिना सीधे बाहर की ओर बढ़ने लगे। जब अम्मी पूरी तरह आश्वस्त हो गईं कि आने वाली विपत्ति पूरी तरह टल गई है तो एक राहत की सांस लेकर वह भीतर चली गईं।

मैंने एक बार छूटे हुए कागजात और फिर बाहर का गेट खोलकर निकलते हुए राशिद भाई की ओर देखा। फिर खुदा जाने क्या हुआ ! अचानक मुझे लगा कि मेरे शरीर के अवयवों ने मेरा ही साथ छोड़ दिया है। मैं निश्चल और निःशब्द खड़ी थी, लेकिन मेरी दोनों बांहें एक झटके से यों खुल गईं जैसे वे निकले जाते राशिद भाई को सचमुच लौटा लाना चाहती हों△

फांस

दूसरी करवट बदलने का साहस उसे नहीं हुआ, हालांकि मुड़ी हुई कोहनी पर देर तक सिर टिकाए रखने के कारण यह पूरा हाथ ही सुन्न हो गया। गर्दन लगातार एक ही जगह डाले रखने के कारण दाएं हिस्से और पीठ की मांस-पेशियां दुखने लगी थीं। फिर नंगी चटाई की फांसों के अलावा नीचे की सख्त मिट्टी वाला फर्श पसलियों में अलग दर्द पैदा कर रहा था।

वह उठी और दीवार के सहारे पीठ टेककर ऊबी हुई-सी बैठ गई।

दरवाजे के खुले पल्लों से बाहर के आकाश का जितना टुकड़ा नजर आता था, उसमें एक ही तारा चमक रहा था, ठीक उसकी ही तरह धुंधला-धुंधला या डबडबाया-सा···

अभी वह और कुछ सोचे या करे कि दूर से सहसा मांदर की आवाज जरा तेज होकर बह आई। उसमें नवयुवतियों के हाथ पड़ी गुजरियों का लय-ताल के साथ पटके जानेवाला स्वर झन्नन-झन्न···झन्नन-झन भी था और गीत भी—ऐसा गीत जिसका अर्थ और मर्म उसके अलावा और कौन समझ सकता था?

कभी रात बीते अचानक दूर से आने वाले गीत की आवाज उसे कितनी

अच्छी लगती थी···खास तौर पर जब वह मंदिर के साथ मिली-जुली होती हो या चुपचाप सोयी पहाड़ियों को झकझोर या घाटियों को खंगाल सहसा आ खड़ी होती हो।

लेकिन आज वह गीत मांदर समेत भी उसे अच्छा नहीं लगा। इस तरह के सन्नाटे में अब ऐसा गीत कहीं भीतर गहरे उतरकर कितनी बुरी तरह सालने लगता है···

उसे लगा जैसे अचानक जी घबराने लगा है। बेमौसम की उमस, कुछ अजीब-सी बेचैनी और ऐसी छटपटाहट जैसे बंधे हुए डैनों की होती है। बहुत दिनों पहले एक बार यही हुआ था जब कोसा नदी के पास वाले कोसुम पेड़ के नीचे चांद-चढ़े उसकी प्रतीक्षा कर रहा था और वह रात तीसरे पहर तक निकल नहीं पाई थी और जैसे-तैसे करके जब पहुंची भी तो कोसा जा चुका था—उसे छटपटाने और खीझने के लिए अकेली और बिल्कुल अकेली छोड़-कर···

दरवाजा खोलकर वह बाहर निकल आई। बाहर की फिसलती हवा ने मुट्ठी-भर ठंडक उसके चेहरे, खुले वक्ष और बगलों में भर दी और सिहरन को संभालती-संभालती भी वह कांप गई।

अब तक दूर से आता मांदर का स्वर जरा हल्का होने लगा। गीत के बोल इतने मद्धम हो गए थे कि केवल ब्याह के मंडप का शोर वातावरण में रह गया था। लोग जरूर अब लांदा पी रहे होंगे, क्योंकि उसी भीड़ में, नशे में धुत्त बना हुआ, कोई चिल्ला-चिल्लाकर गंदी गालियां बक रहा था।

वह बड़ी देर तक वहीं अंधेरे में खड़ी रही।

लो, अब बोटी का भी ब्याह हो रहा है। सुबह की सफेदी बिखरने के पहले वह भी गांव छोड़कर चली जाएगी। ले-देकर एक बोटी ही गांव में ब्याहने को रह गई थी, कल से उसका साथ भी छूट गया।

हालांकि बोटी उससे आठ बरस छोटी थी, लेकिन जब तक वह गांव में कुंवारी बैठी रही, उसे झूठ-मूठ की तसल्ली मिलती रही कि वह अकेली नहीं। इससे पहले इसी गांव में एक-दो बरस के अंतर से पूरी पांच सहेलियों के ब्याह में वह शामिल हुई थी। अब तो उनमें से प्रायः सभी एक-एक, दो-दो बच्चों की मां बन चुकी थीं।

अपना मन-पसंद दूल्हा पाकर बोटी कितनी प्रसन्न है। तीन दिन पहले जंगल में पत्ते तोड़ती-तोड़ती बोटी उसे अपने ब्याह की खबर दे, अचानक लिपट गई थी और कहा था—

नीको दीदी, तू मेरे ब्याह में नहीं आई तो मैं हल्दी धुलवा लूंगी।

उसके घर से सब गए थे—मां-बाप, छोटी बहन, दादा और पड़ोस के

तमाम लोग, लेकिन सिर्फ वही नहीं गई। जाने क्यों, वोटी के व्याह में जाने का उसका मन ही नहीं हुआ और मां के बार-बार जिद करने पर भी वह बहाने बनाकर लेट गई थी।

अकेली वह जरूर हो गई थी, लेकिन घर में अंधेरा नहीं हुआ। सबके चले जाने के बाद भी देर गए उसके सिरहाने दीया जलता रहा था। उसकी थरथराती लौ पर आंखें लटकाए वह बड़ी देर तक निस्पंद-सी पड़ी रही थी। लौ से निकलते काले धुएं की लकीरों में सबसे पहले कोसा का सांवला और स्वस्थ चेहरा बना था। पूरे शरीर समेत वह उनके सामने खड़ा हो गया था। फिर उसके बाद एक-एक करके वे तमाम सहेलियां आई थीं—चेती, रामी, बुदरी, हिंगे···वे सब जो व्याह के बाद फिर कभी नजर नहीं आई थीं।

शायद रामी का ही व्याह था जिसमें वह नया-नया घाव लेकर शामिल हुई थी। हालांकि उसके टूटने की बात सब जानते थे तो भी उसने अपने हाव-भाव से ऐसा जाहिर किया था जैसे बिल्कुल भरी-पूरी हो। व्याह में इतना हंगामा और शोर उसने इससे पहले कभी न मचाया था। अपने को सिंगारने में ही उसने कितनी देर लगा दी थी। उसकी गर्दन से लेकर पेट से जरा ऊपर तक नीली, लाल और सुनहरी मालाएं लदी थीं। गले में रुपयों का हार और हंसली थी, फिर चांदी के कर्णफूल, कलाइयों में गिलट के कंगन, पांव में पैंड़ी, बाएं कान के पास बालों में खुंसा हुआ छोटा-सा आईना, ककुआ और कुंद फूल। जूड़े में चौंरी के साथ दूध जैसी उजली कौड़ियों की सजावट, उनका गुंथाव, कसाव और खूब शिकनों वाली चौड़ी किनारे की कैंतकी साड़ी···

उस रात वह लगातार सुबह तक नाचती रही थी। सारी रात उसने लांदा पिया था और ऊपर से समली के पति ने सलपी पिला दी। जबरदस्ती ही उसे कंधों से भींच, उसने एक हाथ से उसका जूड़ा पकड़ा था और गर्दन ढलका कर उसके मुंह में आधी तूंबी सलपी उलट दी थी और वह अवश हो गई थी।

सचमुच, उस रात समली का पति बिल्कुल कोसा की तरह लगने लगा था—वही बच्चों जैसा आग्रह, उसी तरह की मुस्कराहट, वैसी ही बातें और उसी अंदाज में उसका मांदर बजाना। आज भी कोसा की तरह मांदर बजाना गांव में किसी को नहीं आता···

उसने काफी चकित भाव से अपने सिर को पास वाले एक पेड़ के तने से टिका दिया। लाख अपने दिमाग से वह कोसा की बातें निकाल फेंकना चाहती है, लेकिन उससे क्यों नहीं होता? घूम-फिरकर बस उसी की बातें या उसी का चेहरा-मोहरा। आखिर उसमें है क्या? एक बेईमान आदमी, जिसकी सूरत तक से वह आज नफरत करती है।

आज भी वह उन क्षणों को कोसती है जब घोटुल का जरा-सा परिचय

उसके लिए जानलेवा बन गया।

सर्दी की रातों में एक अंगीठी के सामने बैठे नाच से पहले कोसा ने जाने कौन-कौन सी बात कह दी थी कि वह थक-सी रह गई थी और वे क्षण भले उसके लिए भारी बन गए हों, लेकिन उसके बाद कई बार घोटुल के भीतरी कमरे में कोसा के बाल संवारते, बांहों में तेल मलते या जूं बीनते-बीनते उसने कोसा की पीठ से सटकर अनजाने ही अपनी गर्दन उसके कंधे पर टेक दी थी—इतने अनजाने कि इसका पता भी उसे काफी दिनों बाद चला।

दरअसल वह कुछ और दिनों की बाट देख रही थी, कुछ और गहरे क्षणों की, लेकिन गांव-भर में उसके ब्याह की प्रतीक्षा की जा रही थी, तभी अचानक उसके पूरे परिवार वालों को उसके मामा के यहां दूसरे गांव चले जाना पड़ा। और हालांकि वह महीने-भर में ही लौट आई, लेकिन कोसा नहीं मिला। जाने कब और कैसे वह उसकी आंखों में धूल डालकर घोटुल की एक और लड़की मासे से मिलता रहा था। जब मासे के मां बनने की खबर गांव-भर में फैली तो कोसा का नाम लिया जाने लगा। बात फैलने पर रस्म और पंचायत के मुताबिक कुछ रुपए, एक सूअर, मुर्गी और बिरादरी के लोगों को भात-लांदा देकर कोसा ने मासे से ब्याह कर लिया और विपत्ति से कट गया, लेकिन वह···?

लौटकर उसने फिर कोसा से बात नहीं की। कुछ पूछा तक नहीं। न रोई-गाई, न शिकायत की। हालांकि कोसा ब्याह के बाद दो-तीन बार उसके घर के सामने से गुजरा था और एक शाम तो जब वह जंगल में टोकरा लिए एक पेड़ के नीचे झुकी महुआ चुन रही थी, कोसा ने उसे अचानक आ घेरा था।

तब टोकरा फेंककर उसने कमर से कडरी (छुरी) निकाल ली थी। और क्षण-भर के लिए स्तंभित-सा होकर कोसा रह गया था।

"मेरे शरीर को छुआ तो तेरा पेट चीर दूंगी।" उसने दांत पीसकर कहा था।

कोसा हंसने लगा था। फिर वह हंसता-हंसता आगे बढ़ गया था, "ले चीर डाल।"

उसने क्षणकाल के लिए कोसा की आंखों में अपनी पलक ठहरा ली थी, कुछ देर देखती रही, फिर कडरी फेंककर वह रोने लगी—

"मैं तुमसे बात नहीं करना चाहती कोसा ! मैं तेरी···"

अचानक सामने के पेड़ों के पास जरा आहट हुई। उसने चौंककर देखा—कुछ नहीं था, केवल सूखे पत्तों का खड़खड़ाना और फिर हवा से धीरे-धीरे फिसलना। लगा, रात आज नहीं थकेगी···

उस दिन उसने अपनी उम्र का हिसाब लगाया था तो वह उन्नीस की थी।

एक कौतुकवश, अपनी जगह लेटे-लेटे उसने पास की दीवार पर पत्थर से उन्नीस लकीरें खींच दी थीं और तब से बराबर उस दीवार पर महीने और बरस के हिसाब से लकीरें जुड़ती जाती हैं।

उन्नीस के बाद जब तीन लकीरें दीवार पर और जुड़ीं तो एक रिश्ते की बात पास के गांव से आई थी। लड़का उससे सिर्फ दो बरस छोटा था, लेकिन मर्द की उम्र का क्या है ? लड़के के मां-बाप किसी बाजार में ही लड़की देख गए थे, अतः एक निश्चित दिन शराब, लांदा और सूअर की सौगात के साथ बात पक्की कर गए। उसी दिन तय हुआ था कि चांद के तेरहवें दिन जब वह नदी से लौट रही होगी, रस्मो-रिवाज के मुताबिक लड़का आकर उसे भगा ले जाएगा।

चांद निकलने में अभी देर थी और नदी में सन्नाटा पड़ गया था। जल्दी-जल्दी लगभग भागती-सी वह नदी तक पहुंची थी। धक-धक करती हुई, इधर-उधर एक बार देखकर उसने घड़ा पानी में डाल दिया और एक हाथ से घड़े का मुंह पकड़े और पेट-छाती को घुटनों से दबाए वह देर तक नीचे सिर किए बैठी रही, पर कोई चौंकाने वाली घटना नहीं हुई। वैसे ही बहुत-सा समय बीत गया और वहां से निकलकर बरगद के तले तक आते-आते भी कोई नहीं आया। घड़ा एक ओर रखकर वह घंटा-भर और रास्ता देखती रही और अंत में घायल और अपमानित-सी रोती हुई लौट आई थी।

दूसरे दिन पता चला कि लड़के ने उससे ब्याह करने से इनकार कर दिया है। कहता है, नीको उससे बड़ी और मोटी है।

उस घड़ी उसे भले गुस्सा आया हो, पर उसके कुछ महीनों बाद किसी मेले में उसने उस लड़के को देखा। उसे हंसी आई थी। उसे प्रसन्नता भी हुई और तरस भी आया। वह एक दुबला-पतला मुश्किल से अठारह बरस का छोकरा था जो अभी बचपन तक ठीक से छोड़ नहीं पाया था। और उसने सोचा कि अच्छा हुआ जो उस छोकरे से उसका ब्याह नहीं हो गया, वर्ना उसे तो भाग ही जाना पड़ता।

दीवार पर छह और नई लकीर जुड़ने के बाद एक बार फिर उसके ब्याह का सिलसिला चला था। पास के गांव में उसके मामा का एक लड़का था, जिसने विधुर होने के दूसरे महीने ही गांव-भर में इस अधिकार का दावा कर दिया कि वह उसके फूफा की बेटी है, अतः उसे ब्याहने का सबसे पहला अधिकार तो उसी का है।

अधिकार सबने स्वीकार किया। थोड़े हीले-हवाले के बाद उसने भी, पर जिस दिन मंगनी हुई उसी दिन लड़के का पिता बीमार हुआ, ब्याह की निश्चित तिथि के डेढ़ माह पहले उसकी मृत्यु हो गई। और गांव-भर में यह बात बैठ

गई कि भले धन-दौलत और सुंदरता लेकर वह पैदा हुई हो, अपने भाग्य में ब्याह का सुख लिखाकर वह नहीं आई और बिना किसी शोर-शराबे के चुपचाप दीवार पर उन्नीस के बाद नौ लकीरें और जुड़ गईं।

उसकी मौसी जब मरी तो उसके पांच बच्चे थे और वह सिर्फ पैंतीस बरस की थी। मौसी की लाश के पास बैठी-बैठी सारी रात वह यही सोचती रही थी कि पैंतीस बरस में ही मौसी ने पांच बच्चे देखे, पति का सुख पाया और पूरा जीवन जीकर शांतिपूर्वक चुपचाप मर गई। लाश उठाकर जब लोग मरघट चले गए तो अपने कमरे की दीवार के पास खड़ी वह बड़ी देर तक उन लकीरों को देखती रही और एकाएक एक जिज्ञासा उसके मन में कौंधी थी—

पैंतीस तक पहुंचने में उसे कितनी देर है ?

दरख्त के पास फिर आहट सुनाई दी, लेकिन अबकी बार हवा ही नहीं थी। पत्तों के टूटने के साथ दरख्त के पासवाले अंधेरे में आग की दो सुर्ख त्रिदियां चमकीं और जब तक कि वह आने वालों के विषय में सोचे उसकी दो पुरानी सहेलियां (जिनका पांच-छह बरस पहले ब्याह हो गया था) उसके पास आ गई।

इससे पहले कि वह कुछ कहती, उनमें से एक ने कहा, "बोटी तेरा रास्ता देखती बैठी है। मंडप से यह कहकर उठ गई है कि नीके नहीं आएगी तो वह हल्दी धुलवा लेगी।"

सहसा उससे कुछ कहते नहीं बना। अंधेरे में जलती हुई आग पर आंखें डाले वह खड़ी रह गई। कुछ नहीं बोली—कुछ भी नहीं।

"सुना, कोसा भी आया है।"

और उसे लगा जैसे बात न कहकर उस लड़की ने एक जलती हुई लकड़ी उसके सीने पर रख दी हो। चेहरे के झुलसे हुए भाव वहां अंधेरे में लिप-पुत गए। उसने अपने आप से पूछा—'कोसा गया कहां था ?'

याद आया कि ब्याह के एक बरस बाद ही कोसा गांव छोड़कर मासे के साथ कहीं चला गया। शायद किसी दूसरे पहाड़ पर चला गया। इस पहाड़ के कोसा के खेत चार बरस बाद अब बांझ होने लगे। अतः उस गांव के उजड़ने में कोसा का घर भी खाली हो गया। उसकी आंखों में उजड़े हुए गांव-वाला कोसा का वह वीरान घर उभर आया जहां एक दिन वह जाने कैसे अकेली पहुंच गई थी।

और दूसरी झोंपड़ियों की तरह कोसा की झोंपड़ी भी टूट चुकी थी। छप्पर की आधी फूंस गिर गई थी और कांड-बांस जमीन पर आ रहे थे। बायें कोनेवाला सूअरों का दड़बा खाली था। आंगन में पड़ी हुई डोंगी किसी ने उलट दी थी। उसके पास के छोटे-से मंडप में कभी कुंदरू की हरी लतरें गुंथी

रहा करतती थीं, अव उसकी सूखी वेल ही रह गई थी। खेत से लौटने के वाद कोसा अपनी गायों को उसी डोंगी में दाना देकर दूध दुहा करता था। उस उल्टी हुई डोंगी पर देर तक वैठी वह उस उजड़े घर को तव तक देखती रही जव तक कि अंधेरा नहीं घिर आया···।

"क्यों, चल रही है ?"

सहसा उसकी सहेलियों में से एक ने कहा तो वह चौंकी, याद आया कि वोटी उसे वुलवा रही है। जैसे कोसा को एकटक देखती हुई पराई आंखों से पकड़ ली गई हो, यूं चौंककर उसने हाथ में जलती हुई लकड़ी ली, झटककर उसकी राख झाड़ी और आगे वढ़ती हुई अवरुद्ध कंठ से वोली, "अरे वोटी तो पागल हो गई है।"

मंडप तक आते-आंते मांदर, ढोल और मोहरी की आवाज और तेज हो गई। माला-मूंग की सजावट में हल्दी का रंग और आंखों में लांदा के डोरे लिए, नवयुवतियों के कई छोटे-छोटे समूह, एक-दूसरे की कमर में हाथ डाले उन्मुक्त होकर नाच रहे थे। वातावरण में हल्ला, गालियां, फुहड़ मजाक और नशे में लड़खड़ाती हुई आवाजें घुली हुई थीं और हवा में तेज गंध···सहसा मशाल के पास, कोनेवाले नवयुवकों के झुंड में से जव किसी ने आगे वढ़कर आलाप लिया तो जैसे सांप पर पांव पड़ गया हो, ऐसे वह ठिठक गई। जी खूव जोर से धड़कने लगा। गीत की इन्हीं पंक्तियों और इसी आवाज ने एक दिन उसे घोटुल में अनजाने ही कोसा से वांध दिया था। कोसा के सिवा इस गीत को गाना गांव में आज भी किसी को नहीं आता।

हाथ की जलती हुई लकड़ी एक ओर फेंककर वह जल्दी-जल्दी भीतर हो गई।

जव तक रस्मो-रिवाज चलते रहे और वह वोटी के पास वैठी रही, कोसा उसके आस-पास मंडराता रहा। उसका वार-वार दोस्तों को छोड़कर चले आना, उसकी ओर देख-देखकर मुस्कराना, मंडप के खंवे से टिककर वस एकटक घूरे जाना···

घवराकर वह वोटी को छोड़, वाहर निकल आई।

भात की वड़ी हांडी के पास मासे पत्तल वनाती वैठी हुई थी। कोसा से व्याह के वाद उसने मासे से कभी वात नहीं की थी। ठीक से उसकी ओर देखा तक नहीं था। जाने क्यों उसे देखते ही उसका मन घृणा से भर जाया करता था, लेकिन आज भात देखने के वहाने वह मासे के पास जाकर खड़ी हो गई। पत्तल सीती हुई मासे ने उसकी ओर देखा और सादगी से मुस्करा दी। पास ही उसका वच्चा घुटनों चलता सरक रहा था।

मासे से कुछ कहे विना उसने लपककर वच्चे को उठाया, उसका मुंह चुंवनों

से भर दिया और मासे की ओर देखकर स्नेह से हंसने लगी। तभी जाने फिर कहां से आकर कोसा उसके सामने खड़ा हो गया। अपने बच्चे की ओर ममता-भरी आंखों से देखते हुए उसने बांहें फैला दीं और बोला, आ···आ···।

वह कोसा को नहीं देख सकी, आंखें नीची करके चुपचाप ही उसने बच्चे को कोसा की ओर बढ़ा दिया। कोसा ने हंसकर पूछा, "इसे ले जाएगी ?"

केवल क्षण-भर के लिए पलक उठाकर उसने कोसा को देखा। शायद कुछ कहती, पर तभी बाहर मोहरी बजने लगी, ढोल पिटे, मांदर बजे और नगाड़े की दुड़दुम···दुड़दुम की आवाज में सारा शोर गुम होकर···बोटी अब विदा हो रही थी।

अचकचाकर वह वहां से भीतर भागी। बोटी पीढ़े पर आंसू ढालती बैठी थी। बोटी और उसकी उम्र में आठ बरस का अंतर था। उसने बोटी को कभी इतना महत्त्व नहीं दिया था। वह कभी इतने निकट नहीं रही कि उसके चले जाने का वास्तव में दुख हो, लेकिन विदा के क्षणों में जब बोटी उसकी बांहों में भिचकर सिसकने लगी तो उसने उसे जोर से कस लिया और भीतर से उमड़कर सचमुच रोने लगी।

मंडप में फिर कुछ मशालें जलाई गईं और फिर नाच शुरू हुआ, फिर मांदर बजे। बोटी को जैसे ही नाच के लिए उठाया गया, वह वहां से चुपचाप खिसक गई और बाड़ी के पिछले दरवाजे से निकल, अंधेरे में यों बेहताशा भागने लगी जैसे कोई पीछा कर रहा हो।

जैसे-तैसे घर पहुंचकर वह हांफती हुई चटाई पर ढेर हो गई। बांह का तकिया बनाकर उस पर सिर रखे वह करवट पड़ी हुई थी। वही बांस की नंगी चटाई थी और नीचे का फर्श पहले की ही तरह सख्त था, लेकिन अब न तो पसली की हड्डियों में कोई दर्द हो रहा था और न फांस चुभ रही थी।

कुछ देर उसी तरह लेटे रहने के बाद वह उठी, दिया जलाया और चटाई के पासवाली दीवार के पास बैठकर उस पर बनी लकीरों को गिनने लगी। लकीरें भी कितनी आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ती हैं—एक बरस में एक···दूसरे बरस में एक···तीसरे बरस में···।

अकस्मात बिजली की तरह यह बात उसके मन में कौंध गई कि वह अब तीस की हो गई है।

उसने दिये की रोशनी को और निकट ले जाकर बड़ी देर तक उन लकीरों को देखा, देखती रही फिर उनके आगे पांच लकीरें और जोड़कर दिया बुझाया और कटी डाल की तरह टूटकर यों पसर गई जैसे बिल्कुल मुर्दा हो△

सीढ़ियां

सच, रेहाना बिल्कुल नहीं बदली। वही छोटा-सा माथा जिसके ऊपर नर्म-नर्म रेशम जैसे रोएं हैं। पारे जैसी चंचल आंखें, बालों में कहीं-कहीं जबरन डाले गए घूंघर और नाक की सीध में, ठीक बीचोबीच, दप्-दप् करती अफशां की मोटी लकीर।

दाहिनी छाती पर से हटते आंचल के छोर को बार-बार बगल की ओर सरकाकर हंसती हुई कहती है, "अच्छा, अपनी दुल्हन को लेकर कब आओगे ?"

मैं जब-जब रेहाना के पास बैठता हूं, उसकी आधी बातें नहीं सुन पाता। नीचे सिर किए या उसकी ओर देखते हुए भी मन जाने कहां भटक जाता है। स्वर आता है लेकिन शब्द नहीं आते और मैं बह जाता हूं।

रेहाना तब बच्चों-सी खिलखिलाकर गर्दन पीछे फेंकती हुई हंस पड़ती है। अपनी ठोढ़ी ऊपर किए और एक ओर के शोल्जर-बोन पर सिर टिकाए वह जितनी देर तक हंसती रहती है, मैं उसकी छिलका-उतरी लीची जैसी गर्दन में कंठ से ऊपर पड़ने वाली शलों को देखने लग जाता हूं। लगता है, रेहाना को अभी भी छूऊं तो मैली हो जाएगी !

"रूही, मेरी दुल्हन को देखकर क्या करोगी ?"

मेरा प्रश्न निहायत बेमानी है, यह हम दोनों जानते हैं। रेहाना समझकर भी शिकायत नहीं करती। कुछ देर चुप रहकर बात के सिरे को पकड़ मैं फिर कहता हूं, "अच्छा रूही, सच कहना ! क्या मेरी दुल्हन से मिलकर तुम मन से खुश हो पाओगी ?"

इस पर जरा आहत होकर कुछ छीन लेने जैसी आंखों से मुझे घूरती हुई रेहाना कहती है, "न होने जैसी क्या बात देखी है आपने ?"

"नहीं, नहीं, देखी कुछ नहीं।" एकाएक मुझसे कुछ जवाब नहीं बन पड़ता। किसी तरह हकलाकर कहता हूं, "यों ही पूछ लिया।"

रेहाना चुप होकर खिड़की के बाहर नीचे आंगन को देखने लगती है। कई दिनों से लगातार मेंह पड़ता रहे, धूप न निकले तो कच्चे आंगन में हरी-हरी काई पड़ जाती है। आंगन का बहुत-सा हिस्सा डबडबाया-सा लगता है और बारिश का यह सीला-सीला, कीचड़-भरा मौसम अच्छा नहीं लगता।

ऐसे ही क्षणों में मन के किसी कोने में दफनाई हुई आशंका अचानक अपने पर खोलने लगती है और मेरा विश्वास झूठा हो आता है। नहीं, यह रूही तीन बरस की नहीं, कोई और है जिससे दूर-दूर रहकर मुझे बातें करनी हैं। कुछ भी कहने के लिए बार-बार शब्द ढूंढ़ने पड़ते हैं। उन्हें होंठों तक लाने के पहले मन में एक-दो बार दोहरा लेना होता है और उसके बाद तुले-तुलाए जुमलों को बाहर फेंकने के प्रयत्न का निर्मम दर्द···।

मेरे जी की तमाम नसों पर बर्फ की तरह जमी हुई रूही पिघलकर आज भी पलकों के आगे उतर आती है···

कालेज की पढ़ाई के बाद कोर्स बुक से हमेशा के लिए छुट्टी पाकर घर लौटा हूं। सुबह से लेकर शाम तक सिवाय अखबार देखने और नौकरी के लिए दरख्वास्तें भेजने के और कोई काम नहीं है। घर वालों और रिश्तेदारों को अक्सर शिकायत रहती है कि मैं कहीं किसी के यहां आता-जाता नहीं। उस दिन जाने क्या मन हुआ कि खाला के यहां चला गया। सलाम करके अदब से बैठा, तो बरसों बाद अपने यहां मुझे देखकर खाला रोने लगीं।

खाला बेवा हैं। अम्मी की सगी बहन नहीं। कहीं दूर-दराज का छूता-छुआता-सा रिश्ता निकलता है। लेकिन शौहर के गुजर जाने के बाद जब बेसहारा हुईं, तो अपने-बिराने और दूर-पास के सबों को समेट लिया। सबसे पहले उस घेरे में आने वाला हमारा ही घराना था।

खाला के शौहर जब जिंदा थे तो अम्मी का आना-जाना खूब था। उनके जीवन-काल में ही जाने किस तरह एक दिन दोनों घरानों में यह बात तय हो गई कि रूही का ब्याह मुझसे ही होगा ! तब रूही छोटी थी, यही कोई ग्यारह-

बारह की। स्कूल में पढ़ती थी। बहुत सारी बातें समझती भी न होगी। लेकिन जाने किससे सुन-सुनाकर मुझसे परदा करने लगी। रास्ते-गली में कहीं मुझसे भेंट हो जाती तो तेजी से दुपट्टे का पल्लू संभाल, गर्दन झुका, सड़क छोड़कर नाली के पास जा लगती।

लेकिन रूही के अब्बा के सहसा उठ जाने के बाद फिर ब्याह की बात जहां की तहां धरी रह गई। अम्मी ने अपनी ओर से उसकी चर्चा फिर नहीं छेड़ी। खाला तो खैर लड़की की मां थी, मुंह खोलकर क्या कहतीं ? धीरे-धीरे आना-जाना कम हुआ और मेरे ब्याह की चर्चा दूसरी ओर मुड़ गई। रिश्ते की बात चलने से लेकर समाप्त होने तक इसी संकोचवश मैं खाला के यहां आता-जाता नहीं था।

आज उन्हें अपने सामने इस तरह रोते हुए देखकर मन में बड़ी ग्लानि हुई। लज्जा और अपराध के भार से सिर उठाना तक मेरे लिए कठिन हो गया। किसी तरह साहस बटोरकर मैंने कहने की कोशिश की, "खाला…"

तभी देखा, रूही किचन से निकलकर दहलीज तक आ गई है। मुझे अपनी ओर देखते हुए पकड़कर रेहाना ने आदाब किया। सलवार-कुर्ते में, खुले हुए रंग की संजीदा लड़की। खूब अच्छा चेहरा-मोहरा है।

खाला बोलीं, "रूही, यहां आकर बैठ जा। अब परदा करने का कौन-सा सिलसिला रह गया है ?"

उनकी बात का उलाहना और दर्द, सब मैं समझता हूं लेकिन उसे चुपचाप झेल लेने के सिवाय और कोई उपाय नहीं था। दीवार के एक कोने में आंखें अटकाकर कड़वे क्षणों को निगल रहा हूं। पहली बार मुझे लगता है कि कमरे के अनछुए वातावरण का भार बहुत कठिन होता है।

कुछ ठहरकर खाला कपड़ा सीने की मशीन चलाने लगीं। इसी से अब परिवार की जीविका चलती है। सिलाई-बुनाई से मन भी एक जगह लगा रहता है और मशीन के 'खर्र…खर्र' के शोर में और कोई दूसरी आवाज सुनाई नहीं देती। अच्छा है !

रूही पांव मोड़कर हथेली जमीन पर टेक, रान पर रान रखती हुई बैठ गई और अपनी गोद में सिकुड़ आए कुरते के छोरों को घुटनों तक फैला लिया।

मैंने पहली बार इतने पास से रूही को देखा। इससे पहले न देखने के लिए मन ही मन अपने को कोसता हूं। यही लड़की मुझसे छुपती थी। कल तक मेरी भावी पत्नी कहलाती थी लेकिन अम्मी के लालच और जिद तथा मेरी बेपरवाही से इतनी दूर जा पड़ी है कि मेरे स्पर्श के दायरे में कभी नहीं आएगी।

बैठने के साथ ही एक बार खूब भावपूर्ण आंखों से रूही ने मेरी ओर देखा

—एकटक देखा और फिर पलकें नवाकर किसी नए कुर्ते में बटन टांकने के लिए झुक गई। उसके बाद मेरे विदा लेने तक न बोली, न मेरी ओर देखा। केवल खाला ही सिलाई करती हुई, अपने ढेर सारे दुखों की बातें करती रहीं।

लेकिन दूसरी बार जो रूही मिली वह यह नहीं थी।

खाला घर पर नहीं हैं—जानकर मैं लौटता हूं तो बहुत सरल और निःसंकोच भाव से अपने सिर का दुपट्टा संभालती हुई वह दहलीज छोड़कर सामने आ जाती है, "नहीं, नहीं, भाईजान! भीतर आओ। खाला नहीं हैं, तो क्या हुआ?"

चाय के पहले और बाद इतनी सारी बातें जाने कहां-कहां से निकल आईं कि घंटा बीत गया और हम दोनों में से किसी को भी इसका अहसास नहीं हुआ। मेरे कालेज के दिनों की, रूही की स्कूली जिंदगी, उसकी सहेलियों और उनके स्वभाव की और बहुत-सी इधर-उधर की बातें। इस दौरान रूही लगातार हंसती रही और पल-भर के लिए भी नहीं लगा कि यही लड़की उस दिन मेरे सामने घंटों चुप लगाए बैठी थी।

मेरी ओर से निराश होकर खाला ने रूही के ब्याह की बात दूसरी जगह चला दी है—यह मैं जानता हूं। लड़का किसी दूसरे शहर का है, अधिक पढ़ा-लिखा तो नहीं लेकिन जमीन-जायदाद काफी है। परिवार भी बहुत बड़ा—रूही शायद बहुत सुख पाएगी!

बोला, "रूही, तुम्हारे ब्याह की चर्चा सुनी है। मेरा मुंह कब मीठा करवाओगी?"

रूही का हंसता हुआ चेहरा अनायास उतर गया लेकिन वैसे हंसी को वह अपने चेहरे से कभी अलग नहीं करती।

"मेरी शादी की बात में ऐसा क्या अनोखापन है? तुम जैसी पढ़ी-लिखी भी नहीं हूं कि अच्छे दूल्हे के सपने देखूं।"

बड़ी देर तक हम दोनों चुप रहे। दोनों में से कोई कुछ नहीं बोलता। बस, मन ही मन वह आते दर्द को चुपचाप अनुभूत करते रह जाते हैं। सहसा मैं कठिनाई से कहता हूं, "रूही, मैं आज तुम्हें सच-सच बताऊं कि इसमें मेरा दोष कितना है! अम्मी···"

बीच में बात काटकर अनुनय-भरे और भीगे स्वर में रूही ने कहा, "बस, बस। मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूं, भाईजान! इस चर्चा को यहीं छोड़ दो। मैंने तुम्हें कब···"

और फिर अपनी छलछलाती आंखें दूसरी ओर फेरकर रूही दुपट्टे का पल्ला मुंह तक खींच लेती है और थोड़ी देर मुंह फेरे बैठे रहने के बाद, अचानक उठकर दूसरे कमरे में चली जाती है।

रूही के ब्याह में मैं नहीं रहा। यहां होता तो भी शायद न जाता। उसकी शादी के बाद साल-भर के अंदर ही कई तरह की बातें सुनीं। रूही का ससुराल सचमुच बड़ा है। उसके ससुर की एक छोड़, तीन-तीन पत्नियां हैं और खूब बच्चे हैं, अतः नई बहू होने के नाते रूही को सुबह से शाम तक खटना पड़ता है। दूल्हा उजड्ड-सा है, सोहबत अच्छी नहीं और जब से रूही गई है, उसकी सेहत अच्छी नहीं रहती। इससे अच्छा तो यह होता कि रूही का ब्याह ही न होता। यह और इस तरह की कई बातें खाला ही कहा करती थीं।

डेढ़ बरस बाद पहली बार रूही मायके आई तो मैं यहां नहीं था। अब फिर आई है तो तीन बरसों के बाद मैं उसे देख रहा हूं। पिछले दिनों उसने यहीं एक बच्ची को जन्म दिया और दफन भी कर गई। मिलने गया हूं, तो मातमपुर्सी भी करनी पड़ेगी। लेकिन यह मुझसे बनता ही नहीं। कुछ कहने की कोशिश में बस शब्द टटोलता रह जाता हूं। बार-बार लगता है कि जिस रूही को मन-भर देखने की उत्कंठा दबाए आज की प्रतीक्षा कर रहा था वह शायद यह नहीं है। लेकिन रूही तो बिलकुल नहीं बदली! वही छोटा-सा माथा जिसके ऊपर नर्म-नर्म रेशम जैसे रोएं हैं, पारे जैसी चंचल आंखें, बालों में कहीं-कहीं जबरन डाले घूंघर और···

"सुना है, तुम्हारी दुल्हन काफी पढ़ी-लिखी और सुंदर है! उसे लेकर यहां कब आओगे?"

रूही के इस आकस्मिक प्रश्न के उत्तर में मुझे कुछ कहना नहीं है, तो भी मैं पूछता हूं, "मेरी शादी में तो यहीं थीं न? क्यों नहीं आई?"

उस प्रश्न को कई बार दोहराने के बाद कहीं जवाब मिलता है, "वैसी हालत में कहीं आना-जाना क्या अच्छा लगता है?"

लाज की एक बारीक रेखा रूही के गालों पर कांपती है। बात फिर चुक गई। मेरे हाव-भाव से रूही समझ गई है कि मैं अब जाने को हूं; शायद इसीलिए बार-बार उसी सवाल को दोहराती है कि मैं अपनी दुल्हन को लेकर उसके यहां कब आऊंगा। मैं भी अजीब हूं—कैसे बेमानी सवाल करता हूं? भला कोई किसी को देखकर क्या करता है?

अचानक बाहर बूंदें पड़नी लगीं। सहसा चौंककर रूही उठी और छत पर जाकर तार पर सूखते हुए कपड़ों को जल्दी-जल्दी समेटने लगी। लौटकर सारे कपड़े एक खाट पर डाल दिए और एक-एक को तह करती हुई धीमे स्वर में बोली, "तुम बुरा न मानो तो एक बात कहूं?"

अनुमतिसूचक आंखें मैंने उठाईं, लेकिन संभला नहीं हूं। एक क्षण के लिए रुककर रूही ने गहरी आंखों से मुझे घूरा, फिर बोली, "तुम्हारे मन में क्या है, मैं नहीं जानती! लेकिन सच कहती हूं कि बीती बातें मुझे आज बड़ी बेवकूफी लगती हैं! वह बिला वजह रोना-पीटना और हाय-तौबा मचाना! छी, अकेले

में भी सोचती हूं, तो शर्म से पानी-पानी हो जाती हूं। दुनिया में कितने रिश्ते बनते-बनते रह जाते हैं। हर एक से मन को बांध लेना क्या समझदारी की बात है?"

बात चुकते ही अचानक मुझे जड़ कर गई। पलक तक झपकाना मैं भूल गया हूं। रूही की समझदारी की बातें इससे पहले कभी नहीं सुनी थीं।

"आज सोचती हूं कि तुमसे ब्याही गई होती तो क्या जरूरी था कि दुख नहीं पाती? यह न होता तो शायद कोई और दुख होता। तब शायद अम्मी मेरे दुखों और तकलीफों की बातें तुमसे न कहकर किसी और से कहतीं।"

मेरी आंखों में कुछ कड़वाहट-सी घुलने लगी है। जवाब दिए बिना रूही के चेहरे से आंखें हटाकर मैं बाहर देखने लगता हूं। अभी बूंदें हल्की पड़ रही हैं, कहीं बारिश तेज हो गई तो जाने कितनी देर और रुकना पड़ जाएगा। बरसात को अकेले बैठे चुपचाप देखना और सुनना मुझे शुरू से अच्छा लगता है। दूसरों के यहां रहूं, तो सब-कुछ छोड़-छाड़कर मुझे अपने अकेले कमरे में पहुंचने की जल्दी मच जाती है।

"अच्छा रूही..."

मैंने उठकर पांवों में चप्पलें डाल लीं और अपने कुरते की सलवटें ठीक करने लगा। यह उठ जाना शायद एकदम अकस्मात् हुआ, जैसे आधी बात बीच में ही तोड़ दी गई हो! रूही जरा हैरानी लिए मुझे देखती रही फिर स्वयं विदा देने के लिए खड़ी हो गई।

"अम्मी से कहूंगी कि तुम आए थे और बड़ी देर तक राह देखी।"

"न कहने से काम चल जाए तो अच्छा हो!" मैंने कहा, "रूही, सच बात यह है कि मैंने उनकी राह बिल्कुल नहीं देखी, तुमसे बातें करता रहा।"

छत से नीचे उतरते हुए पहली बार मुझे लगता है कि सीढ़ियां उतरने में भी कभी-कभी बड़ी कोफ्त होती है—एक-एक कदम नीचे आता हूं तो मन के भीतर कोई चुपचाप ही सीढ़ियों का हिसाब करने लगता है△

हार

कई पल निकल गए थे और बेबी अब तक खामोश भी पड़ गई थी लेकिन नीचे से आ रही आहटों से साफ-साफ पता लग रहा था कि शाहिदा का गुस्सा अभी नहीं थमा। वह बराबर बड़बड़ाती हुई मुझे सुनाने के लिए बर्तनों को पटक-झटक रही थी ताकि कुछ देर पहले की मेरी हरकत के लिए मुझे अच्छी तरह चोट पहुंचाई जा सके।

यों मेरे भीतर भी गुस्सा क्या कम था ? अपने पर क्रोध आ रहा था कि धैर्य का मुझमें सिरे से अभाव है और किसी भी समस्या के आने पर मैं अपना संतुलन खो बैठता हूं; शाहिदा पर क्रोध था कि बीवी होकर भी वह मुझे नहीं समझती, बच्ची से ज्यादा दीगर घरेलू कामों को अहमियत दिए जाती है और परिणामतः बच्ची का भविष्य खतरे में पड़ गया है; इस मनहूस मुहल्ले पर क्रोध आ रहा था कि आसपास ढंग का एक भी घर या बच्चा नहीं जिससे हिल-मिलकर हमारी बच्ची खेल-कूद सके और···

"ऐ, घर पर हो कि नहीं ? बेगम, ओ बेगम बहू···"

"अचानक बाहर के दरवाजे के पास से कोई अधबूढ़ी-सी आवाज आई

और क्षण-दो क्षण बाद निचले बरामदे में चप्पलें चटकने के साथ साड़ी की फर-फराहट गुजरने लगी।

मैं घर के ऊपरी हिस्से वाले अपने कमरे में बुत बना खड़ा था। नीचे की जानकारी आहटों से लेने के सिवाय दूसरा उपाय न था; अतः कौन आ-जा रहा है यह उत्सुकता व्यर्थ थी। आवाजों से मैंने अनुमान लगाया कि सदर वाली खाला हैं, कोई खबर लेकर आई होंगी। थोड़ी देर बाद, शायद शाहिदा किचन से बाहर आई। सलाम-दुआ के बाद उन्हें अदब से बैठाया और उनकी खैरियत पूछने लगी।

"ऐ, बुरा न मानो तो एक बात पूछूं बेगम···!"

खाला ने शाहिदा की बात टालकर निहायत हमदर्दी से पूछा, "यह तुम्हारा चेहरा क्यों तमतमा आया है?"

इधर मेरा माथा ठनका और कान खड़े हो गए।

"ऐसी कोई खास बात तो नहीं, खाला···" शाहिदा ने उदास स्वर में जवाब दिया, "इसी कमबख्त मुहल्ले ने, माटी मिला, नाक में दम कर रखा है। जब देखो चखचख लगी रहती है। मैं तो आजिज आ गई हूं। किसी तरह इससे पिंड छूटे तो जान को राहत मिले।"

"हाय-हाय, ऐसा भी क्या हो गया?" खाला ने उसी लटके से पूछा और मैंने कल्पना की कि आदत के अनुसार सदर वाली खाला ने अपनी नाक पर अंगुली धर ली होगी।

"कोई एक दिन की बात हो तो कहूं खाला···" शाहिदा ने कहा, "रोज कोई न कोई बात, कोई न कोई नयी उलझन! लगता है, या तो मुहल्ला हमारे काबिल नहीं या हम ही मुहल्ले के लायक नहीं। खुदा के लिए एक एहसान हम पर करो खाला, जैसे भी हो किसी और मुहल्ले में मकान दिलवा दो···"

"ऐ, मकान की क्या कमी है बहू···" खाला बोलीं, "पैसे फेंको, हजार मिलते हैं। लेकिन बेगम, यह तो तुम लोगों का खुद का मकान है न?"

"यही तो कमबख्त एक रोना है लेकिन अपना है तो क्या हुआ, इसे किराये पर उठा देंगे! किसी तरह इस मरे मुहल्ले से तो जान छूटे···"

और फिर सदर वाली खाला के आग्रह पर शाहिदा ने आज की घटना बतानी शुरू की तो क्रोध के मारे मेरा धैर्य छूटने लगा···। जी में आ रहा था कि फट-फट सीढ़ियां उतरता हुआ तुरंत नीचे जा पहुंचूं और पूरी ताकत से चिल्लाकर शाहिदा को डांटूं, 'ठीक है, मुहल्ले का अपराध नहीं, तुम भी बेक़सूर हो और बेबी भी, लेकिन यह व्यंग्य किस पर किए जा रहे हैं? मेरी गलती तो यही है न कि मैं तुम लोगों के ढर्रे पर नहीं चल पाता? या अल्लाह, मुझे उठा ले या मेरी आंखें ही छीन ले ताकि यह सब मैं अपनी नजरों से न देख सकूं!'

"यह देखो, यह···" अचानक शाहिदा ने तमतमाए स्वर में कहा, "इसकी पांच साल की नन्ही-सी जान और उनके भरपूर हाथ का तमाचा···" कहते-कहते शाहिदा की आवाज भर्राने लगी, "कितनी जोर से मारा है कि अंगुलियों के मोटे-मोटे रोल उभर आए हैं···"

उसके बाद शाहिदा नहीं बोल पाई लेकिन मुझे लगा कि उसकी भर्रायी आवाज आकर मेरे गले में फंस गई है और भीतर से कुछ उफनता हुआ बाहर आना चाहता है। मेरी आंखों के सामने नीचे की कल्पित तस्वीर खिंच आई कि पिछले बरामदे की बड़ी चटाई पर सदर वाली खाला बैठी हैं, उनके सामने बेबी को बगल में भींचकर उसे दिखाती हुई शाहिदा खड़ी है और बुरी तरह सहमी हुई बेबी के गालों पर हमदर्दी का हाथ फेरती हुई खाला कह रही हैं, "ऐ, आग लगे उसके गुस्से को, सचमुच, बेरहम ने बच्ची की जान ही निकालकर रख दी है। अरे इतनी ही समझ होती, तो बच्चे बच्चे क्यों कहलाते?"

और मुझे लगा कि सैकड़ों लोगों के वृत्त में घिरा अकेला और असहाय मैं गर्दन झुकाए खड़ा हूं, हर अंगुली मुझ पर बेरहमी का आरोप लगाती उठी हुई है और मैं लज्जा के मारे बौना हो गया हूं। न घर वाले, न बाहर वाले, न अपने और न पराये, क्या मुझे समझने के लिए कोई तैयार नहीं? क्या सब अकेले मेरा ही दोष है? बच्ची को लेकर जो कुछ भी आए दिन होता रहा है क्या उसके लिए शाहिदा कहीं और कभी भी अपराधी नहीं है? माना कि जो कुछ आज हुआ उसमें मुझसे ज्यादती हो गई लेकिन रात-दिन की घुटन आखिर किस तरह से बाहर आती? और वैसे अवसर पर क्रोध क्या स्वाभाविक नहीं था?

जब बेबी की उम्र कहीं आने-जाने योग्य नहीं थी, तो यही मुहल्ला अभी साल-दो साल पहले इस बुरी तरह सालता न था। यों जब से मैंने होश संभाला यह खटकता जरूर रहा है। दूसरे साफ-सुथरे मुहल्लों के अच्छे-भले पड़ोस और सलीका-शऊर वाले लोगों को देखकर कोफ्त भी होती रही है लेकिन चाहकर भी इस मुहल्ले से छूटने का उपाय न था क्योंकि मकान अपना पुश्तैनी था। साले बाप-दादों को भी मकान बनाने के लिए यही मुहल्ला मिला। सारे मुहल्ले में धोबी, बढ़ई, मजदूर और निचले दर्जे के लोग और उन्हीं के गंदे-बेहूदे बच्चे। किससे मिलें-जुलें और कहां बैठें-उठें! शायद इसीलिए बरसों गुजर जाने के बाद भी हमने मुहल्ले के किसी से कोई संबंध नहीं रखा था।

पर यह सब तभी तक चल पाया जब तक कि बेबी चलने-फिरने और बाहर निकलने लायक न थी। उसके चार-पांच की उम्र तक पहुंचते ही जितनी सख्ती हम लोगों ने बरती थी, वह उसकी सारी बखिया उधेड़ने लगी और तब से रोज-रोज की उलझन शुरू हो गई है।

चाहे उस पर कितनी ही तेज नजर क्यों न रखी जाए, जरा अवसर पाते ही वह निकल भागती और थोड़ी देर बाद हम लोग देखते कि वह सामने वाले धोबी के गंदे बच्चों और विशेषकर कमला के साथ धूल-मिट्टी से खेल रही है। शायद ही कोई एक दिन ऐसा गया होगा कि मैंने इस बारे में शाहिदा को हिदायतें न दी हों या डांट-फटकार न की हो। पर एक अरसे तक उसका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा और हारकर शाहिदा ने कह दिया कि बच्ची उससे संभलती नहीं, मैं जो मुनासिब समझता हूं, कर लूं।

आखिर कुछ प्रयत्न मैंने भी किए। भीतर वाला कमरा बदलकर मैं सामने बैठने लगा ताकि उसके आने-जाने पर नजर रख सकूं। बाहर का दरवाजा ज्यादा-से-ज्यादा बंद रखवाने लगा जिससे कि उसका आसानी से निकलना संभव न हो और गाहे-बगाहे बात-बात में उसे याद दिलाने लगा कि वह हम लोगों की बात नहीं मानती, खराब बच्चों के साथ खेलती है, इसलिए मैं नाराज हूं!

"तो क्या तुम हमारे लिए साइकिल नहीं लाओगे?" बड़े भोलेपन से अपनी गर्दन जरा-सी टेढ़ी करके बेबी मुझसे पूछती। दरअसल साइकिल की उसकी फरमाइश बड़ी पुरानी थी जिसे मैं लगातार टाले जा रहा था।

"कभी नहीं," मैं बनावटी क्रोध से कहता, "जो अच्छे बच्चे होते हैं वे मां-बाप का कहा मानते हैं। हम मना करते हैं कि तुम कमला-अमला के घर न जाओ; तुम तो मानतीं ही नहीं इसलिए हमारी बेटी नहीं हो।"

"और कमला के साथ न खेलें तो ला दोगे?"

"बिल्कुल।"

"क्यों?"

"क्योंकि तब तुम हमारी अच्छी बेटी हो जाओगी।"

"अच्छा! अब से नहीं जाएंगे। पापा हमें, है न, कमला गन्ने नहीं देती। दिखा-दिखाकर खाती है और मांगो तो कहती है कि···"

मुझे एक तीर-सा सीने में लगता। जैसे-तैसे अपने मुंह के स्वाद को संभालकर मैं कहता, "छी-छी, बेटी, यह तो निहायत खराब बात है। तुम्हें जो चाहिए हमसे कहो, अम्मी से मांगो···"

पर इन बातों का कोई असर पड़ता दिखाई नहीं दिया। दफ्तर से लौटने पर देखता कि बेबी मुहल्ले के दो-तीन बच्चों के साथ, पिछले दिन की धमकी, वादा, डर या लालच, सब भूल-भालकर खेल में मशगूल है।

"सुनो, ऐसे बात बनेगी नहीं," मेरा हर प्रयत्न निष्फल होता देख शाहिदा ने एक दिन कहा, "मैं तो कब से कह रही हूं कि किसी अच्छे स्कूल में डाल दो। वहां जाने-आने लगेगी तो यह सब अपने-आप छूट जाएगा।"

यह बात स्वयं मेरे मन में न रही हो, ऐसा नहीं लेकिन कमबख्त स्कूल

वाले छह साल से कम उम्र के बच्चों का दाखिला ही नहीं लेते और नर्सरी भेजने का मतलब है—हर माह के खर्च में एक और बढ़ोतरी !

झल्लाकर मैं बोला, "तुम तो जान-बूझकर अनजान बनती हो। यहां नर्सरी भेजने की हैसियत होती तो···

"तब तुम चुप बैठो और जैसा चलता है चलने दो।" वह दो टूक कहती, "पैसे भी खर्च न हों और इस मुहल्ले में रहकर आंच भी न आए, यह तो होने का नहीं। भई, बच्चे आखिर हमसे-तुमसे तो खेलेंगे नहीं।"

शाहिदा की बात चाहे जितनी सीधी, साफ और ठीक हो, लगा कि उसने मेरे पुरुषार्थ को छेड़ दिया है। तिलमिलाकर मैं बोला, "आखिर तुम किस मर्ज की दवा हो ? लाख बार कहा कि दरवाजे पर ताला डालकर रखो। घर के भीतर रहकर मर जाए—मुझे यह मंजूर है···"

बहस और क्रोध में आदमी अक्सर बेमानी बातें कर जाता है। मेरी बात भी उतनी ही निरर्थक थी, क्योंकि दिन-दिवाले बाहर ताला डालकर घर का काम चलाना कभी भी संभव न था।

कितनी साध थी कि मेरे बच्चे साफ-सुथरे और सलीकेमंद हों, अच्छी जबान बोलें, अच्छी आदतें सीखें और दूसरों के सामने मुझे झेंपना न पड़े; लेकिन सब कुछ व्यर्थ होते अपनी आंखों से देख रहा था। देख रहा था कि वह वाहियात और गंदी आदतें सीखने लगी है, उल्टी-सीधी जबान बोलती है और सारे सलीके-शऊर दूर ठिठके हुए मुझे मुंह चिढ़ा रहे हैं···

इसी घुटन का आज विस्फोट हो गया तो घर में हंगामा मच गया है और सबके निकट मैं ही अपराधी ठहराया जा रहा हूं।

कई दिनों से देखकर भी सब अनदेखा कर रहा था। परिणामस्वरूप इस मामले में शाहिदा भी लापरवाह हो गई थी और बेबी भी। कुछ शायद वह कोफ्त थी और कुछ झल्लाहट—एक कर्ज के तकाजे की। बाजार से लौटते ही देखा कि सामने का दरवाजा खुला है, बेबी बदस्तूर कमला के घर के सामने डटी है और दोनों तालाब में कपड़े धोने का अभिनय करते हुए खेल रहे हैं···

कहना आसान नहीं है कि मुझ पर क्या प्रतिक्रिया हुई। लगा कि बस, यही देखना बाकी था। और उसके बाद मेरी गर्दन और कनपटी की नसों का तनाव, एक जोर की डांट-भरी पुकार, बेबी का डरते-डरते लौटना और···

"अच्छा चलती हूं बहू।" नीचे से सदर वाली खाला की आवाज आई। वह शायद उठ खड़ी हुई थीं, सलाम का जवाब देती हुई बोलीं, "जीती रहो, जीती रहो ! छी, इस तरह जी छोटा नहीं करते बहू ! मैं बाबा को समझाऊंगी···

तौबा, पढ़ा-लिखा होकर वह ये क्या हरकतें करता है !"

खाला चली गई और पढ़ा-लिखा तथा समझदार मैं अपनी दाहिनी हथेली को दबाए हुए फिर भी वहीं खड़ा रहा। न हिलने-डुलने की तबीयत हो रही थी और न नीचे जाने का साहस था। नीचे किस बहाने जाता ? आखिर शाहिदा से क्या कहना-सुनना बाकी था ? अपनी अपराधी बिटिया बेबी से किस तरह आंखें मिलाता ? या अल्लाह, तमाचा पड़ते ही अपने छोटे-से गाल पर एक हाथ रखकर वह किस कदर कांपकर चिल्लाई थी !...

बड़ी देर से खड़े रहने के कारण काठ हो गई टांगों को मोड़कर मैं धीरे से उसी जगह बैठ गया, खड़ा नहीं रह सका।

वह रविवार था—छुट्टी और आराम का दिन। लेकिन और सप्ताहों जैसा सुख मेरे भाग्य में उस दिन नहीं था। दोपहर को अपने कमरे में घुसने के बाद कई घंटों तक बाहर निकलना संभव नहीं हुआ।

इस बीच घर का वह तनाव-भरा वातावरण दूर हो चुका था और शाहिदा मुझसे बात भी करने लगी थी। वैसे उस घटना के बाद वाला एक सारा दिन मैंने किस कशमकश में बिताया था इसे याद न करना ही बेहतर है। बहुत धीरे-धीरे वह कुहासा छंटा लेकिन पूरे दो दिन बेबी मेरे पास फटकी तक नहीं। उसके बाद दो-एक बार आई भी तो छोटी-मोटी सूचना लेकर कि पापा, चलकर नाश्ता कर लो; नहाने का पानी निकल गया है या अम्मी याद कर रही हैं आदि—और अलग तथा दूर से कहकर लौट गई।

कुछ तो शायद इसीलिए कि उस अपराध-भाव से मैं मुक्त नहीं हो पाया—लगता, जैसे वह उसी सघनता के साथ दिल-दिमाग पर छाया हुआ है और जब-जब बेबी सामने पड़कर निकल जाती, एक सालती हुई वेदना बेतरह कचोट-कर मुझे उदास कर जाती। वहां कहीं संतोष था तो यही कि उस दिन के बाद बेबी फिर कभी बाहर निकलती दिखाई नहीं दी।

बाहर अंधेरा होने में बहुत देर थी लेकिन कमरा झुटपुटा गया था। इसके अलावा कई घंटों की लगातार बैठक से भी थकान होने लगी थी। मैं वहीं से एक प्याला चाय के लिए आवाज देना चाहता था लेकिन फिर हाथ-पांव सीधे करने के लिए स्वयं ही उठ गया। सहसा खिड़की से नजर पड़ा कि बाहर का गेट खुला रह गया है। 'बकरी-भेड़ों से सामने के छोटे-से बागीचे की सुरक्षा कितनी कठिन हो जाती है'—सोचते हुए मैंने किवाड़ के पल्ले खोले पर बरामदे में आने से पहले दहलीज पर ही ठिठक गया।

बरामदे के आखिरी कोने में बहुत-सी धूल-मिट्टी बिखरी हुई थी और उससे हाथ-पांव तथा कपड़ों को बेतरह सनाए बेबी कमला के साथ सहमी हुई खड़ी थी। क्षण-भर मैं बेबी के चेहरे को ठीक से देख नहीं पाया, पर जब उससे

आंखें मिलीं तो भीतर से जैसे तड़पकर रह गया। अपना सूखा हुआ मुंह लिए वह भयभीत आंखों से मेरी ओर यों देख रही थी जैसे डरी हुई हिरनी हो।

"बेबी!" मैंने अपने भीतर की ग्लानि को दबाते हुए पुकारा पर वह वहां से नहीं हिली—एक बार उसने अपने बगल में खड़ी कमला की ओर देखा और फिर से गर्दन झुकाकर खड़ी हो गई।

मेरा ध्यान कमला की ओर गया। हमेशा की तरह उसके कपड़े मैले-कुचैले, बाल धूल-सने व हफ्तों से अनसंवारे तथा सारा शरीर गंदा था। इस बच्ची को इतने गौर से मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था। एकाएक चौंकते हुए भी यह स्वीकार करने का मन नहीं हुआ कि डर के मारे कमला के प्राण अलग सूखे जा रहे हैं और जरा-सा अवसर पाते ही वह बेतरह निकल भागेगी…

धीरे-धीरे बढ़कर जैसे ही मैं पास पहुंचा और बेबी की भयभीत आंखों पर नजर पड़ी—सहसा उस दिन की घटना मन में कौंध गई जब एक क्षण के लिए मेरा कलेजा बिल्कुल सफेद हो गया था। सहसा तमाचा पड़ते ही अपने इसी मासूम गाल पर छोटा-सा हाथ रखकर यह किस कदर बिलबिलाकर रोई थी!

"कुछ नहीं बेटे, कुछ नहीं…" बड़ी कठिनाई से अपनी आवाज को संभालकर मैंने कहा, "खेलो, तुम लोग शौक से खेलो…।"

और जल्दी से मुंह मोड़कर मैंने उनकी ओर पीठ कर ली △

चहल्लुम

अचानक फिर मरदाने में इतने जोर का कहकहा उठा कि मरियम चौंककर सीधी बैठ गई। अब की बार सहना मुश्किल हो गया। वह चाहती थी कि एक बार उन खुदा के बंदों को देख ले जो गमी का खाना खाने आए थे और मौका-महल का जिन्हें बिल्कुल ध्यान न था। पर वह भी संभव नहीं हुआ। आंगन के बीचोबीच मरदाने और जनाने को अलग-अलग करने के लिए एक बड़ा-सा परदा तना हुआ था। उस पार देखना सचमुच कठिन था।

कोई आध घंटे से लोग रह-रहकर हंस रहे थे; पर इस बार शायद किसी बात पर हंसी का दौर ऐसा चला कि कुछ लोग हंसते-हंसते खांसने लगे।

"तौबा!" पान की पीक एक कोने में फेंककर हजियाइन दादी जनाने में बड़बड़ाईं, "ये मुए हंस किस बात पर रहे हैं ?"

"मास्टर साहब के संगी-साथी हैं जी," सर्किल साहब की बीवी ने जैसे उधर का पक्ष लेते हुए समझाया, "हमउम्र आपस में मिल बैठते हैं तो हंसी-दिल्लगी चलती ही है।"

"ऐ, ऐसी भी क्या हंसी मुई ?" हजियाइन दादी ने आंखें तरेरकर करारा

जवाव दिया, "कुछ तो मौके का ख्याल करना चाहिए! भई, चहल्लुम की दावत है, कोई वलीमा का खाना तो नहीं···"

सर्किल साहव की वीवी ने कुछ नहीं कहा। धीरे-धीरे दाहिनी जांघ हिलाती हुई वह गोद में पड़ी वच्ची को थपकियां देने लगी। हजियाइन दादी थोड़ी देर मुंह चलाती हुई चुपचाप पान की लुगदी वनाती रहीं, फिर जैसे सवको सुनाती हुई वोलीं, "हाआं···ठीक ही तो है! जिसकी जान गई उसकी गई। नसीव फूटे होंगे मरियम के! हमें-तुम्हें क्या? हम लोगों के लिए तो चहल्लुम भी जश्न हो जाता है···"

सुनकर दूर वैठी मरियम जैसे फिर उमड़ आई। कांपते होंठों को रोक-भींचकर वह अपनी रुलाई रोकना चाहती थी लेकिन हजियाइन दादी ने मानो भीतर के घाव को छू दिया था। जल्दी-जल्दी पीछे का पल्लू टटोलकर उसने मुंह में ठूंस लिया और निःशब्द रोने लगी।

जनाने में अव विल्कुल गिनी-चुनी औरतें रह गई थीं—कुछ घर-घराने की, कुछ दूर-दराज की रिश्तेदार और एक-दो वे जो काम-काज के लिए आग्रह-पूर्वक ठहरा ली गई थीं। थोड़ी देर पहले घर में जो गहमा-गहमी व भाग-दौड़ मची थी उसका अव नाम भी न था। यों वातावरण में विरयानी की महक अव भी थी। फर्श पर आए-गए पैरों के निशान धीरे-धीरे मिट रहे थे। कुएं के पास लगातार धुल रहे वर्तनों के पटके जाने की खनाक-खनाक की आवाज आ रही थी। उसके वगल वाले घूरे पर जूठी थालियों से निकला हुआ जख्मी खाना जमा हो रहा था।

सभी अपने-अपने में लगे हैं। मरियम ने धुंधलाई आंखों से देखकर सोचा, कोई किसी को नहीं देख रहा! किसी को ख्याल नहीं कि मरियम कहां वैठी है। कोई नहीं जानता कि उसकी अभागी वेटी गुलशन किस अंधेरे कोने में मुंह ढांके पड़ी है।

रायपुर वाली ननद हंस-हंसकर काम कर रही थीं। उनकी जवान, व्याहता लड़की ने उम्दा साड़ी पहन रखी थी। जव वह किसी से मुस्कराकर वातें करती तो उसके कान के झुमके झिलमिला उठते। मरदाने में वैठे मास्टर साहव के दोस्तों को थोड़ी-थोड़ी देर में किसी न किसी चीज की जरूरत पड़ती थी। जल्दी करने के लिए जव मास्टर साहव खुद परदे के इस पार आ जाते तो उन्हें देख-कर विश्वास ही नहीं होता, चेहरे से यह विल्कुल नहीं लगता कि अभी कुछ दिनों पहले, उनके साले का इंतकाल हुआ है। अड़ोसी-पड़ोसी, रिश्तेदार, हम-दर्द और अपने-पराए से लेकर वर्तन साफ करने वाली वड़ी वी तक—सव जैसे उस घटना को भूले हुए हैं। जैसे उन्हें यह भी याद नहीं कि अभी कुछ दिनों पहले सवके सव किस वात पर रो रहे थे! जैसे यह भी नजर की ओट हो

गया है कि शाम छह बजे से लेकर अब तक ये जो सैकड़ों लोग आए-गए उसका आधार क्या है…

थोड़ा पीछे खिसककर मरियम ने खंभे पर सिर टेक दिया। अब उसके चेहरे पर अंधेरा पड़ गया था। वह सबको देख रही थी, केवल उस पर ही किसी की निगाह न थी। उसने सुबकियों में सना हुआ एक लंबा निःश्वास लिया, और धीरे-धीरे आंसू ढालने लगी।

क्या सचमुच यह सारी चहल-पहल चहल्लुम की ही है और वह भी उसके मियां की ? क्या वास्तव में, सिराज मियां अब कभी लौटकर न आएंगे ? क्या मरियम उन्हें देख सकेगी ? गुलशन क्या सच ही अनाथ हो गई ? और अगर यह सब सच है, तो उसके ये सारे अपने-पराये ऐसे क्षणों में भी इतने दूर-दूर क्यों लगते हैं ?

पर नहीं, मरियम ने सोचा, हजियाइन दादी की बात अभी चाहे मरहम का काम करे हकीकत में वह सच नहीं है। भला सही अर्थों में किसी के भी दुख का सहभागी कौन होता है ? संवेदना प्रकट करना एक बात है और उसे ज्यों का त्यों भोगना दूसरी ! अभी कुछ दिनों पहले जब खुद उसकी बहन का शौहर गुजर गया तो और लोगों के साथ मातमपुर्सी करने मरियम भी गई थी। बहन धाड़ें मार-मारकर रो रही थी, जोर-जोर से छाती कूट रही थी और बिलख-बिलखकर खुदा का गिला कर रही थी। उसके साथ-साथ बहुत-से लोग रोये, मरियम को भी रोना आया पर थोड़ी देर बाद बहन का रोना खुद उसे भी खलने लगा था। बुढ़ियों की तरह उसने समझाया था, "चुप कर, ओ हुस्ना ! अल्लाह पर कोई जबरदस्ती तो है नहीं; और खुदा के वास्ते न सही, बच्चों के लिए सब्र कर ! अभागिन, रोना तो तुझे अब जिंदगी-भर है…"

तब वह क्या जानती थी कि इतनी जल्दी ऐसे जुमले उसे भी एक दिन सुनने पड़ेंगे और तभी उसकी असलियत का पूरा-पूरा एहसास हो सकेगा।

फिर बहन के शौहर की बात यों भी अलग थी। वह अच्छा-खासा जवान, तंदुरुस्त और मिलनसार आदमी था। चार दिनों के बुखार से अचानक चल बसेगा यह किसी ने कल्पना भी न की थी; अतः उसके हमदर्दों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक थी।

सिराज मियां दूसरी तरह के आदमी थे। स्वभाव से दब्बू, अड़ियल तथा नशे के शौक के कारण अलग-थलग रहने वाले। शायद यही नशा था जिसने उन्हें अंत में कहीं का नहीं रखा और एक दिन मरियम को माथा पकड़कर बैठ जाना पड़ा। प्राइवेट मोटर कंपनी की नौकरी थी। न सुबह का ठिकाना था,

न शाम का। वहीं कहीं से शायद यह पीने-पिलाने का रोग ले आए थे जो धीरे-धीरे करके उनकी जान ही ले गया।

"ऊंट-रे-ऊंट, तेरी कौन-सी कल सीधी ?" अक्सर सिराज मियां हंसकर कहते, खास तौर पर तब जब मरियम उनके पीने का विरोध करके कसमें खिलाती और जोर-जोर रोने लगती।

"न पोता था तो क्या और पीने ही लगा तो क्या ?" वह समझदारों जैसी हंसी हंसकर दलीलें रखते, "यों भी आगे-पीछे के लिए है कौन ? एक गुलशन है सो वह भी वक्त आने पर अपने घर चली जाएगी। रह गए वही हम मियां-बीवी···"

लेकिन मियां-बीवी बने रहने के लिए भी पैसों के अलावा कई चीजें चाहिए थीं। विशेष कर अच्छी सेहत और स्वस्थ शरीर, जिसका सिराज मियां के पास अभाव था। निहायत काला रंग, चेहरे के ऊबड़-खाबड़ नक्श, दुबला-पतला लिफाफिया बदन और बीमार-बीमार-सी आंखें—सिराज मियां की यही हुलिया थी। इस पर अब शराब के सितम ने उन्हें उस हाल पर पहुंचा दिया था जहां से लौटकर आना किसी के लिए भी मुमकिन नहीं होता। धीरे-धीरे उनका शरीर खोखला होता गया और दुनिया-जहान की बीमारियों ने एक साथ उन्हें घेर लिया। यहां तक कि बात-बात में वह केवल दवाओं और इंजेक्शन के सहारे चलने लगे···

वह महीनों बीमार रहते और किसी को दिखाई भी देते तो हांफते हुए और बदहवास दवाखानों या अस्पतालों के आस-पास। ऐसे शरीर का उठ जाना किसी के लिए ताज्जुब की बात न थी।

हैरत तो इस बात पर थी कि सिराज मियां ने एकाएक धोखा दिया। जब लंबी-लंबी बीमारियां आईं, मां-बेटी दोनों आस तोड़ बैठीं और रिश्तेदार भी ऊबने लगे तब तो कुछ नहीं हुआ। हुआ तब जबकि वह कई महीनों से स्वस्थ थे, काम-काज पर जाने भी लगे थे और मरियम की मरी हुई आशाओं में कोंपलें फूट आई थीं···

ऊपर से देखने पर कुछ भी न था। तबीयत में भी न तो गड़बड़ी और न कोई खराबी। एक दिन शाम को लौटे तो परेशान रहे। मालूम हुआ, उनका तबादला जगदलपुर से बाहर कर दिया गया था। वह जाना नहीं चाहते थे। दूसरी सुबह अचानक रायपुर के लिए निकल गए। पैसे मांगते वक्त केवल इतना कहा, "मम्मो, अपनी बदली का आर्डर रद्द करवाने के लिए रायपुर जा रहा हूं !"

लंबे सत्ताईस बरसों की ब्याही जिंदगी का अंतिम जुमला बस यही था। फिर मरियम ने अपनी आंखों से कुछ नहीं देखा सिवाय इसके कि एक रात

रायपुर से चलने वाली बस आकर उनके घर के सामने खड़ी हो गई, तीन-चार लोगों ने मिलकर चुपचाप सिराज मियां का शव उतार दिया और अलग हट गए...

"हाय-हाय, ऐसा न करो, आपा!" देग के पास रायपुर वाली ननद किसी से मिन्नत-भरे स्वर में कह रही थीं, "तुमने मेरी बात न रखी तो मुझे बेहद अफसोस होगा।"

आंसू रोककर मरियम उधर देखने लगी। हालांकि दावत पर आई अधिकांश औरतें कभी की जा चुकी थीं लेकिन उनमें से कुछ जान-बूझकर ठहरा ली गई थीं। ठहरकर अंत में खाने का मतलब साफ है। ऐसे नसीब वाले एक तो आम लोगों के साथ मिलकर खाने की जहमत से बचते हैं, दूसरे आखिर का खाना और किस्म का होता है। ऐसे लोगों के लिए फर्श अलग, दस्तरख्वान अलग, खाना भी वह जो खास तौर से अलगाकर रख लिया जाता है और कई तरह के उम्दा सालनों के साथ मेहमानों को दिया जाता है।

उस औरत की ऊंची कीमत की उम्दा साड़ी, बदन के जेवर और अलैक-सलैक की बेपरवाही से मरियम को विश्वास हो गया कि वह ऐसी ही मेहमान होगी। ननद के इसरार का जवाब देते हुए उसने हंसकर कहा, "या अल्लाह, यह तो तुम ज्यादती कर रही हो बहन! जितना खाना था, खा-पी लिया। यह क्या बात हुई, कि लौटते में साथ बांधकर भी ले जाएं..."

"इसे भी तुम्हें ही खाना पड़ेगा, यह तो मैं नहीं कह रही।" उसी हंसी के साथ ननद ने कहा, "मैंने भाईजान के लिए रख दिया है। जानती हूं, आखिर वह नहीं ही आएंगे! अर्ज सिर्फ इतनी है कि इन्कार न करो! और तुम्हें ढोना भी नहीं पड़ेगा। मैं साथ में बड़ी बी को भेज रही हूं..."

मरियम की आंख की कोरों में दो बूंदें अटकी थरथरा रही थीं; पलक झपकाकर उन्हें धीरे से ढालती हुई वह दीवार से टिक गई। सिराज मियां की बहन क्या यही है? उसने लौटते हुए मेहमान, खाने का बर्तन उठाए बड़ी बी और ननद की ओर देखकर सोचा, भाई की लाश के सामने उस दिन जो बेतहाशा सिर धुन रही थी वह औरत इसमें कहां छिपी बैठी है? क्या यहां से वहां तक सब केवल दस्तूर ही दस्तूर है?

वह दिन आज भी ज्यों का त्यों नजरों के सामने आकर खड़ा हो जाता है। दो-तीन माह से ननद जगदलपुर आकर ठहरी हुई थी। सिराज मियां की लंबी बीमारियों का जमाना था। और जमीन-जायदाद को लेकर भाई-बहन में मलाल भी आ गया था। उस दिन सिराज मियां अस्पताल से लौटे तो जाने क्या मन

में आया कि सीधे बहन के पास जा बैठे। यों उनकी आदत न थी पर बड़ी देर तक हंस-हंसकर वह इधर-उधर की तथा अपनी बीमारी की बातें करते रहे और उसी सिलसिले में बोले :

"और आज डाक्टर ने मुझसे क्या कहा, जानती हो ? कहने लगा, 'सिराज मियां, तुम्हारी जिंदगी वाकई बड़ी लंबी है; वर्ना ऐसी-ऐसी बीमारियों में फंसकर भी तुम निकल आते यह मुमकिन न था।' "

खुदा मालूम, जाने या अनजाने ननद के मुंह से अचानक निकल गया, "तुम्हें क्या होने को है ? मरने वाले ऐसे नहीं होते···"

बस, बात इतनी ही थी। लेकिन मरियम के सामने आकर सिराज मियां बच्चों की तरह रो पड़े थे। कहा, "देखती हो, मैं घर वालों के लिए ही भारी हो गया हूं ! और तो और, बहन भी चाहती है कि मैं मर जाऊं···"

सुनकर मरियम भी रोई, गुलशन भी और बात आखिर आई-गई हो गई। उसके दूसरे दिन ही उन्हें तबादले का आर्डर मिला, और एक दिन बाद वह रायपुर चले गए। वहां हफ्ते-भर रहकर क्या किया, खुदा जाने ! एक सुबह अचानक जगदलपुर के लिए बस में आ बैठे पर वह सफर आधी राह में ही टूट गया। कांकेर पहुंचने पर कंडक्टर ने चाय के लिए उन्हें जगाया, तो उनका सिर एक ओर लटक गया। वह मर चुके थे !

सिराज मियां के निर्जीव शरीर के सामने उस दिन यही कह-कहकर ननद रोती थी कि भैया ने माफी मांगने का भी वक्त नहीं दिया। हाय अल्लाह, इस सदमे को किस तरह ढोऊं !

वही सदमा, चहल्लुम आते-न आते, क्या इस कदर धुंधला गया कि···

किसी की आहट से सहसा मरियम ने पलटकर देखा।

जो शरीर पास आकर ठिठक गया था, उसके घुटनों से लेकर नीचे तक का गरारा उतना ही परिचित था जितनी कि स्वयं गुलशन और उसके शरीर से हर क्षण उठने वाली हल्दी-मसाले की गंध···

"अम्मा !" एक स्वर उभरकर मरियम के पास बैठ गया। गुलशन ही थी। वैसे माहौल में ऐसी फंसी हुई आवाज और किसकी होती ? बाल उसके वीरान-वीरान, कपड़ों पर ढेरों सलवटें, आंखें सूजी हुई और बाएं गाल पर चारपाई के बान के गड़ने का चिह्न···

"चलकर थोड़ा-बहुत खा लो !" पास बैठकर गुलशन ने उठे हुए घुटने पर चेहरा रख लिया और दूसरी ओर देखती हुई यों बोली जैसे [illegible]

कह रही हो।

किसी ने पेट्रोमैक्स उठाकर उसकी जगह बदल दी थी। अब वह ऐसी जगह रख दिया गया था कि उसका प्रकाश नीचे से लेकर ऊपर तक फैल गया था। आंगन या पड़ोस के कई पेड़ जो पहले अंधों की तरह अंधेरे में खड़े थे अब साफ देखे जा सकते थे। न रोकी जाए तो रोशनी कहां-कहां नहीं पहुंचती ?

सचमुच, किसी का कुछ नहीं गया, एकटक अपनी बेटी की ओर देखते हुए मरियम के मन में आया। और तो और, एक हद तक स्वयं उसका अहित भी उस सीमा तक नहीं हुआ जिसके पार उसकी अभागी बेटी गुलशन खड़ी है ! मरियम का जी एकाएक दोहरी करुणा से भर गया। वाकई इस बदनसीब का अब क्या होगा ?

"तू तो बेकार मरी जाती है, मम्मो।" सिराज मियां ने कई बार लाड़ में भरकर कहा था, "आज घर-घर कुंआरी लड़कियां बैठी हैं। मैं कइयों को जानता हूं, जो अनब्याही ही बूढ़ी हो गईं। कम से कम उनसे तो मेरी बेटी के नसीब अच्छे हैं, क्या हुआ जो पान की रस्म के बाद रिश्ता टूट गया। लड़की अच्छी हो, हजार लड़के मिलते हैं…"

एक-दो साल पहले निहायत धूम-धाम से गुलशन के 'पान' हुए थे; लेकिन वह रिश्ता बन नहीं पाया। लड़के वालों ने कोई नुक्स निकालकर संबंध तोड़ लिया और शादी नहीं हो पाई।

वैसे भी सिराज मियां ने सही बात नहीं कही थी। अच्छी लड़की से जो मुराद उनकी थी वह गुलशन के मामले में कतई गलत थी फिर भी मरियम ने कभी विरोध नहीं किया। जैसे मन-ही-मन उस झूठी तसल्ली से आश्वस्त होकर वह बैठ गई हो कि गुलशन में रूप न हो, काली-कलूटी ही सही, लेकिन निश्चय ही अच्छी लड़कियों में उसकी शुमार होनी ही चाहिए।

"और पैसों की फिक्र ? अरे तौबा करो। यह फिक्र उन्हें हो जिनकी कई बेटियां बैठी हैं। हमें क्या, ले-देकर एक ही तो है…और पैसों की कमी मुझे होगी नहीं मम्मो ! देख लेना मैं मर भी गया तो मेरी जेब से पैसे निकलेंगे…"

क्या अपने आने वाले दिनों के बारे में आदमी इस हद तक सही बात कह सकता है ? जनाजे को गुसल देने के लिए जब सिराज मियां के बदन के कपड़े फाड़े गए तो निचली बनियान में से सचमुच तीन सौ रुपये निकले थे। यों थोड़े पैसे घर में भी थे और कफन-दफन उन्हीं से हुआ; लेकिन बाद के सारे कामों में वही रुपये काम आए। खास तौर पर चहल्लुम की दावत में बस्ती के इतने सारे लोग कभी न बुलाए जाते यदि वे तीन सौ न होते।

यों मरियम ने इतने बड़े पैमाने पर दस्तूर निभाने की बात नहीं सोची थी। उसका ख्याल था कि फातिहा के बाद दस-पांच फकीरों को खिला देना काफी होगा; लेकिन ननद का रुख दूसरा था। उसने सीधे तो कुछ नहीं कहा

पर उन गोल-मोल वातों का मतलव यही था कि कस्बे के पुराने वाशिंदे होने के नाते मैया की सभी से मेल-मुलाकात और राह-रस्म थी। उन्हीं के आखिरी काम में सारे लोग न बुलाए गए तो विरादरी के लोग क्या कहेंगे ? वह जैसे ताना था कि जिस शौहर के साथ जिंदगी के इतने वरस गुजारे उसी के आखिरी काम के लिए मरियम कंजूसी करना चाहती है···

"अम्मा !"

अवकी वार मिन्नत-भरे स्वर के साथ ही अपनी वांह पर मरियम को गुलशन का स्पर्श भी महसूस हुआ।

वाहर मरदाने में फिर किसी ने पेट्रोमैक्स उठा लिया था। उसकी आधी रोशनी परदे को लांघकर इधर कूद आई थी और पेड़ों पर का प्रकाश रेशमी खोल की तरह नीचे उतर चुका था। उसी उजाले में मरियम ने देखा कि गुल-शन का सारा चेहरा आंसुओं में भीगा हुआ है और पपोटे थर्रा रहे हैं। उसने धीरे से अपना हाथ वढ़ाया। चाहती थी कि वेटी को सांत्वना दे; पर एक गोला-सा उमड़कर गले में फंस गया। अंत में वड़ी कठिनाई से दांत-होंठ भींचकर उसने अपने को जब्त किया और वोली, "और सव लोगों ने खा लिया ?"

"हां···"

"तुम्हारी फूफी ?"

"वह भी···चलो अम्मा, कव तक भूखी वैठी रहोगी ?"

खनाक !—कुएं के पास वर्तन धोने वाली ने फिर कोई रिकावी पटकी शायद। उससे थोड़ी दूर घूरे पर जख्मी खाने का ढेर लगा हुआ था। इर्द-गिर्द कुत्ते मंडरा रहे थे। मरदाने से रह-रहकर हंसी का शोर उठ रहा था। उन आवाजों से मरियम ने अंदाज लगाया कि खाना हो गया और मास्टर साहव पान दे रहे हैं।

"और यह खाना देखो," अचानक विरयानी की देग में कफगीर डाल कर कोई चिल्लाया। शायद ननद ही थीं। जोर से पुकारकर वोलीं, "ए गुलशन, जरा मास्टर साहव को वुलाना तो !" और फिर वह कफगीर चलाती हुई वड़वड़ाने लगीं, "खुदा जाने वस्ती में दावत नहीं पहुंची या लोग आए नहीं ···और कितनी वार कहा कि डेढ़ मन की विरयानी वहुत होती है, पर मेरी कोई सुने तव न। या अल्लाह, यहां तो एक-चौथाई देग भरी पड़ी है ! यह कौन खाएगा ?"

गुलशन चुपचाप उठकर वहां से चली गई। उसके लौटते हुए शरीर को देखते-देखते मरियम का मन फिर करुणा से भर आया।

जव गुलशन आंखों से ओझल हो गई तो एक वार देग से फिसलती हुई

उसकी निगाह घूरे पर टिक
थोड़ी देर वह लगातार उस
अकेलों के लिए तीन सौ ७५
किसी ख्याल को जबरदस्ती

'खुदाया, मुझ लालची
में मैं कभी-कभी अंधी हो ज

आने वाली दुनिया

देर हो चुकी थी, इतनी कि निर्मल के लौट आने की जरा भी आशा नहीं थी तो भी जैसे मुझे विश्वास नहीं हो रहा था। किसी पिक्चर हाउस में चलती फिल्म के बीच से दो मिनट के बहाने उठकर कोई आध-पौन घंटा न लौटे तो उसका और क्या अर्थ हो सकता है ?

लिहाजा अब की बार मैंने पूरे निर्द्वन्द्व भाव से उस औरत का हाथ दबा दिया इतने जोर से कि उसके दुबले-पतले हाथ की हड्डियां बुरी तरह चुभने लगीं और क्षण-भर बाद मेरी पकड़ अपने-आप ढीली हो गई।

"अब वह आएगा नहीं !" वह धीरे से फुसफुसाकर बोली। शायद मेरी मन:स्थिति को भांपकर ही उस औरत ने मुझसे दृढ़तापूर्वक कहा था। और फिर पहली बार अपनी देह का कोण मेरी तरफ को बना लिया।

"कौन ?"

"आपका दोस्त।"

"आप कैसे जानती हैं ?"

"मैं जानती हूं।"

यह सोचकर कि बहस करना बेकार भी है और बेमौका भी, मैं खामोश हो गया। हाल में बदस्तूर अंधेरा था, खामोशी भी, और लोग तन्मय होकर पिक्चर देख रहे थे। बालकनी की उस क्लास में भी, जहां हम लोग बैठे थे, अंधेरा था। फिल्म की लोकप्रियता को देखते हुए भीड़ कम थी। हम लोगों ने जानबूझकर बालकनी का ऐसा कोना चुना था जहां तक प्रायः मैटनी शो में लोग कभी नहीं भर पाते। आज भी ऐसी स्थिति थी। हमारे आसपास की दो कतारें खाली थीं और तीसरी कतार में भी कालेज के तीन-चार विद्यार्थी 'ही बैठे थे लेकिन मैं बराबर शंकित बना रहा। जाने क्यों मुझे हर क्षण लगता कि उन विद्यार्थियों या हमसे थोड़ी दूर पर बैठी कुछ महिलाओं का ध्यान पिक्चर से ज्यादा हमारी तरफ है और हमारी हर हरकत पर आंख गड़ायी जा रही है।

पहले भी यही हुआ था। जब हम तीनों ने हाल में प्रवेश किया तो, हालांकि बत्तियां बुझ चुकी थीं और न्यूजरील चल रही थी लेकिन मुझे लगा था जैसे बालकनी में बैठे सारे लोगों की आंखें हम तीनों पर ही जम गई हैं और कई जोड़ा आंखें कम से कम मुझे साफ-साफ पहचान रही हैं।

"और निर्मल, किसी ने पहचान लिया तो ?" आज दोपहर को जब यह प्रस्ताव लेकर निर्मल आया था, तो सबसे पहले यही प्रश्न मैंने उससे किया था।

"कौन पहचानेगा ?"

"कोई भी हो सकता है···कोई मित्र, परिचित, मुलाकाती या···"

"जरूरी है कि कोई परिचित पिक्चर हाउस में ही मिल जाए ? फिर आज कोई नेता भी तो आ रहा है न ! बहुत-से बेवकूफ तो उसी में फंसे होंगे।"

"जरूरी न सही," मैंने धीरे से कहा, "लेकिन नामुमकिन भी तो नहीं ! निर्मल, मेरी मानो तो···"

"देख यार," अचानक धीरज छोड़कर निर्मल ने बीच में ही बात काट दी थी। उसका चेहरा तमतमा गया था और मैं जानता था कि वह उस नुक्ते पर पहुंच गया है जहां जरा-सा विरोध करते ही वह मुझ पर उबल पड़ेगा और एक के बदले दस सुनाने लगेगा कि मैं कायर और बुजदिल हूं, कि मुझे कोरी बातें करना ही आता है और मैं चाहता हूं कि बिना किसी प्रकार का रिस्क लिए ही मुझे फायदे हासिल होते रहें।

"मैंने जो प्रोग्राम बना लिया है, वह तो हर हाल में तय है।" उसने कहा था, "अब बैक आउट करने का सवाल इसलिए भी पैदा नहीं होता कि मैं उस औरत से वादा कर आया हूं। वह सीधे पिक्चर हाउस पहुंच रही है। मुझे तो दो टूक जवाब चाहिए। एक वाक्य में साफ-साफ बता कि तू साथ दे रहा है

या नहीं…।"

मैं पसोपेश में पड़ा निर्मल के चेहरे को ताकता रह गया था। अजीब स्थिति थी कि मैं निर्मल को नाराज़ भी नहीं करना चाहता था और खुश करते हुए डर भी रहा था। इस अवसर को छोड़ना भी नहीं चाहता था पर लाभ उठाने की हिम्मत भी नहीं हो रही थी। निश्चय ही वह हिचक निर्मल के लिए ही नहीं, खुद मेरे लिए भी नयी थी। असल में इस परिवर्तन का पता निर्मल को नहीं है। उसे कुछ भी बताए बिना इधर मैं सारी मानसिक यातना अकेले और चुपचाप ही भोगता रहा हूं…

"बेटा, यह बड़ा और औद्योगिक शहर है, कोई गांव या कस्बा नहीं।" निर्मल ने हिम्मत बंधाई थी, "यहां कौन भकुआ तुझे देखने के लिए बैठा है? फिर अगर किसी ने पहचान भी लिया तो किसे पता कि हम लोग कोई औरत फंसाकर ला रहे हैं। दो भले आदमियों के साथ अगर कोई शरीफ औरत पिक्चर हाउस में बैठी हो तो जाहिर है कि औरों के लिए वह दोनों में से किसी एक की बीवी होगी।

मेरे पास इस बात का कोई जवाब नहीं था।

"लेकिन औरत कौन है?" अंत में नीम-रजामंदी के बाद मैंने डरते-डरते पूछा था।

"कोई भी हो। तुझे आम खाने से मतलब है कि पेड़ गिनने से?"

"फिर भी?"

"फिर भी क्या?" निर्मल ने पहले तो आंखें तरेरकर मेरी ओर देखा फिर अपनी आवाज को नर्म बनाकर उसने जवाब दिया था, "वही कालोनी वाली।"

मैं फिर चुप हो गया। सच बोलूं, तो एक क्षण के लिए मैं अत्यंत रोमांचक कल्पना में डूब गया था। इधर कुछ दिनों से निर्मल जब-जब मिलता, एक नये रोमांस का अक्सर जिक्र किया करता था। यह वही कालोनी वाली औरत थी। यों तो हम दोनों प्रायः एक-दूसरे को अपने-अपने रोमांस के झूठे-सच्चे किस्से सुनाया करते थे लेकिन हम दोनों में ज्यादातर झूठ मैं ही बोला करता हूं। निर्मल केवल बातों में ही तेज नहीं है। उसकी रोमांस की अधिकांश कहानियां मेरी तरह कल्पित भी नहीं होतीं। लिहाजा एक दिन आकर जब उसने स्पष्ट घोषणा कर दी कि उस कालोनी वाली औरत के मामले में सफलता मिलने में उसे अधिक देर नहीं है तो मुझे कतई आश्चर्य नहीं हुआ।

कभी-कभी मुझे लगता है कि हम लोग दो दुनियाओं में रहते हैं। एक घर की और दूसरी बाहर की। घर को बाहर से काटकर रखते हैं और बाहर को घर से। यही बात नितांत व्यक्तिगत स्तर पर भी लागू होती है। अपने भीतर को बाहर से अलग रखते हैं और बाहर को भीतर से।

पहले हम दोनों शहर के एक सबसे बड़े खर्चीले और आधुनिक क्लब के सदस्य थे। वहां लोग अपनी-अपनी सुंदर पत्नियों के साथ पहुंचते थे, खूब शराब पी जाती थी और अधिकांश लोग सौ फीसदी मॉडर्न थे—हमारी तरह अधूरी-एकांगी आधुनिकता और अधकचरी नैतिकता वाले नहीं। लेकिन कुछ ही दिनों के बाद निभाना कठिन हो गया। जैसे ही यह आभास हुआ कि हमारी दोनों दुनियाओं में टकराव हो रहा है अथवा भीतर-बाहर के मिल जाने या एक हो जाने का खतरा है, हमने क्लब छोड़ दिया।

"असल में वहां कुछ मिलता नहीं, आप सिर्फ ठगे जाते हैं।" निर्मल ने क्लब छोड़ने की यह दलील रखी थी और मैंने भी उसका समर्थन किया था। एक तर्क और था कि वैसे ही अपने परिचय का दायरा क्या कम है। निर्मल शहर का खासा प्रतिष्ठित वकील है और मैं एक बहुत बड़ी और मशहूर फर्म का अफसर। मुमकिन है कि बहुत जल्द हममें से कोई एक असेंबली का चुनाव लड़ ले—बाहर से तो सेवा-भाव से लेकिन भीतर से इसलिए कि आज के समाज में इससे एक बिलकुल दूसरी तरह की प्रतिष्ठा मिलती है। कई चीजें करनी पड़ती हैं, जैसे हम लोग नियमपूर्वक अखबार पढ़ते हैं इसलिए नहीं कि हमारी दुनिया बड़ी हो गई है या आने वाली दुनिया की कोई चिंता हमें ऐसा करने पर मजबूर करती हो बल्कि इसलिए कि अखबारों की दुनिया से अलग रहने वाले आदमी को आज के पढ़े-लिखे समाज में नीचा देखना पड़ता है...

बहरहाल, हम लोग फिर वहीं लौट आए जहां से चले थे। अर्थात् उस खतरे से दूर जहां अपनी दुनिया के गिर्द उठी किले जैसी दीवारें हर क्षण ढहती-सी लगती थीं। अब जब जी चाहता है, उस सुरक्षित स्थिति से बाहर निकल आते हैं, परिचित-अपरिचित चेहरों की तलाश करते हैं और उन किस्सों में इजाफा करते हैं जिन्हें सुनाने के लिए हम विवश हैं...

आज दोपहर को यही हुआ। निर्मल सीधे कोर्ट से ही उठ आया था। न कोई पूर्व सूचना और न प्रोग्राम। बिल्कुल अचानक आकर उसने पिक्चर का यह प्रस्ताव धर दिया जिससे जाहिर है कि अंत में मुझे तस्लीम करना पड़ा। यों आखिर तक मेरा डर बिल्कुल कम नहीं हुआ था। मैं उन दोनों के साथ होते हुए भी बार-बार यों कटा-कटा और दूर-दूर बना रहा मानो अकेली औरत ही अपरिचित न हो, निर्मल से भी नयी-नयी मुलाकात हुई हो। हॉल में भी सबसे पहले मैंने ही प्रवेश किया था। ईश्वर जानता है कि मेरी यह जहनी हालत बराबर बनी रही बल्कि तब और ज्यादा बिगड़ गई जब निर्मल ने उस औरत को हम दोनों के बीच बैठा लिया। जाने कैसे निर्मल यह बिलकुल भुला बैठा था कि बालकनी में और भी लोग हैं और सारी बत्तियां बुझी होने के बावजूद इतना अंधेरा तो नहीं था कि उसके हाथों की बेफिक्र हरकतें दूसरों की नजर

में न आएं।

लेकिन थोड़ी ही देर में वह शायद थक गया। अपने दोनों हाथ समेटकर उसने अपनी गोदी में रख लिए और सिर आराम से टिका लिया। थोड़ी देर वह पिक्चर देखता रहा फिर मेरी तरफ झुककर उसने फुसफुसाते हुए धीरे से पूछा, "और तुम क्यों चुप बैठे हो?"

"क्यों?" घबराहट और अनिर्णय के मारे मुझसे ठीक जवाब देते नहीं बना, "पिक्चर देख रहा हूं।"

मेरा ख्याल है कि उस ऊटपटांग जवाब पर निर्मल मुझे थोड़ी देर घूरता रहा फिर उस औरत के पास झुककर उसने मुझे सुनाते हुए कहा था, "भई, इनसे भी बात करो। ये मेरे बहुत ही जिगरी दोस्त हैं..."

एक नहीं, दो-दो बार मैंने आंखें गड़ाकर अपनी कलाई की घड़ी देखी—अब तक केवल एक घंटा गुजरा था और इंटरवल में अभी भी आध घंटे की देर थी।

वैसे अब तक मुझे पूरा विश्वास हो गया था कि निर्मल नहीं लौटेगा। वह सचमुच खिसक गया। मुमकिन है कि वह वापस सीधे बार ही चला गया हो और ईमानदार वकील की तरह काम करने लगा हो। लेकिन भला अब तक मैं निर्मल की प्रतीक्षा क्यों करता रहा? निश्चय ही मुझसे ज्यादा समझदार तो यह औरत है जिसने पहले ही कह दिया था कि निर्मल आएगा नहीं। और कायदे से मुझे तो उसी वक्त समझ जाना चाहिए था जब वह ऊब-थककर पिक्चर देखने लगा था या कम से कम तब जब बिना किसी भूमिका या बातचीत के वह एकाएक उठ खड़ा हुआ था।

"क्यों?" और मैं बेतरह चौंका था।

"अभी, दो मिनट में आता हूं।"

"कहां से?"

"बस, आता हूं।"

कहकर वह फुर्ती से बाहर की ओर बढ़ने लगा था। पास से गुजरते हुए उसने धीरे से मेरा हाथ भी दबा दिया था लेकिन बड़ी देर तक उसका अर्थ मेरी समझ में नहीं आया था। पहली बार अर्थ तब खुला था, जबकि निर्मल के जाने के बाद उस औरत की देह का कोण फिर मेरी ओर बनने लगा था और कुछ क्षणों बाद मैंने देखा कि उसके कंधे का पल्लू निहायत बेपरवाही के साथ मेरी गोद में गिर गया है।

फिर जाने क्या हुआ कि सारी हिचक भूलकर अचानक मेरी आंखें बंद हो गईं। क्षण-भर को लगा जैसे खो गया हूं। ऐसी स्थितियों में मेरे साथ यही

होता है। एक पुरानी मनःस्थिति आकर सहसा मुझे घेर लेती है—वही जिससे मेरा आज का नहीं बरसों पुराना संबंध है। वैसे बहुत अर्से की बात नहीं है—ज्यादा से ज्यादा किशोर-काल या जवानी के आरंभिक दिन होंगे जब पिता की पुरानी संदूकों में से एक अलबम मेरे हाथ लग गया था। मैं दावे से कह सकता हूं मरने से पहले मेरे पिता ने कभी नहीं सोचा होगा कि जिस अलबम को उन्होंने सात संदूकों के नीचे छिपाकर रखा था और जिसकी वसीयत भी उन्होंने नहीं की थी उस पर एक दिन अनजाने मेरे हाथ पड़ जाएंगे या वह मेरे विरसे में आ जाएगा।

बहरहाल, उस अलबम को देखकर मैं दंग रह गया था। उसमें ऐसी अश्लील दुनिया की तस्वीरें थीं जिसके विषय में तब भी जिज्ञासा तो बहुत होनी थी लेकिन जो अभी मेरे लिए आने वाली थी। और पहले दिन ही नहीं, बाद के एकांत में भी जब कभी उस अलबम को मैं हाथ लगाता, एक क्षण को तो रोमांच हो आता लेकिन फिर अजीब-सी कैफियत होती थी—यह जानते हुए भी कि जो दुनिया पल-भर बाद आने वाली है उससे मैं परिचित ही नहीं, अनुभवी भी हूं। जब तक वह आंखों के सामने खुलकर ठहर न जाए, लगातार अविश्वास होता रहता था—सिर्फ अविश्वास ही नहीं, एक थ्रिल और दशहत-भरा अविश्वास...

लगा, मेरी गोद में अपने कंधे का पल्लू ढलकाकर बैठी वह औरत भी मानो ऐसा ही अलबम है जो मुझे किसी भी पल खींचकर एक और संसार में ले जाएगी। वैसे पिक्चर बराबर चल रही थी, मैं भी स्क्रीन की तरफ लगातार देख रहा था लेकिन कोई अगर यह पूछता कि मैंने क्या देखा तो मेरे लिए जवाब देना सचमुच मुश्किल था। जाने क्यों, निर्मल के जाने के बाद मेरी हिचक कम हो गई थी। अब मैं पहले की अपेक्षा अपने को अधिक सुविधाजनक स्थिति में महसूस कर रहा था। निर्मल की प्रतीक्षा की बात तो दूर रही, मैं उसके बारे में सोच तक नहीं रहा था और यह सोचकर खुशी हो रही थी कि अब मैं पहले की बनिस्बत ज्यादा इत्मीनान के साथ बैठा हुआ हूं। यहां तक कि पिछली कतारों की तरफ आध घंटे से मेरा ध्यान ही नहीं गया था।

"कुछ पीओगी तो नहीं?" अपना हाथ रोककर मैंने उससे सूखते गले से पूछा।

"क्या?"

"कुछ भी।"

दरअसल पानी की जरूरत मुझे महसूस हो रही थी।

"नहीं।" मेरे कंधे पर सिर टिकाए-टिकाए उसने लापरवाही से जवाब दिया। मैं गेट की तरफ देखने लगा कि कोई होटल-वोटल वाला लड़का दिखे

तो उससे पानी मंगाऊं।

"अब भी आपको उम्मीद है कि आपके दोस्त लौट आएंगे ?" उसने हंस-कर पूछा।

"नहीं। मैं उसे नहीं देख रहा था।"

"फिर किसे देख रहे थे ?"

मैं चुप रहा।

"और आप भी लक्ष्मीगंज में रहते हैं ?"

"नहीं, शांतिपुरा।"

"घर खाली है ?" एक क्षण ठहरकर उसने धीरे से पूछा। मैंने वताया कि नहीं है तो वह कुछ देर तक एकटक मेरी तरफ देखती रही।

"गाड़ी लाए हैं ?"

मैंने फिर सिर हिला दिया। गाड़ी मैंने जान-बूझकर छोड़ दी थी।

"फिर ?" मुझे तोलते हुए उसने वेझिझक कहा, "पिक्चर के वाद कहां चलेंगे ? इस शहर में तो ऐसी कोई जगह भी नहीं कि···"

"और आपके यहां कौन-कौन हैं ?" मैंने उसकी वातचीत वीच में ही काटते हुए पूछा।

"पति तो दफ्तर गए हैं। घर पर वच्चे हैं।"

सुनकर दो-एक क्षण मैं ऐसे चुप हो गया जैसे उस औरत के पति और वच्चे होने की वात अनोखी हो अथवा जैसे मुझे इसका पता ही न हो।

"कितने वच्चे हैं ?"

"तीन। वड़ा वच्चा आठ वर्ष का है और सवसे छोटा चार का···"

"क्या आप अक्सर···मेरा मतलव है कि···"

कहते-कहते वाक्य अधूरा छोड़कर मैं स्वयं रुक गया। जो पूछना चाहता था उसके लिए एकाएक जवान लौट ही नहीं पा रही थी। कुछ देर वाद मैंने एक वार फिर उसे जांचती आंखों से देखा—उस औरत के कपड़े, उन्हें पहनने का सलीका, आधुनिक ढंग के एकाध जेवर, चेहरा या उसमें पैवस्त संस्कारों की छाप—किसी से भी नहीं लगता था कि वह किसी अभावग्रस्त या मामूली घराने की है।

और इसीलिए जव इंटरवल के करीव-करीव उसने अपने पति का नाम लिया तो मुझे विल्कुल आश्चर्य नहीं हुआ। हां, मैं चौंका जरूर, चौंका ही नहीं बुरी तरह चौंका क्योंकि उन महाशय से मैं परिचित भले न होऊं, उन्हें मैं अच्छी तरह जानता था।

मैं कैसे कहूं कि चाहे जिस लिहाज से देखें वह तो निर्मल या मुझसे भी वेहतर हैं—कई गुना वेहतर। और यही सोचकर भीतर का भय कई गुना वढ़

गया। जिस महिला के पास बाहर से सब कुछ हो, जो न प्रेम के लिए आई हो और न पैसों के लिए, वह क्योंकर इतनी दूर निकल सकती है ?"

६

थ्रिल !

पिक्चर हाउस से बाहर कॉरीडोर में आते ही यह शब्द फिर मेरे जेहन में आ टकराया। केवल आकर गुजर गया होता या तैरकर निकल जाता तो कोई बात न थी। मगर वह तो जैसे रबर की गेंद की तरह बार-बार एक ही जगह पटखनी खा रहा था।

बालकनी की तीन-चौथाई भीड़ अब कॉरीडोर में आकर फैल गई थी। इंटरवल में यही होता है ! बत्ती जलते ही हॉल के लोग एकाएक उमड़कर चाय-कोकाकोला की दुकानों या बाथरूमों के गिर्द जुट जाते हैं, सिगरेट पीते हैं, गप लगाते हैं या किसी न किसी बहाने दूसरों की पत्नियों को घूरते रहते हैं।

दो कोकाकोला का ऑर्डर देकर मैं भी उस भीड़ में शामिल हो गया। उस भलीमानस ने बाहर निकलने से इनकार कर दिया था, सो एक बोतल उसके लिए अंदर भिजवा दी और दूसरी बोतल का स्ट्रा मुंह में लेकर महिलाओं को घूरने लगा। खासकर उन महिलाओं को घूरते हुए मुझे ज्यादा थ्रिल महसूस हो रही थी जो लेडीज बाथरूम के सामने क्यू में खड़ी थीं…

थ्रिल ! हर ऐसी बात पर थ्रिल जो दूसरों से हटकर हो…

"हटो जी, यह हो ही नहीं सकता !"

पत्नी ने कितनी बनावटी नाराजगी और स्वाभाविक अविश्वास के साथ कहा था। दरअसल, दूसरों की पत्नियों को देखते हुए मुझे अपनी पत्नी—और अपनी पत्नी की याद आते ही उसकी उस रात वाली बात याद आ गई। उसने इन्हीं दृढ़ शब्दों में मेरा विरोध किया था लेकिन फिर यों मुस्कराने लगी थी जैसे आश्चर्य-पुलक-भरे स्वर में अपने को ही विश्वास दिलाना चाहती हो—अजी नहीं !

यों हम लोगों के लिए यह नयी बात नहीं। ऐकांतिक क्षणों में हम लोग प्रायः एक ही सेक्स के दोस्तों की तरह ऐसी बातें करते हैं, जो ज्यादा से ज्यादा रोमांचक हों—खास कर इधर करने लगे हैं। ब्याह के पिछले कुछ वर्ष इसकी जरूरत नहीं थी। मैं जानता हूं कि पढ़ी-लिखी आधुनिका हो या अनपढ़-दकियानूस बीवी—पहले कुछ दिन बीवी रहती है फिर वह दोस्त हो जाती है या दुश्मन ! मैंने इस मामले में और भी चालाकी से काम लिया है। थोड़े ही दिनों

में पत्नी को दोस्त की तरह कान्फीडेंस में लेकर मैंने अपने पिछले सारे अफेयर्स ईमानदारी से खोलकर रख दिए थे। सुनकर पहले तो वह भौचक रह गई थी लेकिन फिर धीरे-धीरे वह उन्हीं बातों में रस लेने लगी। यहां तक कि बाद में तो मुझे आश्चर्य होने लगा कि यह कैसी पत्नी है जिसे ईर्ष्या ही नहीं होती। लेकिन आदमी का मन ही शायद उसका सबसे बड़ा और अविश्वसनीय दुश्मन होता है। कई बार आप स्वयं नहीं जानते कि आप क्या चाहते हैं। जिस धुंधली-धुंधली कोहरे में ढकी आकृति जैसी इच्छा में आप खोए होते हैं वह जब स्पष्ट होकर उभर आती है तो कई बार आप उसी से आहत होते हैं।

अक्सर हम लोग रात को लौटते समय मित्रों या परिचितों में से किसी न किसी 'बुरी' औरत की चर्चा करते—केवल चर्चा ही नहीं विस्तार से एक-एक नुक्ते पर बात होती और प्रायः उसी चर्चा के उत्कर्ष या चरम बिंदु पर हमारा प्रेम आरंभ होता। ऐसे जैसे सर्दियों के जमाने में खोपरे का तेल इस्तेमाल करने के लिए शीशी को धूप दिखाना जरूरी होता है···

शायद इसी आंच देने की अगली और सबसे ज्यादा शॉकिंग कड़ी थी वह खबर जो मैंने उस रात अत्यंत सहज भाव से पत्नी को सुनाई थी। बताया था, अमेरिका जैसे मुल्क ने तो वैवाहिक जीवन में बढ़ने वाली एकरसता और तलाक के संकट को देखते हुए एक बिलकुल नया उपाय ढूंढ़ निकाला है—स्वापिंग। वहां विवाहितों के कुछ ऐसे क्लब हैं जिसके सदस्य आपस में बेहद मुक्त भाव से पत्नियां और पति बदलते हैं—केवल विवाहित जिंदगी की मोनोटोनी तोड़ने के लिए नहीं, ज्यादा से ज्यादा फन, किक्स और थ्रिल के लिए···

और जिसे सुनकर पहले तो पत्नी ने नाराजगी के साथ अविश्वास भी प्रकट किया था लेकिन फिर दो-एक दिन बाद ही नाराजगी और अविश्वास दोनों काफूर हो गए थे। उसने सिर्फ विश्वास ही नहीं किया, जिक्र आने पर हंसकर रस भी लेने लगी थी।

"साले, ऐश करते हैं।" कई रोज बाद फिर उसी संदर्भ को छेड़ते हुए मैंने जलकर कहा था। जाने हम दोनों को क्या हो गया था कि घुमा-फिराकर हममें से कोई न कोई उसी प्रसंग को ले बैठता था।

"कौन ऐश करता है ?"

"ये ही लोग···"

पत्नी मुस्कराने लगी थी।

"अफवाह है कि यहां भी कुछ जगह ऐसे ही क्लब हैं···"

"यहां ?" उसकी जैसे सांस ही रुक गई हो।

"हां, एक-दो महानगरों में···"

"ओह ! मैंने समझा जैसे तुम अपने नगर के बारे में बता रहे हो।"

"अरे, यहां कहां !" मैंने निराश स्वर में इस दकियानूस नगर के छोटे और पिछड़ेपन को गाली दी थी।

फिर उसे देखते हुए एक छोटे-से क्षण में जाने मुझे क्या सूझा कि मैंने झपटकर पूछा था :

"एक बात कहूं ?"

"कहो···"

"बुरा तो नहीं मानोगी ?"

"नहीं !"

"ऐसा कोई क्लब···"

मैंने अटक-अटकर इस अधूरे जुमले को दो-तीन बार दुहराते हुए कहा, "ऐसा कोई क्लब अपने यहां भी होता तो कितना अच्छा होता, नहीं ?"

पता नहीं, मैं क्या सुनना चाहता था। ख्याल है कि पत्नी को मेरी इस बात पर बिगड़ पड़ना चाहिए था। शायद इसीलिए अपने चेहरे की भाव-भंगिमा ही नहीं, बात के टोन को भी मैंने मजाक और अगंभीरता का पुट दिया था। लेकिन फिर यह देखकर धक-सा रह गया कि न तो उसके चेहरे पर कोई तनाव आया और न नाराजगी का कोई भाव। एक पल मुझे मुस्कराती आंखों से घूरने के बाद धीरे से हंसकर वह उठ खड़ी हुई थी···

तब, अजीब बात है कि स्वयं कुरेद-कुरेदकर उकसाने वाले मुझको यों लगा था या साफ कहूं तो तब से निरंतर लग रहा है जैसे जली हुई मोमबत्ती को आंच देकर पिघलाने और स्थापित करने के चक्कर में, उसके पिघले हुए मोम ने स्वयं मेरी ही उंगली जला दी हो···

मैंने कहा न, आदमी का सबसे बड़ा दुश्मन यह अविश्वसनीय मन होता है और आप बिल्कुल नहीं जान सकते कि उसके बारीक रेशों पर कितना दबाव भीतर का पड़ रहा है और कितना बाहर का···

सवा चार !

नीचे से चाय और खोमचे वालों की आवाजें अब काफी साफ-साफ सुनाई दे रही थीं। शायद मैंने पहले ध्यान नहीं दिया—पिक्चर हाउस में रिकार्डिंग कभी की बंद हो चुकी थी। महिलाएं अब नहीं थीं, केवल कुछ सिगरेट पीने वाले रह गए थे और कॉरीडोर पहले की अपेक्षा काफी खाली था।

"अब ?" कोकाकोला की खाली बोतल लौटाते हुए मुझे फिर निर्मल की याद आई तो मुझसे मुस्कराया नहीं गया। यों अब आश्चर्य की जरूरत नहीं है। मैं जानता हूं कि निर्मल क्यों लौट गया। जानता पहले से था लेकिन आज पक्का विश्वास हो गया कि औरतों का शरीर दूर से बहुधा भ्रम पैदा करता है। अक्सर दूर से वे जैसी दिखाई देती हैं, पास से या बहुत पास से वैसी नहीं होतीं !

दो मिनट से भी कम समय में निर्णय लेकर मैंने कोकाकोला वाले का बिल अदा किया और एक पल को भी सोचे बिना जीने से सीधे नीचे उतर आया। पत्नी को गुमान भी न होगा कि अपना चैम्बर छोड़कर इस वक्त मैं किसी दूसरी औरत के साथ पिक्चर देख सकता हूं—ठीक वही स्थिति जो निर्मल की पत्नी की होगी या इस औरत के पति की है या…

और मुझे ही क्या पता कि…

वर्षों हो गए, पत्नी पर संदेह करने जैसी अच्छी बात मेरे मन में भूले से भी नहीं आई थी। शायद आज भी जो है, वह संदेह नहीं, या तो आश्चर्य है या भय! आश्चर्य इस पर कि पहनाव-उढ़ाव हो या बातचीत, अपना रख-रखाव, सिंगार-पटार हो या मैत्री, इधर पत्नी में अभूतपूर्व परिवर्तन देख रहा हूं। उसमें अपने प्रति एक ऐसी सचेतता आ गई है जो ब्याह के आरंभिक दिनों में भी नहीं थी। शायद यही भय है जिसने मुझमें भी इधर परिवर्तन ला दिया है। जाने क्यों, लाख चाहने पर भी पत्नी की उस दिन वाली मुस्कराहट नहीं भूलती। जितना ही जेहन से निकाल फेंकना चाहो उतनी ही परेशानी होती है। जब तक एक कोने से उस मुस्कराहट को खुरचता हूं, बेंत के रोल की तरह वह दूसरे कोने से उछल आती है…

"सचमुच, गाड़ी ले आया होता तो अच्छा था'।" नुक्कड़ पर आकर मुझे लगा। पिक्चर हाउस से उतरते वक्त यह बिलकुल तय नहीं किया था कि मुझे कहां जाना है। अभी भी तय नहीं है। लौटकर मैं चैम्बर जाना भी चाहता हूं और नहीं भी। एक बार मन होता था कि बिलकुल अप्रत्याशित और अनपेक्षित ढंग-से सीधे धड़धड़ाता हुआ घर जा पहुंचूं या पत्नी को जा पकड़ूं, लेकिन…

सामने कुछ ही दूरी पर चौराहा दिखाई दे रहा था। उसमें से एक रास्ता चैम्बर को जाता है और दूसरा सीधे घर को। जल्द ही वह स्थिति आने वाली है जब कि दो में से कोई एक मुझे चुनना पड़ेगा लेकिन जैसे-जैसे दूरी कम होती जाती है यों घबराहट होती है जैसे मुझे कोई बहुत बड़ा और अहम निर्णय लेना हो। चैम्बर का ध्यान आते ही मन में वह मानसिक यातना जी उठती है जिसमें से इधर मैं अकेले ही गुजरता रहा हूं और घर या आने वाली अपनी दुनिया की कल्पना करते ही दहशत होती है—ऐसी दहशत, जिसमें अनजाने ही कहीं भी थ्रिल छिपा होता है△

•••